

संस्कृतान्तिका

समय-समाज के संदर्भों की शोध-पत्रिका

संपादक

डा. वज कुमार पाण्डेय

डा. दीपक कुमार राय

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I

दिल्ली-110091

वर्ष : 2 अंक : 2 □ अप्रैल 2009

सैद्धान्तिकी

सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

संरक्षक:	डा. नवल किशोर डा. पी. एन. सिंह डा. एस. त्रिपाठी
परामर्श:	डा. गिरीश मिश्र डा. आर. एन. कुमार डा. जी. पी. ओझा राम लोचन सिंह
संपादक मंडल:	डा. शशिकांत राय डा. कृष्ण कुमार सिंह डा. अनिल कुमार सिंह
प्रबंध संपादक:	राम मुरारी
संपादन सहयोग:	एहतेशाम अहमद
आवरण:	दलबीर सिंह
साज-सज्जा :	मो. सलीम अंसारी

संपादकीय सम्पर्क:

351, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-43015270, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com

मूल्य : रूपये 150.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट :

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

विगत शताब्दी के सत्तर के दशक में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो नये आविष्कार हुए उससे समाज में नया इन्कलाब आया। कम्प्यूटर, इन्टरनेट, सूचना प्रौद्योगिकी और इलक्ट्रॉनिक के आविष्कार ने दुनिया को नया चेहरा प्रदान किया। दुनिया वैश्विक हो गई। ज्ञान का ऐसा विस्फोट हुआ कि एक कमरे में बैठकर दुनिया की सभी चीजों को देखा जा सकता है। दुनिया के बड़े-बड़े पुस्तकालयों की पुस्तकें एक जगह से दूसरी जगह क्षणभर में ही भेजी जा सकती हैं। इन नये आविष्कारों ने नये रोजगार के अवसर मुहैया कराये हैं। इन आविष्कारों ने शिक्षा के स्वरूप को भी बदल दिया है। परम्परागत शिक्षा रोजगारोन्मुख नहीं रह गई है। फलतः ऐसे विषय जो ज्ञान और विद्वान बनने के लिए पढ़े जाते थे उनका महत्त्व घट गया है। दर्शनशास्त्र और साहित्य पढ़नेवालों की संख्या में गिरावट आयी है।

पहले ऐसे लोग ज्ञानी माने जाते थे जो सभी विषयों के बारे में जानकारी रखते थे लेकिन आज स्पेशलिस्ट का जमाना है। हमारे देश में पुराने जमाने के वैद्यजी सभी रोगों की दवा करते थे और सभी रोगों की जानकारी रखने का दावा करते थे। आज शरीर के अलग-अलग अंगों के रोगों के जानकार अलग-अलग लोग होते हैं जिसे हम खास अंग के रोग के विशेषज्ञ की संज्ञा देते हैं। आज दुनिया भर में शिक्षा का स्वरूप बदल रहा है और स्कूली शिक्षा के साथ ही विशिष्ट ज्ञान की और छात्रों को उनकी रूचि के अनुसार पढ़ने की बात कही जाती है।

सुकरात को चरवाहों ने घेरकर एक दिन पूछा था कि—ऐ! सुकरात तुम किस बात में हम लोगों से बड़े हो? हम लोगों को भी दो पैर, दो बाहें, दो आँखें, दो कान हैं। बताओ तुम हम लोगों से किस बात में अलग हो? सुकरात ने जवाब दिया था—मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता लेकिन तुम लोग जो कुछ नहीं जानते, समझते हो कि हम सबकुछ जानते हैं। यह दुनिया इतनी बड़ी है, इसमें असंख्य ऐसी चीजें हैं, जिससे सैकड़ों बार जन्म लेने पर भी उसे नहीं जाना जा सकता है। और सूत्ररूप में उसने बतलाया था—“अज्ञानता का ज्ञान ही ज्ञान है।”

ज्ञान के विस्फोट के इस युग में रिसर्च का महत्त्व बढ़ गया है। उच्च शिक्षा में नियुक्ति के लिए, प्रोन्नति के लिए छोटी और बड़ी अवधि के शोधकार्य करने और शोधपत्रों को लिखने और उसे छपवाने की अनिवार्यता बढ़ गई है। हमारे देश में शोध की प्रचलन हाल की बात है। विगत शताब्दी में 60 के दशक में इसकी शुरुआत हुई थी जो आज उच्च शिक्षा में कार्य करने वालों के लिए अनिवार्य कर दिया गया है। इस अनिवार्यता ने शोध पत्रों के गुणवत्ता को प्रभावित किया है।

“सैद्धान्तिकी” गुणवत्ता की दृष्टि से ऊँचाई प्राप्त करे हम इसके प्रयास में लगे हैं। यह तीसरा अंक आपके हाथों में है। आप (पाठक) ही इसके सबसे बड़े जज हैं। हम अपने अब तक के प्रकाशित तीन अंकों में कितना सफल हो सके हैं—हम आपसे ही जानना चाहेंगे। हम चाहते हैं कि आप पत्र लिखकर, फोन करके और यदि संभव हो तो मिलकर हमें बतायें। आपका सुझाव, आपकी प्रतिक्रिया हमारे लिए सबक होगी।

—ब्रज कुमार पांडेय

इस अंक में

राजनीति विज्ञान

वर्तमान सदी की भारतीय नारी-प्रगति एवं चुनौतियां : डॉ. अनिल कुमार सिंह

7-13

राजनीति विज्ञान

नक्सलवाद का भविष्य : डॉ. विद्याभूषण श्रीवास्तव

14-16

राजनीति विज्ञान

बिहार की राजनीति में जाति की भूमिका—एक विश्लेषणात्मक अध्ययन : हरिनारायण प्रसाद चौरसिया

17-23

राजनीति विज्ञान

संवैधानिक संरक्षण एवं मानवाधिकार सुरक्षा—जनजातियों पर इसका प्रभाव : डॉ. शैलेन्द्र कुमार सिंह

24-28

हिन्दी साहित्य

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका : श्याम शरण

29-33

लोक प्रशासन

नवीन पंचायती राज—महिला सशक्तिकरण का मुख्य साधन : सुनील कुमार

34-36

राजनीति विज्ञान

विश्व में नारी का बदलता स्वरूप—समस्या एवं समाधान : डॉ. नरेश कुमार

37-40

मनोविज्ञान

धार्मिकता एवं भ्रूण हत्या—एक अध्ययन : डॉ. अंजू कुमारी

41-44

गृह विज्ञान

मादा भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण : कुमारी संगीता

45-47

वाणिज्य

निर्धनता और इसको दूर करने के उपाय : अरविन्द कुमार

48-50

भारतीय इतिहास

ब्रिटिश राज के दौरान धन की निकासी का सिद्धान्त : डॉ. पल्लवी कुमारी

51-54

भारतीय इतिहास

अंग्रेजी राज में कृषि का वाणिज्यीकरण : डॉ. रेणू कुमारी

55-58

भारतीय इतिहास

ब्रिटिश भारत में साम्प्रदायिकता का विकास : डॉ. मनोज कुमार पाण्डेय

59-63

भारतीय इतिहास		
1857 के जनविद्रोह (बिहार) का प्रधान संचालक हरकिशन सिंह : डॉ. सुबोध कुमार चौधरी		64-68
भारतीय इतिहास		
वैदिक धर्म में एकेश्वरवाद का विकास : डॉ. नन्दन कुमार		69-72
भारतीय इतिहास		
कर्णाटकालीन मिथिला समाज की धार्मिक विशेषता और उसका समन्वयवादी स्वरूप : अलका कुमारी		73-74
हिन्दी साहित्य		
दुष्यन्त कुमार के कथा साहित्य का सर्वेक्षण : कंचन कुमारी		75-78
संस्कृत साहित्य		
भगवत् प्रार्थना और महिमा : डॉ. के. की. कृष्ण		79-85
संस्कृत साहित्य		
ऋग्वेद में व्रत विमर्श : डॉ. रूबी		86-87
राजनीति विज्ञान		
लोक-कल्याणकारी राज्य : डॉ. किरण कुमारी		88-92
हिन्दी साहित्य		
नागार्जुन और प्रगतिशील हिन्दी कविता : शशांक शेखर		93-97
भारतीय इतिहास		
अंग्रेज़ी भूमिकर व्यवस्था तथा प्रशासन : अमित कुमार		98-101
भारतीय इतिहास		
ब्रिटिश भारत में रेलवे का विकास : शैलेश कुमार दुबे		102-104
भारतीय इतिहास		
ब्रिटिश राज के दौरान निम्न जातीय आन्दोलन : अलका रानी		105-107
भारतीय इतिहास		
1857 से पहले सामाजिक सुधार : गीतांजलि		108-109
Psychology		
Folk Psychology as Mental Simulation : Dr. Shree Bhagwan Roy		110-112

Psychology

Brain Dynamics Underlying the Nonlinear Threshold for Access to
Consciousness : *Dr. Sunoj Kumar* 113-117

Sociology

Timeless Moral Imperatives in Causal Analysis of Social
Functioning : *Dr. Abha Kumari* 118-122

Commerce

The Relativity of Disruption : E-banking as a Sustaining Innovation in
the Banking Industry : *Dr. A. R. Shafi* 123-126

Political Science

An Appraisal of Administrative Accountability in Indian
Context : *Nalindi Kumari* 127-130

Political Science

Open Source Democracy or Media Trial for Politics : *Dr. Raghwendra Kishor* 131-134

L.S.W.

Social Security : *Dr. Vidyapati Gautam* 135-137

L.S.W.

Labour Policy : Does India Face a Wage Problem? : *Dr. Pushpa Raj Gautam* 138-140

English Literature

Literary Pursuits of Mulk Raj Anand : *Dr. Raj Kumar Singh* 141-143

Political Science

Indian Police in the 21st Century : Need for Change : *Dr. Amitabh Agrawal* 144-145

Commerce

SEZ : A Controversy Which Still Lingers : *Dr. Chandrama Singh* 146-149

Home Science

Child Development Theory : *Rita Kumari* 150-152

वर्तमान सदी की भारतीय नारी-प्रगति एवं चुनौतियां

डॉ. अनिल कुमार सिंह

वर्तमान सदी के पूर्व की सदी का एक दशक (1975-1985) अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक के रूप में मनाया गया। इससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर महिला की स्थिति की ओर विश्व के सभी देशों का ध्यान गया। भारत भी इस अभियान से अछूता नहीं रह सका। यहां राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य पुरुषों तथा महिलाओं को समता हासिल करने की दिशा में प्रोत्साहित करना तथा राष्ट्रीय जीवन के तमाम क्षेत्रों से उसे (महिलाओं को) जोड़ने का प्रयास करना रहा है। इन स्थितियों की समय-समय पर समीक्षा करना तथा समय-समय पर महिलाओं से संबंधित ज्वलंत मुद्दों पर विचार करने के उद्देश्य से इस तरह के आयोग का अपना महत्व है। इन सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तर पर सभी चीजें सिर्फ कानून के बल पर हासिल नहीं की जा सकती हैं। इसके लिए सामाजिक शक्तियों के संतुलन को अपने पक्ष में करना जरूरी है। नारी की स्थिति में स्थायी परिवर्तन के लिए यह जरूरी है कि सभी प्रकार की वैधानिक व्यवस्था के साथ ही सामाजिक शक्तियों की स्वीकृति प्राप्त करना परम आवश्यक है, तभी इस प्रकार की सामाजिक समस्याओं का समुचित समाधान ढूंढा जा सकता है।

नारी की वर्तमान स्थिति पर विचार करने से पूर्व भारतीय समाज में उसकी पूर्व-स्थिति का सरसरी तौर पर अवलोकन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से उसे वैदिक काल, वैदिकोत्तर काल तथा आधुनिक काल जैसे कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है।

वैदिक काल का आरंभ ऋग्वैदिक काल से होता है। यह काल बाल-विवाह और बहुविवाह जैसी प्रथाओं से मुक्त था। विधवा-विवाह, अंतर्जातीय-विवाह इस युग में संभव था।

प्रायः एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी। संपन्न लोग एक से अधिक विवाह करते थे। दहेज का प्रचलन था, लेकिन यह प्रतिबंधकारी न होकर स्वेच्छा पर आधारित था। सती-प्रथा और पर्दाप्रथा का इस युग में प्रचलन नहीं था। जीवन भर अविवाहित रहने की स्वीकृति थी। मध्यकाल की अपेक्षा वैदिक काल में नारी-शिक्षा संबंधी व्यवस्था अधिक उच्च स्तरीय थी। ऋग्वैदिक काल में विवाह की अवस्था का उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी कन्याएं अपेक्षाकृत बड़ी अवस्था प्राप्त करने पर ही विवाहित होती थीं। मनु के समय से पूर्व तक स्त्रियों का भी उपनयन होता था। इसके बाद शिक्षा आरंभ होती थी। बाद में अपवित्रता आदि की प्रवृत्ति के महत्वपूर्ण हो जाने के कारण उसे यज्ञ आदि में भाग लेने से वंचित कर दिया गया। अब उन्हें कर्मकाण्ड से मुक्ति मिल गयी थी, उन्हें मंत्रोच्चारण की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। शिक्षा और उपनयन का स्थान विवाह संस्कार ने ले लिया। अब कन्याओं के लिए विवाह ही उपनयन संस्कार बन गया।

उत्तरवैदिक काल में अंतर्वर्णीक विवाह, बहुविवाह, विधवा-विवाह, नियोग प्रथा, दहेज प्रथा का प्रचलन था। बाल-विवाह, पर्दाप्रथा, सती-प्रथा आदि का उल्लेख उत्तरवैदिक काल में भी नहीं मिलता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों की स्थिति उत्तरवैदिक काल में ऋग्वैदिक काल से अच्छी नहीं थी। उत्तरवैदिक काल तक आते-आते नारी की सामाजिक स्थिति में नकारात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा था। पुत्री के जन्म पर खेद प्रकट किया जाने लगा था और पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाया जाता था।

उत्तरवैदिक काल से जो अशक्तताएं उभरी, वे वैदिकोत्तर काल में और सशक्त होती चली गयीं। यज्ञाधिकार का दिन छिन जाना, शिक्षा के अधिकार का छिन जाना, विवाह को उपनयन का स्थापन हो जाना, मंत्र रचना तथा शिक्षा के अधिकार में कमी का आ जाना, दान देने तथा अविवाहित रहने के अधिकार का छिन जाना, सह-शिक्षा की स्थिति का परिवर्तन हो जाना, ओ३म का उच्चरण पर रोक लग जाना, स्वयंवर प्रथा का समाप्त हो जाना, कन्या का क्रय-विक्रय, कन्या-हत्या, बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर रोक, पर्दाप्रथा का प्रचलन, सती-प्रथा का प्रचलन ऐसी ही अशक्त बनानेवाली

प्रथाएं हैं। इन अशक्त बनाने वाली क्रियाओं का नारी की सामाजिक स्थिति पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यद्यपि वैदिककाल में भी स्त्रियों के प्रति कुछ दुराग्रह मौजूद थे, लेकिन बाद की प्रथाओं और परंपराओं ने स्त्रियों की उद्योगपति को अधिक पतनशील और तीव्रगामी बनाने में सहायता की। प्राचीन काल में स्त्रियों को सदैव भर्त्सना की दृष्टि से नहीं देखा गया है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनके प्रति अधिक पक्षतापूर्ण रवैया अपनाया गया है। समाज में सदैव स्त्रियों से उच्च नैतिकता की अपेक्षा की है, जबकि पुरुषों के बहुत से अनैतिक कार्यों को सहिष्णुतापूर्ण दृष्टि से देखा गया है।

भारत में आधुनिकता का प्रवेश समाज-सुधार के साथ होता है। राजा राममोहन राय के विचारों तथा कार्यों में आधुनिकता के प्रथम दर्शन होते हैं। उनके विचारों पर धर्म और अध्यात्म का आवरण अवश्य है, लेकिन उनका मूल उद्देश्य धर्म के सामाजिक और राजनीतिक पक्ष को उभारना था। वे जानते थे कि भारतीय समाज का मूल संगठन धर्म पर आधारित है, अतः धर्म और समाज को जोड़कर ही किसी प्रकार का सुधार संपन्न हो सकता है। नवचेतना को जगाना धार्मिक चेतना को जगाये बिना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने धर्म-सुधार का कार्य एक साथ संपन्न किया। वे सामाजिक बुराइयों को दूर कर उसे प्रगतिशील बनाना चाहते थे।

नारी की असशक्तता को दूर करने के लिए उन्होंने जो सबसे बड़ा काम किया, वह था सती-प्रथा का अंत। उन्होंने अपने भाई जगतमोहन की मृत्यु के बाद अपनी भाभी को जिन्दा जलाते

हुए स्वयं अपने आंखों से देखा था। उनके सद्प्रयास के कारण 1829 ई. में अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिंग ने सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। 1820 ई. से 1830 ई. के बीच बंगाल में सती-प्रथा बहस का विषय बनी थी। इस बहस का आधार धर्मशास्त्र था। मोहन राय ने स्पष्ट किया था कि हिन्दू धर्मशास्त्र सती-प्रथा को मान्यता नहीं देता है। सह-मरण शास्त्रसम्मत प्रथा नहीं है। यह शास्त्रों द्वारा विकृत किया गया कुसंस्कार है। हमारी शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार नारी को यह अधिकार था कि पति की मृत्यु के बाद वह सती हो सकती है या विधवा का जीवन जी सकती है। जीवित रहने की स्थिति में उसके मृत पति के उत्तराधिकारी को जीवन भर उसे निर्वाह के लिए आर्थिक सहायता करनी पड़ती थी। इस स्थिति से बचने के लिए सती प्रथा को महिमा-मंडित किया गया। एक आकलन के अनुसार 1815 ई. से 1829 ई. के बीच आठ हजार चार सती दाह की घटनाएं हुईं। इस आकलन का उल्लेख सरला माहेश्वरी ने अपनी पुस्तक 'नारी-प्रश्न' में किया है।

आधुनिकयुगीन नवजागरण की चेतना का मूल्यांकन करते हुए दिनकर जी का कथन है कि "यूरोप के संपर्क से जैसे भारत में नयी मानवता का जन्म हो रहा था, वैसे ही, हिन्दू धर्म भी नया रूप ले रहा था"।²

राजा राममोहन राय के चिंतन का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, जिन्हें आधुनिक भारत की आधारशीला माना जा सकता है:—राजनीतिक प्रगति और धार्मिक-सामाजिक सुधार के बीच गहरा संबंध है। धर्म-सुधार और समाज

सुधार के बिना राजनीतिक विकास मूल्यहीन हो जाता है। उन्होंने स्त्री को अपने मृत पति की संपत्ति में हिस्सा दिलाने का समर्थन किया। उन्होंने यह प्रयास किया कि बिना न्यायाधीश की आज्ञा के पहली पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह न कर सके। वे इसके लिए वैधानिक व्यवस्था चाहते थे। बाल-विधवा पुनः विवाह करे तथा प्रौढ़ विधवाएं आत्म-सम्मान का जीवन जीने के लिए शिक्षा ग्रहण करें। स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा मंदबुद्धि नहीं होती थी। उनके द्वारा स्थापित 'आत्मीयसभा' में धर्म के साथ सामाजिक समस्या पर विचार किया जाता था। उन्होंने इसके तत्वाधान में बाल-विधवा, कठोर ब्रह्मचर्य, बहुविवाह, सती-प्रथा जैसी चीजों की आलोचना की है। उनकी मान्यता थी कि स्त्रियों को पुरुषों के समान सामाजिक, कानूनी, संपत्ति संबंधी अधिकार मिलना चाहिए।

उपर्युक्त राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक चिंतन को देखते हुए कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय ने आधुनिक भारत की जो मजबूत नींव रखी थी, इसके पीछे उनके नारी-उत्थान संबंधी प्रेरणा छिपी हुई थी। आधुनिक भारत के लिए इससे अधिक आश्वस्त करने वाली दूसरी कोई वस्तुस्थिति नहीं हो सकती है।

राजा राममोहन राय का दृष्टिकोण काफी विवेकसमम्त है। उन्होंने नारेबाजी से काम न लेकर ठोस कार्य किया। उन्होंने समाज सुधार के प्रयास के साथ ही भारतीय समाज और सांस्कृतिक परंपरा का पूरा ध्यान रखा। दिनकर जी ने ठीक लिखा है कि "राममोहन राय का उद्देश्य भारत को यूरोप बनाना नहीं था। वे भारत के प्राचीन सत्यों का समन्वय

यूरोप के नवीन अनुसंधानों के साथ करना चाहते थे।¹³

आधुनिक भारत के निर्माताओं में से अग्रिम पंक्ति के योद्धा राजा राममोहन राय तथा इन्हीं के सदृश्य अन्य महापुरुषों ने नारी-उत्थान के लिए जो कार्य किये, वे ठोस, रचनात्मक और विश्वसनीय हैं। ये महापुरुष केवल बातों के धनी न होकर कार्यों में विश्वास करने वाले थे। यही उनकी कार्य शैली थी। राजा राममोहन राय के अतिरिक्त ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रनाडे, महर्षि छोडो केशव कर्वे, गोखले, तिलक, गांधी आदि नारी-उत्थान से संबंधित कार्यों के ठोस परिणाम विधान सुधार, जागरण आदि के रूप में सामने आये, जिनसे आधुनिक भारत की नारियों को अपनी स्थिति को सुधारने में काफी मदद मिली। इन महापुरुषों की प्रेरणा से प्रेरित होकर रमाबाई, रमाबाई रनाडे, सुखदा देवी, श्रीमती ओगलटीन, आनन्दी बाई जैसी आधुनिक नारियों ने नारी की स्थिति में सुधार के लिए संघर्ष किया तथा उसका सफल नेतृत्व किया।

इस संदर्भ में इनके कार्यों की गंभीरता देखने तथा प्रेरणा ग्रहण करने की चीज है। सुधा गोस्वामी ने अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष की चर्चित महिलाएं' में लिखा है कि "पंडित रमाबाई की गणना उन भारतीय वीरांगनाओं में है जिन्होंने अथक परिश्रम और निःस्वार्थ सेवा से इस देश का मस्तक संसार में ऊंचा किया है। उनके जीवन में हमें कलेजे को दो टूक करने वाली गरीबी, अभागों की दुर्दशा, मूक सहनशीलता और अद्भुत दृढ़ चरित्र की झांकिया मिलती हैं। यदि हम विचार करें तो हमें मालूम होगा कि प्रतिकूल

परिस्थितियों में साहस के साथ संघर्ष करते रहना ही महानता का मूलमंत्र है।" इसी की अगली कड़ी के रूप में रमाबाई रनाडे के कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने नारी की स्थिति में सुधार के लिए पूना में महिला सेवा सदन की नींव डाली। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने महिलाओं को पढ़ने-लिखने तथा सामाजिक प्रगति की प्रेरणा दी। इसके लिए उन्होंने परिवार और समाज के प्रतिगामी विचारों से टक्कर ली। तब से लेकर आज तक भारतीय नारी के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं।

गांधी के नेतृत्व में भारत की स्वतंत्रता के लिए जो ठोस कार्य किये गये उसका व्यापक प्रभाव भारतीय नारी की स्थिति पर पड़ा। यह कोई राजनीतिक लड़ाई नहीं थी। यह राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की लड़ाई थी। आधी आबादी को छोड़कर यह लड़ाई लड़ी नहीं जा सकती थी। गांधी के नारी वर्ग का आह्वान किया तथा इस बात पर जोर दिया कि नारी की स्थिति में ठोस सुधार हो, व्यापक सकारात्मक परिवर्तन हो तथा उसे सशक्त बनाया गया। यही कारण था कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में नारियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया तथा भारत की राष्ट्रियता की लड़ाई को अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई से जोड़कर देखने-परखने का प्रयास किया। उनके पास अपनी भारतीय दृष्टि थी। वे केवल नारीवादी आंदोलन की समर्थिका नहीं थीं। राष्ट्रियता की लड़ाई के साथ नारी-उत्थान के लिए संघर्षशील भारतीय नारियों के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए राधा कुमार ने अपनी पुस्तक 'स्त्री संघर्ष का इतिहास' 1800-1900

में लिखा है कि "पाश्चात्य संस्कृति में रंगी भारतीय स्त्रियां सारे देश में राष्ट्रवादी स्त्रियों के तिरस्कार का पात्र बन रही थीं। सरोजनी नायडू तथा बेगम शहनवाज ने घोषणा की भारतीय महिलाओं का आंदोलन पश्चिमी महिलाओं के आंदोलन की तरह केवल स्त्रीवादी नहीं है।"¹⁵ इस विश्लेषण से एक तथ्य स्पष्ट है कि भारतीय जागरण और सुधार की चेतना भारतीय परिवेश और भारतीय समाज की आकांक्षा का पर्याय था। उसे यूरोपीय पुनर्जागरण से प्रेरणा अवश्य मिली थी, लेकिन इसमें बहुत कुछ उनका अपना भी था। नारी-जागरण के प्रसंग में भी यही तथ्य है। इस तथ्य की ओर आकृष्ट करते हुए दिनकर जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृत' के चार अध्याय में लिखा है कि "यह मार्क की बात रही कि जहां अठारहवीं सदी का यूरोप अपने नवोत्थान के जोश में आकर धर्म से दूर होता जा रहा था, वहीं 19वीं सदी में भारत में जो नवोत्थान हुआ, उसका आधार धर्म था। यह बात भी ध्यान देने की बात है कि राममोहन राय ने विश्व मानवता की जो बात कही, वह तो यूरोप में भी कही जाती थी, किंतु यूरोप की विश्व-मानवता संकीर्ण थी। उसमें पूर्वी जगत के लिए स्थान नहीं था, दुर्बल जातियों की गणना नहीं थी।..... किंतु, राममोहन राय की विश्व मानवता का वृत्त बहुत अधिक विस्तृत था, जिसमें समस्त भूमण्डल की स्वतंत्र, समृद्ध, पराधीन, दलित और निष्पेषित जातियों के लिए एक समान स्थान था।"¹⁶ राममोहन राय ने जो वैचारिक आधारशीला प्रस्तुत की उसकी चरमावस्था गांधी की विचारशैली तथा कार्यशैली में देखने को मिल जाती है। आधुनिक युगीन नारी

जागरण से संबंधित आंदोलन भी इस विचारधारा के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। गांधी के जीवन में अधिकार से अधिक कर्तव्य और सेवा का महत्व रहा है। भारतीय नारी-जागरण भी अधिकार और कर्तव्य, चारित्रिक दृढ़ता और संघर्ष मिश्रित स्वरूप लेकर प्रकट हुआ। भारतीय नारी-आंदोलन से संबंधित तथ्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि “सन् 1885 के रहनुमा मन से सेवा के लिए मजबूर थे। उन्होंने महिला अधिकारों की बात पर बहुत कम बातें की। वे महिलाओं की जरूरतों को ध्यान में रखकर आंदोलन के लिए प्रेरित हुए। यह उनकी अंतरात्मा की आवाज थी। सन् 1935 के पश्चात् ऐसा लगता है कि वे दिल के बजाय दिमाग से सोचने लगे। सेवाभाव काफी हद तक राजनीति से प्रेरित और निर्देशित है।.....महिलाओं के अधिकार एक नारा बन चुके थे। अधिकार दृष्टि से ओझल हो गये। शायद इसका कारण यह था कि पश्चिमी तौर-तरीके बनावटी थे। अंग्रेजी नारीवादियों की जो आखिरी उपलब्धि थी, वह हमारा प्रारंभिक बिन्दु होने वाला था। एक झटके में अमीर बनने की प्रवृत्ति ने अनेक सामाजिक बुराइयाँ पैदा कर दी, जो आज तक हमारे साथ हैं।”

उपर्युक्त मूल्यांकन से जो निष्कर्ष सामने आता है वह यह है कि आधुनिक युग में नारी की स्थिति में सुधार की काफी गुंजाइश है। इसके लिए पुनर्जागरण काल के आधुनिक चिंतकों ने पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। इन सबके बावजूद यदि नारी की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया है, तो इसका एक बड़ा कारण यह है कि हमने स्वतंत्र भारत में इसके लिए आवश्यक गृहकार्य

(Home Work) नहीं किया है। पश्चिमी दृष्टिकोण का अंधानुकरण करते हुए हमने नारी-अधिकार को नारों तक सीमित कर दिया है। हम राजनीति से प्रेरित होकर बात करने लग गये हैं। हमारी आवाज आत्मा से नहीं उठ रही है। हम सुविधा भोगी हो गये हैं। नारी-पीड़ा को लेकर उठने वाली तड़प कुछ-कुछ शांत हो गयी है। वेदना का वह गंभीर स्वर ही सुनायी नहीं देता है, जिसे राजा राममोहन राय ने अपनी भाभी को जलाते हुए सुना था, जिसे दयानंद ने भारतीय नारी द्वारा अपनी संतान के शव को बहाते हुए देखा था और अनुभव किया था। जिस वेदना को विवेकानन्द ने भारत भ्रमण के क्रम में प्रत्यक्ष देखा और अनुभूत किया था। गांधी में कुछ इस प्रकार का दर्द था।

नारी की स्थिति में बदलाव आ रहा है, लेकिन धीरे-धीरे। खासकर ग्रामीण एवं अशिक्षित महिलाओं के जीवन में अभी भी अपेक्षित बदलाव देखने को नहीं मिल रहा है। जो कुछ बदलाव आया है, वह बदलाव की हलचल अधिक है, गुणवत्ता से युक्त गुणात्मक परिवर्तन आना अभी बाकी है। गुणात्मक परिवर्तन की कुछ आवश्यक पूर्व शर्तें हैं। इन शर्तों को हमारा वर्तमान भारत पूरा नहीं कर पा रहा है।

नारी की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए हमें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होगा। हमें इस आंदोलन के भटकाव को रोकना होगा। इस संदर्भ में मैं धनवंती रामाराव का एक सम्मेलन में दिये गये भाषण का एक अंश उद्धृत करना चाहता हूँ, जो स्थिति को स्पष्ट करने में समर्थ है—“भारतीय स्त्रियाँ पहले से ‘सामाजिक बुराइयों के प्रति

देशव्यापी अभियान चला रही हैं। इसके साथ ही उन्होंने जोड़ा कि—हमें पूरा विश्वास है कि किसी बाहरी की तुलना में हम ज्यादा सफल होंगी। क्योंकि विदेशी स्त्रियाँ हमारे सांस्कृतिक ढांचे से अनभिज्ञ हैं।”⁸ भारत की नारी संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए हमें अपने सामाजिक ढांचे को समझना होगा तथा भारतीय परिवेश के अनुरूप समाधान ढूँढना होगा। इसके लिए समस्या को यथार्थपरक ढंग से समझना होगा तथा समाधान की दिशा में ठोस कदम बढ़ाना होगा। इसके लिए पूर्व के समान संघर्ष और सेवा की भावना से आगे बढ़ना होगा। हृदय से काम करने की आवश्यकता है। केवल नारों तक सीमित रहने से काम चलने वाला नहीं है। मौलिक प्रगति के बिना चुनौती समाप्त होने वाली नहीं है। प्रगति के मार्ग में चुनौतियाँ भी कम नहीं हैं।

उपर्युक्त विषयों के आलोक में कुछ तथ्यों का अवलोकन किया जा सकता है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन का मुख्य उद्देश्य व्यवस्था-परिवर्तन है। इस परिवर्तन के माध्यम से हम अपने राष्ट्रीय उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं। सामूहिक स्तर पर राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति करना ही हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य है।

हमारे सामाजिक उद्देश्यों में समानता, न्याय, स्वतंत्रता, युक्तिकरण, व्यक्तिवाद जैसे विषय शामिल हैं। हमारे आर्थिक उद्देश्य हैं—वितरण संबंधी न्याय, आर्थिक धर्म दर्शन के स्थान पर आर्थिक युक्तिकरण को बढ़ावा देना। हमारे राजनैतिक उद्देश्य हैं—शासन जनता के प्रति उतरदायी हो, राजनैतिक सत्ता का विकेंद्रीकरण हो, अधिक से अधिक

लोगों को निर्णय की प्रक्रिया में शामिल किया जाए। सांस्कृतिक उद्देश्यों के अंतर्गत पवित्रता से धर्म-निरपेक्षता की नीति की ओर बढ़ा जाए। इन लक्ष्यों के प्रसंगों में नारी की स्थिति का आकलन किया जा सकता है। नारी चेतना का मूल्यांकन उसके संतुष्टि स्तर के आकलन द्वारा किया जा सकता है।

स्वतंत्र भारत में नारी चेतना की वास्तविक स्थिति का आकलन करते हुए कहा जा सकता है कि महिलाओं को विवाह संबंधी-विधानों की जानकारी बहुत कम है।⁹ एक सर्वेक्षण के अनुसार दस में केवल एक महिला को अपने जीवन-साथी के चुनने का अधिकार की जानकारी थी। लगभग पच्चास में से एक महिला को विवाह की सही आयु की जानकारी थी। पांच में से एक से भी कम को तलाक के अधिकार का ज्ञान था। पांच में से एक से कम को विधवा पुनर्विवाह अधिकार और पांच में से एक से भी कम को दहेज संबंधी कानून का ज्ञान था। इन सभी पक्षों को एक रखने पर दस में से एक महिला को विवाह कानूनों की कुछ जानकारी थी। परिवार में निर्णय लेने के मामले में महिलाओं की भूमिका गौण होती थी। पति-पत्नी के साथ महत्वपूर्ण मुद्दों पर सलाह नहीं लेते हैं। पति-पत्नी के बीच दांपत्य संबंध को केंद्रिय स्थान प्राप्त नहीं हो सका है। लगभग एक तिहाई महिलाएं अपने वैवाहिक और पारिवारिक जीवन से संतुष्ट हैं। घर के काम से संतुष्टि का स्तर आयु, शिक्षा तथा आय के साथ-साथ बदलता रहता है।

आर्थिक अधिकारों की चेतना संबंधी कुछ तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है। बहुत कम महिलाओं को अपने पति

की संपत्ति में भाग लेने के अधिकार का ज्ञान है। अपने पति की संपत्ति में अपने भाग का ज्ञान 80 प्रतिशत महिलाओं को है। गांव में दस में से केवल एक महिला कामकाजी है तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्रता प्राप्त है। कामकाजी महिलाएं भी गृहकार्य तथा गृहस्थी निर्माता के रूप में अपनी भूमिका का मूल्यांकन उसी ढंग से करती है, जैसे घरेलू महिलाएं। कामकाजी महिलाओं में दस में से नौ अपनी आमदनी से असंतुष्ट रहती हैं। यह असंतोष कार्य के विचार से उतना नहीं होता जितना की कार्य दशाओं या पारिश्रमिक से। जो महिलाएं परिवार की अर्थव्यवस्था के संभालने में योगदान करती हैं, वे भी अपनी आय को अपनी इच्छानुसार व्यय करने के लिए स्वतंत्र नहीं होती हैं। भारतीय नारियां राजनैतिक अधिकारों की चेतना कितनी रखती हैं, इसका अनुमान इन तथ्यों के आधार पर लगाया जा सकता है। बहुत कम संख्या में महिलाओं को अपने राजनैतिक अधिकारों का ज्ञान है (20 प्रतिशत)। मताधिकार प्राप्त महिलाओं में से लगभग तीन-चौथाई ही उसका प्रयोग करती हैं। ये महिलाएं राजनीति से प्रेरित होकर वोट डालने नहीं जाती हैं, बल्कि घूमने-फिरने के उद्देश्य से जाती हैं। महिलाओं का मत देने का व्यवहार न वह राजनैतिक समाजीकरण गतिशीलता दर्शाता है और न वह राजनीतिक समाजीकरण से जुड़ा होता है। उनके मत देने का व्यवहार अपने पति के विश्वास और अभिरुचि से जुड़ा होता है। चुनाव का उदार सिद्धांत जो मतदान के वोट को उसके तर्कयुक्त पसंद या उम्मीदवार या पार्टी के लिए अभिरुचि से जोड़ता है, वह महिलाओं के मत

डालने के व्यवहार के लिए तर्क सिद्ध नहीं है। आमतौर पर महिलाएं किसी भी राजनीतिक दल की सक्रिय सदस्य नहीं होती हैं, कुछ महिलाएं किसी राजनीतिक दल की समर्थक अवश्य होती हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अधिकार चेतना अपने आप स्त्रियों के स्तर को ऊंचा नहीं उठाती और न ही चेतनाहीनता उनके संतोष (प्रस्थिति है) की भावना कम करती है। अधिकार चेतना के कुंद करने वाले प्रमुख तत्व हैं—अशिक्षा, गृहकार्य में अधिक व्यस्तता, घरेलू बंधन, पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता।

हमारा समाज जिन विरोधाभासों का शिकार है, वे इस प्रकार हैं—

1. हमारी भूमिकाएं आधुनिक हो गयी हैं, किंतु हमारे मूल्य अभी भी परंपरागत हैं।
2. हम समतावाद दर्शाते हैं, किंतु व्यवहार भेद-भावपूर्ण होता है।
3. हमारी महत्वकांक्षाओं के अनुरूप साधन अनुपलब्ध हैं।
4. हम राष्ट्रवाद की बात करते हैं, लेकिन हम क्षेत्रवाद को बढ़ावा देते हैं।
5. हम दावा करते हैं कि हमारा गणतंत्र समानता के लिए समर्पित है, किंतु यह जाति व्यवस्था के शिकंजे में जकड़ा हुआ है।
6. हम तर्कशील होने का दावा करते हैं, किंतु हम अन्याय या पक्षपात को भी भाग्यवादी भावना से स्वीकार करते हैं।
7. हम उदारीकरण की नीति की घोषणा करते हैं, लेकिन फिर भी अनेक प्रकार के नियंत्रण लागू करते हैं।

8. हम व्यक्तिवाद का समर्थन करते हैं, लेकिन हम समूहवाद को लागू करते हैं।

9. हम आदर्शवादी संस्कृति को उद्देश्य बनाते हैं, लेकिन हम भौतिक संस्कृति के पक्षधर हैं।

जब तक हम भारतीय समाज के विराधाभासों को दूर नहीं करेंगे तथा अशक्तताओं से मुक्ति नहीं पा लेंगे तब तक समाज में नारी की स्थिति भी सशक्त नहीं हो सकेगी। नारी की सशक्तता समाज से जुड़ी हुई है तथा समाज की सबलता नारी की सबलता पर निर्भर करती है। आधुनिक भारत के निर्माताओं ने भारतीय समाज को जो दिशा दिखाने का प्रयास किया उसका मूल्यांकन करते हुए दिनकर ने ठीक कहा है कि वर्तमान भारत ने राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रनाडे, आगरकर, दयानंद और स्वामी विवेकानंद के विचारों को स्वीकार करने की मनोदशा में हैं। इन समाज सुधारकों के सामाजिक प्रगति संबंधी विचारों को एक-एक कर हम यथाशक्ति आचरण में ला रहे हैं। हां, ब्रह्म-समाज और प्रार्थना समाज के धार्मिक सिद्धांतों को इस देश की जनता ने हृदय से स्वीकार नहीं किया।¹⁰

स्वामी दयानंद सरस्वती की राष्ट्रीय आकांक्षा यह थी कि पुरुष शिक्षित हों तथा नारियां शिक्षिता और सबला। उनके कार्यों का मूल्यांकन करते हुए के. दामोदरन अपनी पुस्तक 'भारतीय चिंतन परंपरा' में लिखते हैं कि उनके सामाजिक परिवर्तन संबंधी विचार सकारात्मक और मूल्यवान हैं। उन्होंने अपने विचारों तथा सुधार संबंधी कार्यों के माध्यम से स्त्रियों

के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया था।¹¹

स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए स्वामी विवेकानंद ने जो कुछ कहा है, वे आज भी समीचीन प्रतीत होते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक का अपना-अपना आदर्श होता है। भारत का भी अपना आदर्श है, उसकी अपनी संस्कृति है, किसी प्रकार का बदलाव उसके आदर्श को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। भारतीय नारी के जीवन के लाये जाने वाले परिवर्तन की प्रकृति को समझना आवश्यक है। वे परिवर्तन भारतीय समाज के लिए आत्मसात करने योग्य होना चाहिए। 'नया भारत गढ़ो' शीर्षक पुस्तिका में उनके व्यक्त विचार इस प्रकार हैं—“भारत में दो बड़ी बुरी बातें हैं—स्त्रियों का तिरस्कार और गरीबों को जाति-भेद द्वारा पिसना।” राष्ट्रपिता महात्मा गांधी स्त्री संबंधी विचारों का सारांश यह है कि नारी को दुर्बल योनि कहना एक दोषारोपण है, नारी के प्रति यह पुरुष का अन्याय है।

यह एक संतोष का विषय है कि वर्तमान सदी की नारी पहले व्यक्ति बनती जा रही है, पत्नी या और कुछ बाद में। वर्तमान सदी को नारी-अधिकार के लिए संघर्ष की सदी कहा जा सकता है। हाल के बिहार पंचायत चुनाव में नारी को आबादी के अनुपात में आरक्षण दिया गया। इस चुनाव में सफल होने वाले उम्मीदवारों में अनेक महत्वपूर्ण पद महिलाओं के हिस्से में आये हैं। खासकर ग्रामीण क्षेत्र में इस प्रकार की जागरूकता एक स्वागत योग्य स्थिति मानी जायेगी। घर-आंगन में सीमित रहने वाली स्त्रियों ने घर-घर घूमकर वोट मांगने का काम किया। इससे जागरूकता

में वृद्धि हुई है तथा उनका निर्णय लेने में भागीदारी बढ़ी है। संचार क्रांति ने ग्रामीण क्षेत्र को प्रभावित किया है। इसके साथ ही स्त्रियों की जागरूकता में भी वृद्धि देखने को मिल रही है। यद्यपि अभी भारत के व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करने तथा परिवर्तित करने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है, लेकिन निराशावाद से मुक्त होकर आशावाद का दामन थामना शायद सबसे जरूरी है। आज का भारत वर्तमान में जीना सीख रहा है। वह अतीत की जड़ता से छुटकारा पाने के लिए निरंतर संघर्ष कर रहा है तथा अपने भविष्य के प्रति सचेष्ट दिखाई दे रहा है।

नारी की स्थिति को लेकर जिस प्रकार चिंता व्यक्त की जा रही है उसकी जड़ में मध्यकाल की जड़ता है। ऋग्वैदिक काल अपेक्षाकृत अधिक सुखद स्थिति वाला काल माना जा सकता है। आधुनिक काल की वर्तमान सदी को नारी की सामाजिक जागरूकता की सदी माना जाता है। वर्तमान सदी की सबसे बड़ी चुनौती मध्यकालीन जड़ता से मुक्ति पाना है। यह साधारण चुनौती नहीं है। एक-दो उदाहरणों के माध्यम से मैं अपनी बात रखना चाहूंगा। सती-प्रथा जिसका अंत आधुनिक काल में हुआ, उसकी जड़ सिर्फ इसलिए मजबूत की गयी ताकि स्त्री के मृत पति के उत्तराधिकारी को विधवा स्त्री के जीवन-निर्वाह के लिए धन खर्च न करना पड़े।¹² धन के लोभ ने सती-प्रथा जैसे मानवता विरोधी तथ्य को महिमा-मंडित करने की प्रेरणा दी। इस प्रथा को समाप्त करने के लिए राजा राममोहन राय जैसे आधुनिक बुद्धिजीवी महापुरुष को एड़ी-चोटी का जोर लगाना

पड़ा। इस प्रकार की कई चीजें अभी भी भारतीय ग्रामीण समाज को लीलती जा रही हैं। कन्या-भ्रूण-हत्या, दहेज-हत्या, बलात्कार जैसी विकृतियां हमारे समाज को विकसित होने के मार्ग की बाधाएं बनी हुई हैं। मध्य काल की मानसिकता का पर्याय बनी एक परंपरा का उल्लेख करना चाहता हूँ, जिसके फलस्वरूप विधवा यहां तक की बाल-विधवा भी पुनर्विवाह करना पाप समझती है। यह मानसिकता पैदा की गयी है। प्राचीन ग्रंथों में पुनर्विवाह की व्यवस्था रही है। इसे एक उपाय के तौर पर अपनाया गया है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में पुनर्भू अर्थात् पुनर्विवाहिता नायिका का उल्लेख किया है।¹³

इन सब के बावजूद ऊंची जातियों में आधुनिक काल में भी पुनर्विवाह के मार्ग में बाधा खड़ी की जाती रही है। इस प्रकार की चुनौतियों से निपटना आसान काम नहीं है। वर्तमान समय में संचार क्रांति तथा मीडिया की अतिसक्रियता तथा विज्ञापनबाजी का प्रभाव स्त्री-छवि पर पड़ना स्वाभाविक है। इन सब चीजों के अपने फायदे हैं। हानियां भी कम नहीं हो रही हैं। नारी जाति पर अश्लीलता का हमला हो रहा है। बलात्कार की गूंज इस सदी की सबसे विकृत ध्वनि के रूप में पहचान की जा सकती है। आज के युग में नयी नैतिकता की खोज की जा रही है। पवित्रतावाद का स्थान युक्तिवाद ले रहा है। इस प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात् करना भारतीय समाज के लिए नवीनतम चुनौती के रूप में देखा जा सकता है। देखने वाली बात यह है कि भविष्य की इन चुनौतियों से वर्तमान भारत कैसे निपटता है।

संदर्भ-सूत्र

1. "तत्कालीन बंगाल गवर्नमेंट के पुलिस सूत्रों के अनुसार 1815 से 1828 के बीच कोलकाता, ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, काशी और बरेली में आठ हजार चार (8004) सती-दाह की घटनाएं सरकारी हिसाब में दर्ज हुईं। जाहिर है कि सुदूर क्षेत्रों में ऐसी और कितनी असंख्य घटनाएं तब घट रही होगी।"-नारी प्रश्न, सरला महेश्वरी-पृष्ठ 143
2. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर-पृष्ठ 461
3. वही-पृष्ठ 465
4. भारतवर्ष की चर्चित महिलाएं, सुधा गोस्वामी-पृष्ठ 185
5. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार-पृष्ठ 186
6. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर-पृष्ठ 462
7. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार-पृष्ठ 187
8. वही 189
9. भारतीय सामाजिक व्यवस्था, राम आहूजा-पृष्ठ 100
10. "रानाडे बिल्कुल ठीक थे। उस समय समाज सुधारकों का चाहे जो भी विरोध किया हो, किंतु आज तो ऐसा लगता है कि हिन्दू समाज ने रानाडे और आगरकर, राजाराममोहन राय और केशवचंद्र सेन तथा दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद के एक-एक उद्देश्य को अपने हृदय में बिठा लिया है और उनमें से प्रत्येक का हम यथा-शक्ति आचरण भी करते जा रहे हैं। किंतु, यह भी ठीक है कि ब्रह्म-समाज या प्रार्थना-समाज के धार्मिक सिद्धांतों को इस देश की जनता ने पसंद नहीं किया।"-

संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर-पृष्ठ 471

11. उनके कुछ विचारों का निश्चय सकारात्मक महत्व है। बाल विवाह तथा शिक्षा के प्रसार द्वारा स्त्रियों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न इसके उदाहरण हैं"-भारतीय चिंतन परंपरा, के. दामोदरन-पृष्ठ 389
12. "यदि कोई विधवा सती नहीं होती बल्कि जीवित रहना चाहती है तो उसके पति के वारिस को उसके आजीवन खाना-कपड़े की व्यवस्था करनी होती है"-भारत-अलबिरूनी-पृष्ठ 238
13. "पूर्वपरिणीता स्त्री पुनर्विवाह करने पर 'पुनर्भू' कहलाती हैं। पति के द्वारा परित्यक्ता होने पर अथवा पति के मर जाने पर अथवा अपनी इच्छा से स्त्रियां पुनः विवाह कर सकती थीं। पुनर्भू नायिका दो प्रकार की होती है-अक्षतयोनि और क्षत योनि। विवाह होने पर भी जिसका पति के साथ संभोग-संबंध नहीं हुआ है, ऐसी विधवा स्त्री अक्षतयोनि कहलाती है। क्षत योनि नायिका दो प्रकार की होती है-पति परित्यक्ता और विधवा। पति के द्वारा छोड़ दिये जाने पर जो दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर लेती है, वह क्षत योनि पुनर्भू नायिका कहलाती है। इसी प्रकार पति के मर जाने पर जो दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर लेती है, वह दूसरे प्रकार की क्षतयोनि पुनर्भू नायिका कहलाती है"-कामसूत्रम्, वात्स्यायन-पृष्ठ 94

व्याख्याता, स्नातकोत्तर
राजनीति शास्त्र विभाग
राजेन्द्र महाविद्यालय परिसर,
जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

नक्सलवाद का भविष्य

डॉ. विद्याभूषण श्रीवास्तव

नक्सली आंदोलन बंगाल में जन्मा जरूर लेकिन वहां वह वैचारिक ताना-बाना बुनने का ही उपक्रम करता रहा, जबकि इसकी प्रयोग भूमि मुख्य रूप से बिहार और आन्ध्र प्रदेश रही। आज तो नक्सली आंदोलन 15 राज्यों के 170 जिलों में फैल चुका है जिसमें करीब दस करोड़ आबादी रहती है। ये नक्सली वैचारिक अस्वीकारता के कारण कितने प्रकार के हैं कहना कठिन है और कब किसके साथ मिलकर नया संगठन खड़ा कर लेते हैं पता ही नहीं चलता। इन्हीं नक्सली आंदोलन से निकला 'माले' अब संसदीय पद्धति में विश्वास करने लगा है।

नक्सली अपना मुख्य लक्ष्य क्रांति को मानते हैं। लेकिन व्यवहार में उनकी मुख्य गतिविधियां अपने खास क्षेत्र की जनता के हितों के लिए लड़ना, आदिवासियों और उत्पीड़ित गरीब जनता एवं खासकर शोषित स्त्रियों की रक्षा करना है। यही कारण है कि गरीब मेहनतकश और उत्पीड़ित जनता उन्हें अपना अंतिम और सबसे बड़ा रक्षक मानती है और पुलिस की तमाम यातनाओं को सहने के बावजूद भी उनके बारे में कोई सूचना नहीं देती हैं। राज्य प्रशासन नक्सली समस्या के समाधान में कोई खास जागरूक नहीं है। नक्सली समस्या का समाधान तब तक संभव नहीं है जब तक इन वर्गों की सामाजिक, आर्थिक दशा में सुधार नहीं हो जाता, नहीं तो कुछ खास क्षेत्रों में खास वर्गों के लिए उनकी समानान्तर सरकार चलती रहेगी।

भारत के कई हिस्सों में नक्सलवादी आंदोलन आज भी कारगर है क्योंकि समाज में कुछ ऐसे तीखे अंतर्विरोध मौजूद हैं जिन्हें सुलझाने का गंभीर प्रयास और कोई नहीं करता। दलितों, आदिवासियों और दूसरे गरीब तबकों के अंदर भारतीय संविधान ने अपनी प्रगति की आशाएं जगायी थीं, उन्हें आज

तक किसी भी शासन ने पूरा नहीं किया। सिर्फ जनसंघर्षों के जरिये ही इन अंतर विरोधों को हल किया जा सकता है और उन आशाओं को पूरा किया जा सकता है।

बिहार में नक्सलियों ने पहले उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिले को अपना केंद्र बनाया था और मुसहरी ब्लॉक में अपना प्रयोग शुरू किया था। इस आंदोलन के इस क्षेत्र में पनपने के कारणों को जानने और उसके निदान का प्रयास लोकनायक जय प्रकाश नारायण द्वारा किया गया था जिसमें उन्हें बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त हुई थी। परिणामतः उत्तर बिहार में नक्सली आंदोलन एक प्रकार से समाप्त हो गया था। हालांकि माले सीवान क्षेत्र में अपना जनाधार जरूर बढ़ाता रहा और संसदीय राजनीति में उसे सफलता भी मिली। मुसहरी के प्रयोग के बाद नक्सलियों ने दक्षिण बिहार विशेषकर मध्य बिहार में अपने पैर जमाने के प्रयास किये और अनगिनत हिंसक घटनाओं को अंजाम भी दिया, जिसमें सैकड़ों लोगों की बलि भी चढ़ी। सामूहिक नरसंहार का अमानवीय प्रयोग इनके नाम अंकित हुआ। गया, जहानाबाद, अरवल, औरंगाबाद, पटना और भोजपुर की जनता आज करीब 25 वर्षों से दहशत में जीने के लिए अभिशप्त है। इनसे निपटने के लिए इन जगहों पर जातीय सेनाओं का गठन हुआ जो बदले की भावना से सामूहिक नरसंहार को अंजाम देते रहे हैं। रणवीर सेना का नाम इन जातीय सेनाओं में ज्यादा चर्चित है।

बिहार आजादी की पूर्व संध्या के समय से ही साठी और छोआ कांड के लिये मशहूर रहा है। इन कांडों की जड़ में राजनीतिज्ञों की धन की कमाई की क्रीड़ा भूमि मानी जाती है। चीनी मिलों के माध्यम से इस देश के पूंजीपतियों के चरने की यह जगह रही है। परिणामतः एक ओर इस क्षेत्र में दरिद्रता बेशुमार रही है और चंद लोगों के पास अकूत धन संपत्ति इकट्ठा होती रही है, तो दूसरी ओर दरिद्रता की मार सहने वाले हताशा और निराशा के शिकार लोग चोर और डकैत बनने के लिए मजबूर होते रहे हैं। बाद में इन्हीं डकैतों का रूपान्तरण अपहरणकर्ताओं के रूप में हुआ। डकैतों और अपहरणकर्ताओं की शरणस्थली चंपारण के जंगल और नेपाल के सीमावर्ती इलाके रहे हैं। भारत-नेपाल की 735 किमी लंबी खुली अंतर्राष्ट्रीय सीमा बिहार में पहले डकैतों और अपहरणकर्ताओं के लिए तथा आज नक्सलियों और माओवादियों की गतिविधियों को बढ़ाने में वरदान साबित होते आयी है।

कमोबेश नक्सली आंदोलन से जुड़े सभी क्षेत्रों में इसी तरह की परिस्थितियाँ रही हैं। नेपाल में कम्युनिस्ट आंदोलन के विस्तार, संसदीय राजनीति में उनकी पहल और अन्ततः सत्ता तक पहुँचने में मिली सफलता ने नेपाली जनता में कम्युनिस्टों के प्रति आस्था को जन्म दिया है। संसदीय राजनीति की अस्थिरता से नेपाल में एक ओर माओवादियों को पैर जमाने में मदद मिली है, तो दूसरी ओर नेपाल नरेश द्वारा माओवादियों की बढ़ती गतिविधियों का बहाना बनाकर संसद को भंग कर पूरी सत्ता अपने हाथ में ले लेना, जनतांत्रिक व्यवस्था को अलविदा कह देना, राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध लगा देना, ऐसे में नेपाली माओवादियों का बिहार में प्रवेश या बिहार के माओवादियों का नक्सलियों के साथ उनके संबंध का अनुमान लगाया जा सकता है। साथ ही इनके द्वारा बिहार में माओवादियों के शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति की भी बात समझी जा सकती है। अखबारी खबरों में ऐसा छपता भी रहा है कि नेपाल से सटा इलाका होने के कारण भा.क.पा. (माओवादी) से सैन्य सहायता मिलती रही है। नक्सलवादी गुटों की अन्य उग्रवादी संगठनों के साथ सांठ-गांठ से यह समस्या और जटिल बन गई है। ऐसे संकेत हैं कि पी. डब्ल्यू जी. कार्यकर्ताओं को एल.टी.टी.ई. के कार्यकर्ताओं ने हथियार चलाने और देशी बमों के इस्तेमाल का प्रशिक्षण दिया है। उनकी नगालैंड के नेशनल सोशलिस्ट कौंसिल ऑफ नगालैंड (आईएम) के साथ भी समझ बनी है और दोनों ने एक-दूसरे का समर्थन शुरू किया है।

नक्सली अपना अंतिम लक्ष्य क्रांति को मानते हैं। लेकिन व्यवहार में उनकी

मुख्य गतिविधियाँ अपने क्षेत्र की जनता के हितों के लिये लड़ना, दूसरे संगठनों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करना और सक्षम बनाना, साथ ही गारंटी देना कि हिंसात्मक स्थिति पैदा होने पर जब भी उनकी जरूरत महसूस होगी वे उपलब्ध होंगे। इस मामले में वे भी एक समानांतर राज्य की तरह कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। बेशक यह राज्य दलितों और उत्पीड़ितों का है। कोई भी आधुनिक समाज वास्तव में अपने अंदर दो राष्ट्रों में बंटा दिखाई देता है। आमतौर पर राज्य अपनी नौकरशाही और सशस्त्र बलों के साथ प्रभुत्वशाली वर्गों और मध्य वर्ग के लिये कानून व्यवस्था सामान्य बनाये रखने का कार्य करता है। नक्सली भी वही कार्य अपने खास क्षेत्र की जनता, दलितों, आदिवासियों और दूसरे गरीब तबकों के लिए करते हैं। गरीब मेहनतकश और उत्पीड़ित जनता उन्हें अपना अंतिम और सबसे बड़ा रक्षक मानती हैं। यही वजह है कि वे गरीब लोग पुलिस के लॉकअप में हिंसा और यातनाओं के झेलने के बावजूद भी नक्सलियों के बारे में कोई सूचना नहीं देते हैं। लेकिन जैसा कि डॉ. अबेडकर ने चेतावनी दी थी कि जब तक इन वर्गों की आर्थिक हालत सुधारी नहीं जायेगी तब तक इनकी सुरक्षा के कानूनी उपायों का कोई फायदा नहीं होगा और स्थिति हमेशा विस्फोटक बनी रहेगी। यही वह खास वजह है कि नक्सलवादी समस्या के हल में दिलचस्पी नहीं है। वास्तव में नक्सलवादी जिन वर्गों के लिए लड़ते हैं, उन वर्गों के जीवन में एक क्रांति या क्रांति जैसा कुछ लाये बिना राज्य नक्सलवाद को पराजित नहीं कर सकता। राज्य प्रशासन नक्सलवाद

के नाम पर दो विचार रखता है। एक नक्सलवादी आंदोलन को कानून व्यवस्था की समस्या मानते हुए इसके साथ कड़ाई से पेश आने की सिफारिश करता है तो दूसरे नक्सलवाद के मुद्दे को सामाजिक और आर्थिक विकास संबंधी नीतियों का प्रश्न मानकर इससे निपटने की बात करता है। लेकिन इनकी वास्तविक समस्या के समाधान में सफल नहीं हो पाते हैं। नक्सलवाद प्रभावित राज्यों के मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने कहा कि “नक्सलवादी समस्या से निबटने की हमारी राजनीति के दो पाये होंगे। “पहला प्रभारी पुलिस प्रतिक्रिया सुनिश्चित करना और साथ ही दूसरा, वंचना और अलगाव के बोध को कम करना।” प्रधानमंत्री ने रेखांकित किया कि “पुलिस अनुक्रिया आवश्यक है क्योंकि सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने के राष्ट्रीय दायित्व के लिये यह जरूरी है। लेकिन प्रभावी पुलिस अनुक्रिया का अभिप्राय भारतीय शासन व्यवस्था को क्रूर बनाना नहीं है।” समय आ गया है कि प्रधानमंत्री के शब्दों को अमली जामा पहनाया जाए ताकि नक्सलवाद के प्रसार को रोका जा सके और प्रभावित इलाकों में त्वरित गति से आर्थिक विकास के लाभ पहुंचाये जा सकें।

काल और परिस्थिति के अनुकूल नक्सली अपना स्वरूप बदलते रहते हैं और इसी क्रम में कुछ नक्सलवादी संगठनों ने संसदीय राजनीति में दिलचस्पी दिखाई और देश की मुख्य धारा के कुछ दलों के साथ उनके चुनावी गठबंधन भी हुए। इसे देश की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शामिल होना भी कहा जा सकता है। वास्तव में यह उन संगठनों द्वारा आत्महत्या

किये जाने के बराबर है। पीपुल्सवार ग्रुप और माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर जैसे बड़े नक्सली संगठन जो अब मिलकर भा.क.पा. (माओवादी) दल बन गये हैं, इसमें विश्वास नहीं करते, हालांकि मजदूरों, किसानों के गठबंधन में उनकी सैद्धांतिक निष्ठा है। फिर भी व्यवहार में नक्सलवादियों ने कई तरह के स्थानीय संगठनों के साथ सहयोग और गठबंधन किया है। खासकर आन्ध्र प्रदेश में यह सहयोग और गठबंधन लड़ाकू ट्रेड यूनियन संघर्ष चलाने और भूमि सुधार करने के मुद्दों पर किये गये हैं। इनके अलावा ये गठबंधन दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों पर उत्पीड़न रोकने, शराबबंदी और परमाणु विरोधी आंदोलन जैसे मुद्दों पर भी किये गये हैं।

आमतौर पर नक्सली बहुत जमीनी स्तर पर और ठोस मुद्दों पर ही दूसरे स्थानीय संगठनों से गठबंधन करते रहे हैं या उन्हें अपना राजनीतिक समर्थन देते रहे हैं; जैसे:-विभिन्न सवालों को लेकर होने वाले जन संघर्षों पर या फिर विकास की ऐसी परियोजनाओं के खिलाफ जो पैसा हड़पने वाले भ्रष्ट अधिकारियों, राजनीतिज्ञों और ठेकेदारों के अलावा किसी का भला नहीं करती। यह देखना दिलचस्प रहेगा कि आने वाले सालों में दूसरे के साथ वे किन मुद्दों पर सहयोग करेंगे। एक संभावना यह है कि इनमें से कुछ मुद्दे वे होंगे जो जन आंदोलनों के राष्ट्रीय मंच (नेशनल एलायंस ऑफ पीपुल्स मुवमेंट-एन. ए. पी. एम.) के एजेंडे में हैं। ऐसा करना साम्यवादी आंदोलन में कोई नई बात नहीं होगी। रूसी क्रांति के तुरंत बाद लेनिन ने भी समाजवादी क्रांतिकारियों के खेतीहर कार्यक्रमों को अपना लिया

था, क्योंकि इस क्षेत्र में बोलसेविकों का अपना कोई अनुभव नहीं था। नक्सलवादियों द्वारा सहयोग के मुद्दे भूमि, जल और जंगल से संबंधित हो सकते हैं और आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद से भी संबंधित हो सकते हैं। वे टिंबर माफिया के खिलाफ हो सकते हैं और मैकडोनाल्ड, पेप्सी, कोकाकोला के खिलाफ भी संघर्ष कर सकते हैं। साथ ही बड़े बांधों के निर्माण का भी विरोध कर सकते हैं। यह गौरतलब है कि ऐसे मुद्दों पर संघर्ष और आंदोलन की पहलकदमी ज्यादातर गैर संसदीय रास्तों पर चलने वाले जन संगठन ही करते हैं। इस तरह संसदीय रास्ते को गरीब जनता के लिए उपयोगी न पाने वालों में नक्सलवादी अकेले नहीं हैं। लिहाजा इन मुद्दों पर इस विचार वाले जनसंगठन नक्सलवादियों के स्वाभाविक सहयोगी हो सकते हैं।

भारत के कई हिस्सों में नक्सलवादी आंदोलन आज भी कारगर है क्योंकि समाज में कुछ ऐसे तीखे अंतर्विरोध मौजूद हैं जिन्हें सुलझाने का गंभीर प्रयास और कोई नहीं करता। दलितों, आदिवासियों और दूसरे गरीब तबकों के अंदर भारतीय संविधान ने अपनी प्रगति की आशाएं जगायी थीं, उन्हें आजतक किसी भी शासन ने पूरा नहीं किया। सिर्फ जनसंघर्षों के जरिये ही इन अंतर्विरोधों का हल किया जा सकता है और उन आशाओं को पूरा किया जा सकता है।

संदर्भ

1. इतिहास के दस्तावेज-नक्सलवादी के दौर में-संपादक, वीर भारत तलवार।

2. नक्सलवाद-शक्ति और सीमा-राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) दैनिक समाचार पत्र दिनांक 10.08.1996।
3. दलित समस्या की राजनीति-डॉ. ब्रज कुमार पाण्डेय।
4. योजना-नक्सलवाद विकास और विश्लेषण-फरवरी 2007।
5. अछूत कौन और कैसे-डॉ. भीम राव अंबेडकर।
6. जाति भेद का उच्छेद-डॉ. भीम राव अंबेडकर।
7. The Naxal Challenge : Causes, Linkages, and Policy Options/edited by P.V. Ramana.
8. Romance of a Naxalite/ Vineet Agarwal.
9. Women, New Technology and Development : Changing Nature of Gender Relations in Rural India/ Debal K. Singha Roy.
10. Terrorism and Low Intensity Conflict in South Asian Region/edited by Omprakash Mishra and Sucheta Ghosh.
11. Challenges to Democracy in India/edited by Rajesh M. Basrur.
13. Life and Works of Jayaprakash Narayan/S.R. Sharma.
14. Communist Politics in India: Struggle for Survival/K. Vidyasagar.

राजनीति विज्ञान विभाग
राम जयपाल सिंह कॉलेज, छपरा

बिहार की राजनीति में जाति की भूमिका : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

हरिनारायण प्रसाद चौरसिया

भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारंभ होने के पश्चात् सामान्य रूप से यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी राजनीतिक तंत्र और जनतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के कारण भारत की परंपरावादी सामाजिक संरचना में बदलाव होगा अर्थात् भारतीय समाज से जातिवाद का अन्त हो जाएगा। चूंकि सामाजिक व राजनीतिक जीवन एक-दूसरे को प्रभावित कर स्वरूप निर्धारण में अहम भूमिका निभाते हैं, अतः भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका अपरिहार्य रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है। **रजनी कोठारी** का भी मत है कि “वे लोग जो भारतीय राजनीति में जातिवाद के विद्यमान होने की शिकायत करते हैं, वे एक ऐसी राजनीति की कल्पना करते हैं जो समाज में संभव नहीं है, वास्तव में जिसे राजनीति में जातिवाद कहा जाता है, वह जातियों के राजनीतिकरण से अधिक और कुछ नहीं है।”

भारत में जातिवाद का प्रभाव राजनीतिक दलों, निर्वाचनों और राजनीतिक लाभों के वितरण में स्पष्टतः दिखायी देता है। विभिन्न राजनीतिक दल निर्वाचन के अवसर पर अपने उम्मीदवारों का चयन करते समय उनकी योग्यता से ज्यादा संबंधित निर्वाचन क्षेत्रों में विभिन्न जातियों की जनसंख्या को विशेष रूप से दृष्टि में रखते हैं। चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि भारत में मतदाताओं का मतदान-व्यवहार बहुत कुछ जातीयता पर आधारित रहा है। राष्ट्रीय स्तर से ज्यादा राज्यों में जातिवाद का प्रभाव राजनीति पर कुछ विशेष ढंग का दिखाई देता है।

कुछ विचारकों के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों में जाति के चार विभिन्न स्वरूप विकसित हुए हैं। जातिवाद का पहला स्वरूप दक्षिण भारत और विशेषकर तमिलनाडु में मिलता है, जहां ब्राह्मणों और अनेक निम्न जातियों के बीच गंभीर संघर्ष रहा है, परिणामतः ब्राह्मणों को पराजित होना पड़ा है। महाराष्ट्र में भी मराठा और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष रहा और इस संघर्ष में मराठा जाति ने ब्राह्मणों के शताब्दियों से चले आ रहे प्रभुत्व का अन्त किया। गुजरात, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक जातिवाद का तीसरा प्रतिनिधि रूप प्रस्तुत करते हैं। इन तीनों ही राज्यों में तीन मध्यवर्गीय जातियां राजनीतिक संघर्ष में रत दिखायी देती हैं। आन्ध्र में यह टकराव कम्मा और रेड्डी जातियों के बीच पाया जाता है। कर्नाटक में यह विरोध लिंगायत तथा वोडीलिंगा जातियों के बीच पाया जाता है।

बिहार की स्थिति वर्तमान में उपर्युक्त राज्यों से भिन्न है। पहले यहां उच्च जातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय, भूमिहार, कायस्थ तथा कुछ हद तक अगड़े मुस्लिमों और वैश्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के धारक थे और उनके बीच ही राजनीतिक प्रतिस्पर्धा थी। लेकिन आज यह समीकरण पूर्णतः बदल गया है। इसके तीन विभाजन हो गए हैं। एक ओर उच्च जातियां हैं तो दूसरी ओर नवधनाढ्य मध्य जातियां (यादव, कोइरी, कुर्मी) और तीसरा मोर्चा अत्यंत पिछड़ी और दलित जातियों का है। पहले उच्च जातियों व नवधनाढ्य के बीच वाली प्रतिस्पर्धा ने अब तीनों के बीच में धोर प्रतिस्पर्धा का रूप धारण कर चुकी है। बिहार की राजनीति में जातिवाद की हमेशा ही भूमिका रही है। पहले आज की अपेक्षा कम थी, क्योंकि मात्र उच्च जातियां ही राजनीतिक भागीदारी के प्रति जागरूक थीं, किंतु अब सभी जातियों में राजनीतिक चेतना जागृत हो चुकी है। अतः अब जातिवाद की भूमिका पहले की अपेक्षा अधिक है।

यद्यपि जाति और वर्ग के आपसी संबंध बहुत ही जटिल रहे हैं, फिर भी **डी.एल. शेट** ने सेकुलरीकरण के माध्यम से जाति व्यवस्था में होने वाले बदलावों का विश्लेषण करते हुए यह माना है कि एक ‘नये मध्य वर्ग’ का उदय हुआ है और इसका लगातार विस्तार हो रहा है। हम बिहार की राजनीति में जाति की भूमिका और इसके कारण बिहार के राजनीतिक,

आर्थिक और सामाजिक जीवन में हुए परिवर्तन के विविध आयामों का परीक्षण करेंगे। सन् 1990 ई. के बाद बिहार में जाति की राजनीति में हुए बदलाव की पड़ताल करते हुए हम बिहार के संदर्भ में डी.एल. शेट के 'नये मध्य वर्ग' की संकल्पना का परीक्षण करेंगे। हम इस बात का भी परीक्षण करेंगे कि बिहार में लोकतंत्र की स्थिति को लोकतंत्र के सिद्धांत की रूपरेखा में कहाँ रखा जा सकता है।

बिहार की राजनीति इस मायने में महत्वपूर्ण है कि यहां लोकतांत्रिक तरीके से सत्ता जनसंख्या की दृष्टि से कमजोर किन्तु सामाजिक-आर्थिक हैसियत से मजबूत ऊंची जातियों के हाथों से निकलकर पिछड़ी जातियों के हाथों में चली गई। ऊंची जातियां जनसंख्या के हिसाब से कमजोर हैं लेकिन इनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति बहुत ही मजबूत रही है। सन् 1990 के दशक के बाद राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव हुए। इन बदलावों में जाति की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही। बदलाव की व्याख्या अन्य पिछड़े वर्गों (ओ.बी.सी.) के उभार के रूप में भी की जाती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब भारत उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य द्वारा शासित अखिल भारतीय राजनीतिक इकाई बन गया, तो प्रशासन द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले शब्द-समूहों ने नयी सामाजिक संरचनाओं को प्रमुखता से उभारा। यह प्रक्रिया अंग्रेजों के शासन में जनगणना के वर्गीकरण के दौरान ही शुरू हो चुकी थी। आजादी के बाद संवैधानिक और कानूनी मान्यता मिलने से इनकी वैधता और बढ़ गयी। आरक्षण की नीति के कार्यान्वयन के लिए बनाये गए

सरकारी वर्गीकरण से इन समुदायों ने अपने-अपने नाम प्राप्त किए। इस रूप में अगड़े अर्थात् सामान्य (जेनरल), पिछड़े अर्थात् ओ.बी.सी., दलित अर्थात् अनुसूचित जातियां और आदिवासी अर्थात् अनुसूचित जनजातियां जैसे गैर-पारंपरिक शब्द महत्वपूर्ण हो गए। बिहार की राजनीति में जातीय भूमिका को निम्न संदर्भों में देखा व समझा जा सकता है "यह जातीय क्षेत्रवाद केवल हिन्दुओं में नहीं बल्कि मुसलमानों में भी है। उदाहरण के लिए धुनिया और जोलाहा सैयद नहीं हो सकते। अगर दुसाध या यादव उस क्षेत्र का नागरिक है, तो उनका प्रतिनिधित्व होना चाहिए था, लेकिन उस क्षेत्र का प्रतिनिधि कायस्थ हो जाता है।"

1917 में सुधारों को लेकर बिहार के मुख्य सचिव का भारत सरकार को पत्र

"1926 के काउंसिल के चुनाव में कांग्रेसी नेताओं का जातिवाद भी उभरकर सामने आया। बिहार के उस चुनाव में जो-जो अनर्थ हुए वे कभी भूलने के योग्य नहीं। भीतर ही भीतर गुटबंदी थी। कांग्रेस के प्रमुख लोग जात-पात की बात भीतर ही भीतर करते थे। खुलकर सामने नहीं आ सकते थे। उक्त चुनाव ही नहीं उसके बाद भी आज तक जितने चुनाव हुए हैं, उन सब के बारे में मैं कह सकता हूँ गुस्ताखी माफ हो कि अधिकांश बिहारी राष्ट्रवादी नेता भीतर ही भीतर जातिवादी भी हैं।"

स्वामी सहजानंद, मेरा जीवन संघर्ष

"बिहार के काउंसिल में पांच जातियों बामन, वैद्य, राजपूत, ब्राह्मण और कायस्थों

का वर्चस्व था। ये जातियां कुल आबादी का महज 13 प्रतिशत हैं, लेकिन परिषद् के निर्वाचित सदस्यों का 65 प्रतिशत इन्हीं जातियों के लोगों का है।"

मि.जे. हब्बाक का पत्र, 1928

"रामगढ़ कांग्रेस के प्रतिनिधियों के चुनाव के मौके पर प्रांतीय कांग्रेस कमिटी की राजनीति बहुत नीचे उतर आई थी। वहां कायस्थ और भूमिहार गुटबंदी चल रही थी। बेईमानी, ईमानदारी चाहे जैसे भी हो, अपने-अपने गुट के ज्यादा प्रतिनिधियों को भेजने की कोशिश थी। श्रीकृष्ण बाबू का पलड़ा भारी रहा और मथुरा बाबू, कृष्णबल्लभ सहाय, वृंदा बाबू जैसे कर्मठ कांग्रेसी भी कार्यकारिणी में नहीं आए—यह हार राजेन्द्र बाबू की थी।"

राहुल सांकृत्यायन

"उम्मीदवारों को चुनने में हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ा कि कौन किस जाति का है। कांग्रेस के लिए यह संतोष की बात नहीं थी, पर परिस्थिति के कारण हम इससे अलग नहीं रह सकते थे। इस सूबे के लिए दुःख और शर्म की बात है कि नामजदगी में जाति के उम्मीदवारों के चुने जाने की संभावना अधिक है। यह भी देखना पड़ा कि यदि अमुक उम्मीदवार को हम नामजद नहीं करते हैं तो इसका उस जाति के लोगों पर बुरा असर पड़ेगा, चुनाव के लिए भी बुरा होगा।"

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, आत्मकथा संदर्भ, 1937 का चुनाव

चुनाव क्षेत्रों की कुछ खास जातियों के मतदाताओं का विश्वास नहीं रहा या

नेताओं का उन खास जातियों से भरोसा उठ गया। आखिर ऐसा क्यों हुआ और इसके लिए कौन जिम्मेदार थे? यह तो सघन शोध का विषय है। पर यह बात साफ है कि मामला जातिवाद का ही था। आजादी के बाद बिहार की राजनीति में अन्य पिछड़े वर्गों के उभार को तीन चरणों में बांट कर देखा जा सकता है—पहला, आजादी के बाद से 1967 तक का दौर। इसमें मुख्य रूप से अगड़ी वर्चस्वशाली जातियों का वर्चस्व रहा। दूसरा 1967 से 1990 तक का दौर। इस दौर में पिछड़ी जातियों की चेतना बढ़ी। सत्ता पर भी अधिकार कायम हुआ, लेकिन अगड़ी जातियों का वर्चस्व भी कायम रहा। तीसरा, राजनीति के मंडलीकरण का दौर अर्थात् 1990 से अभी तक का दौर। इसने बिहार की राजनीति में पिछड़ी जातियों के वर्चस्व को पूरी तरह स्थापित कर दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1967 तक बिहार में सत्ता की राजनीति और आर्थिक लाभों का संघर्ष सामाजिक श्रेणीक्रम में ऊपर बैठी जातियों तक ही सीमित था। ये जातियां जनसंख्या के लिहाज से छोटी थीं, लेकिन सामाजिक और आर्थिक हैसियत के नजरिये से काफी मजबूत थीं। ये अगड़ी जातियां थीं जिन्होंने आगे बढ़कर शैक्षणिक अवसरों का लाभ उठाया था। शुरुआती दौर में जातीय-गोलबंदी बहुत गहरी नहीं थी। ऐसा राष्ट्रीय आंदोलन के मूल्यों के प्रभाव और जाति आधारित होड़ कम होने का कारण था। जाति आधारित होड़ कम होने का कारण यह था कि पिछड़ी जातियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। राजनीतिक रूप से भी इनमें बहुत ज्यादा जागरूकता नहीं आई थी। फिर भी सत्ता की राजनीति

में ऊंची जातियों (भूमिहार, राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ) में होड़ लगी रहती थी।

लेकिन जैसे-जैसे राजनीतिक चेतना बढ़ी और अब तक राजनीतिक रूप से असंगठित समूहों ने अपने सामूहिक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आकांक्षाओं को संतुष्ट करने वाले यंत्र के रूप में राजनीति के महत्त्व को समझा-ऊंची जाति-समूहों के प्रभुत्व को चुनौती मिलनी शुरू हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रारंभिक दशकों में हुए भूमि सुधारों का फायदा यादव, कुर्मी और कोईरी जैसी जातियों को मिला। इससे कई पिछड़ी जातियां उभर कर सामने आने लगीं। ये जातियां अब सरकारी नौकरियों और सत्ता में अपनी मजबूत हिस्सेदारी चाहती थीं। 1967 तक सत्ता में इनकी भागीदारी काफी हद तक बढ़ी भी। इसके लिए मुख्य तौर पर तीन कारण जिम्मेदार थे—**पहला**, ऊंची जाति के नेताओं की सत्ता के लिए आपसी प्रतियोगिता काफी तेज हो गई। ऐसे में अपना जनाधार बढ़ाने के लिए उन्होंने पिछड़ी जाति के नेताओं को अपने से जोड़।। **दूसरा**, समाजवादियों (लोहियावादियों) ने पिछड़ी जातियों में राजनीतिक जागरूकता और एकता लाकर ऊंची जाति के वर्चस्व को तोड़ने की राजनीति अपनायी। इससे पिछड़ी जातियों की राजनीतिक चेतना बढ़ी। **तीसरा**, पिछड़ी जातियों के एक हिस्से (यादव, कोईरी, कुर्मी, बनिया) को आधे-अधूरे मन से लागू किए गए भूमि-सुधारों और शिक्षा का फायदा मिला। इससे इनमें अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ी।

सन् 1967 तक बिहार की राजनीति में पिछड़ों की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण रूप

से दर्ज होने लगी। पिछड़ी जातियों से जुड़े नेता मुख्यमंत्री भी बने। लेकिन राजनीति में ऊंची जातियों का वर्चस्व अभी भी बना रहा। इसका कारण कांग्रेस का मजबूत चुनावी आधार था, जिसमें ऊंची जातियों सहित दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यकों तथा कुछ पिछड़ी जातियों का बड़ा तबका शामिल था। निश्चित रूप से इसका नेतृत्व ऊंची जातियों के हाथों में था। आरक्षण की राजनीति ने बिहार में अगड़ा-पिछड़ा राजनीतिकरण को बढ़ावा दिया। **सन् 1977 के विधानसभा चुनावों के बाद बिहार विधानसभा में पिछड़ी जातियों के विधायकों की संख्या बढ़ी।** इस समय पिछड़ी जाति के नेता कर्पूरी ठाकुर राज्य के मुख्यमंत्री थे। इससे राज्य में पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का मसला खुलकर सामने आ गया। **1978 में ही बिहार में कर्पूरी ठाकुर की सरकार ने अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण लागू कर दिया था।** राज्य में ऊंची जाति के लोगों ने इसका खुलकर विरोध किया। इससे आरक्षण मसले पर पिछड़ों में एकजुटता बढ़ी। इसने पिछड़ों की राजनीतिक चेतना को और अधिक बढ़ाया फिर भी पिछड़ी जातियों की राजनीतिक चेतना जगाने और उन्हें ऊंची जातियों के खिलाफ गोलबंद करने के संदर्भ में **1990 में बी.पी. सिंह सरकार द्वारा मंडल कमीशन की सिफारिशों को लागू करने के फैसले ने सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।** मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने के बाद ऊंची जातियों के द्वारा इसका तीखा विरोध हुआ। इसने बिहार की राजनीति को अगड़े-पिछड़े के खानों में बांट दिया। ध्यान देने वाली बात यह है कि मंडल

आयोग की सिफारिशें लागू होने के पहले बिहार विधानसभा के चुनाव हुए थे और इसमें लालू प्रसाद के नेतृत्व में जनता दल की सरकार बनी थी। यह सरकार अपने बहुमत के लिए भाजपा और वामपंथी दलों पर निर्भर थी। मंडल परिघटना और लालू प्रसाद की तीखी ऊंची जाति विरोधी और पिछड़ों की पहचान की राजनीति ने पिछड़ी जातियों को लालू प्रसाद के नेतृत्व में गोलबंद कर दिया। लालू प्रसाद के ऊंची जातियों के वर्चस्व का विरोध करने और गरीब हितैषी वक्तव्यों के कारण दलितों का बड़ा हिस्सा भी लालू प्रसाद के साथ जुड़ा। इस मामले में लालू कर्पूरी ठाकुर से आगे निकल गए। ठाकुरजी पिछड़ों की पहचान की राजनीति को भुनाने में लालू प्रसाद की तरह कामयाब नहीं हो पाए। लालू प्रसाद ने भाजपा के समर्थन की परवाह न करते हुए साम्प्रदायिक राजनीति का विरोध किया। लालू प्रसाद की साम्प्रदायिकता विरोधी छवि ने उन्हें मुस्लिमों का भी विश्वस्त रहनुमा बना दिया।

आजादी के बाद पिछड़े हुए समुदायों में भी शिक्षा के प्रचार-प्रसार, नये विचारों के आगमन ने पिछड़ी जातियों के बीच नया नेतृत्व उभारा। सामाजिक परिवर्तन की इस लड़ाई को चलाने वाले ने विधानसभा और विधान परिषद् की सामाजिक बनावट में परिवर्तन भी लाया। यह भी अचानक नहीं हुआ। आजादी के बाद मध्य जातियों ने विधान सभा में अपना स्थान बना लिया था। भले उनकी संख्या कम थी। 1967 के चुनाव के बाद यह परिवर्तन विधान सभा में दिखायी पड़ने लगा। पहले तो पिछड़ी जातियों के सदस्य विधान सभा में इक्के-दुक्के

नजर आते थे। उनकी संख्या बढ़कर 82 और 1995 आते-आते 160 हो गयी। सत्तर के दशक में नक्सली आंदोलन ने भी पिछड़े हुए समुदायों को बिहार में खूब आकर्षित किया। खास तौर से दलितों और पिछड़े हुए समुदायों के बीच उन्होंने अपने कामकाज को केंद्र बनाया। आजादी की लड़ाई और आजादी के बाद उभरी पीढ़ी के बाद अस्सी के दशक तक ऊंची जातियों का नेतृत्व रहा। 1974 में जे.पी. की संपूर्ण क्रांति के बाद नयी पीढ़ी आई। समाजवादियों की पुरानी पीढ़ी के नेता कर्पूरी ठाकुर को बिहार का नेतृत्व सौंपा गया। कांग्रेस की तरह यहां भी विवाद। आरक्षण का सवाल और अगड़े-पिछड़े की लड़ाई। 1967 के चुनाव के बाद विधान सभा में पिछड़ी जाति के सदस्यों की संख्या बढ़ती गई। इसे निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट समझा जा सकता है:-

बिहार विधानसभा के सदस्य

वर्ष	पिछड़ी जाति	ऊंची जाति
2005	115	67
2000	121	56
1995	160	56
1990	117	105
1985	89	118
1980	96	120
1977	82	124
1972	72	136
1969	98	122
1967	82	133

सन् 2000 और 2005 में 243 विधानसभा क्षेत्र के अनुसार

बिहार में सन् 1990 से 2005 के काल को सामाजिक सशक्तिकरण के

काल के रूप में जाना जाता है। इसके पहले का काल आर्थिक व सामाजिक रूप से समृद्ध समुदायों के काल के रूप में चिह्नित किया जाता है। 1990 के मंडल आन्दोलन के बाद के वर्षों में जातिवाद का नया रूप सामने आया। सन् 1990 के बाद की बिहार की राजनीति, इसमें जाति की भूमिका, प्रभावों और इसके फलितार्थों को निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है।

पहला, बिहार की राजनीति में पिछड़ी जातियों का उभार हुआ है। बिहार में पिछड़ी जातियों का उभार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का नतीजा है। 1990 के बाद की बिहार की राजनीति में पिछड़ी जातियों की जागरूकता, क्रियाशीलता और सत्ता की राजनीति में भूमिका लगातार बढ़ी है। पिछड़ी जातियों का उभार लोकतांत्रिक राजनीति की शुरुआत से ही चलने वाली प्रक्रिया का नतीजा था। शुरुआती दौर में, सत्ता की राजनीति में ऊंची जातियों का वर्चस्व था। जनसंख्या के स्तर पर ये जातियां छोटी थीं, लेकिन अपनी मजबूत सामाजिक, आर्थिक स्थिति से इन्हें फायदा मिला। इन जातियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता और जनआधारित राजनीति की प्रकृति के कारण धीरे-धीरे पिछड़ी जातियां भी राजनीतिकरण की प्रक्रिया में शामिल हुईं। 1990 में मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद बनी स्थितियों ने बिहार को सामाजिक रूप से अगड़े-पिछड़ों के खानों में बांट दिया। इसका नाम उठाने के लिए राजनीतिक रूप से कुशल नेतृत्व की जरूरत थी। लालू प्रसाद ने इस कमी को पूरा किया। अपने तीखे ऊंची जाति-विरोधी अंदाज से लालू ने पिछड़ों की अस्मिता के सवाल को मुख्य मुद्दा

बना दिया। राजनतिक सत्ता ने पिछड़ों में आत्म-सम्मान की भावना जगा दी, इससे लालू प्रसाद की राजनीतिक स्थिति मजबूत हुई। पिछड़ों की राजनीतिक चेतना और आगे बढ़ी, जब एक अन्य पिछड़ी जाति (कुर्मी) के नेता ने यादव वर्चस्व के खिलाफ विद्रोह कर दिया। पिछड़ों में राजनीतिक चेतना और सत्ता की आकांक्षा बढ़ने का नतीजा यह निकला कि बिहार की राजनीति में ऊंची जातियों की वर्चस्वशाली भूमिका पीछे चली गई। अब वे पिछड़ी जातियों की सहायक मात्र रह गई। नेतृत्व अब पिछड़ी जातियों के हाथों में चला गया। यह एक रुचिकर तथ्य है कि फरवरी 2005 और अक्टूबर-नवंबर 2005 दोनों ही विधान सभा चुनावों में जो तीन प्रमुख मोर्चे चुनावी मैदान में थे, उनका नेतृत्व पिछड़ी जातियों या दलित नेताओं के हाथों में था। अक्टूबर-नवंबर 2005 में नीतीश कुमार के नेतृत्व में नई सरकार का गठन पिछड़ी जातियों की राजनीति के नये आयाम का प्रतीक है। यह सत्ता पर एक पिछड़ी जाति (यादव) के समृद्ध तबके के वर्चस्व के खिलाफ अन्य पिछड़ी जातियों का विद्रोह था। पिछड़ों के उभार की राजनीति के संदर्भ में एक रोचक तथ्य यह है कि इस परिघटना से सामंजस्य ना बिठा पाने के कारण राज्य में कांग्रेस और वामदलों (भाकपा-माकपा) का आधार लगातार सिकुड़ता चला गया।

दूसरा, नब्बे के दशक में बिहार में पिछड़ों के राजनीतिक उभार ने सांप्रदायिक एजेंडे को बिहार की राजनीति में पैर नहीं जमाने दिया। रजनी कोठारी ने सांप्रदायिकता की राजनीति के खिलाफ पिछड़ी और दलित जातियों की राजनीति

को कारगर हथियार माना है। सन् नब्बे के बाद की बिहार की राजनीति कोठारी के इस विचार को पूरी तरह सार्थक करती है। नब्बे के दशक में देश के विभिन्न भागों में सांप्रदायिक राजनीति अपने उफान पर थी। लेकिन बिहार में सांप्रदायिक राजनीति का वैसा उफान नहीं दिखा। यहां भाजपा की बहुमतवादी (हिन्दुवादी) राजनीति अपनी पैठ नहीं जमा पाई। दरअसल, सन् नब्बे के बाद बिहार में जाति की अस्मिता बहुत हावी रही। इसने सांप्रदायिकता की राजनीति को पैर नहीं फैलने दिया। इसमें लालू प्रसाद की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। लालू प्रसाद की सांप्रदायिकता विरोधी राजनीति के कारण बिहार सांप्रदायिक दंगों की आग से बचा रहा। शुरुआती दौर में विधानसभा में अपनी सरकार के बहुमत के लिए लालू प्रसाद भाजपा के समर्थन के मोहताज थे। इसके बावजूद, लालू ने अक्टूबर, 1990 में अडवाणी की रथ यात्रा रोक दी। इसी तरह 1992 में बाबरी मस्जिद को ढहाए जाने के बाद उन्होंने बिहार को दंगा मुक्त रखा। लालू प्रसाद को चुनौती देने वाले कुर्मी जाति के नेता नीतीश कुमार ने भाजपा से चुनावी गठबंधन किया। लेकिन बिहार में इस गठबंधन के राजनीतिक एजेंडे पर सांप्रदायिक मुद्दे हावी नहीं हो पाए। भाजपा अपना सांप्रदायिक एजेंडा ठंडे बस्ते में डालने के लिए मजबूर हो गई।

तीसरा, सन् नब्बे के बाद से 2005 तक की राजनीति में एक महत्वपूर्ण आयाम यह रहा कि मुस्लिमों में भी अगड़ी-पिछड़ी जातियों का सवाल उभर कर सामने आने लगा। 1990 के बाद की राजनीति में मुस्लिम मुख्यतः लालू प्रसाद से जुड़े रहे। इसके कई कारण

थे। पहला, 1989 में हुए भागलपुर के दंगे और बाबरी मस्जिद के विध्वंस ने कांग्रेस से मुस्लिमों का मोह भंग कर दिया। दूसरा, लालू प्रसाद ने 1990 में आडवाणी की रथ-यात्रा रोककर और दंगामुक्त समाज का वायदा कर मुस्लिमों का विश्वास जीता। यही उनके तथाकथित 'माई' (मुस्लिम-यादव) समीकरण का आधार भी बना। नब्बे के दशक में बिहार की राजनीति में मुस्लिमों का रूख तय करने में भाजपा की बहुसंख्यकवादी राजनीति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन नब्बे के दशक के अंत तक मुस्लिमों के भीतर भी पिछड़ी जातियों का समूह एकजुट होने लगा। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व से लेकर आर्थिक फायदे तक सारे फायदों पर अगड़े मुस्लिमों का कब्जा है। यद्यपि पसमांदा मुस्लिमों की जागरूकता ने मुस्लिम समुदाय की वोट डालने की प्रवृत्ति को बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं किया। लेकिन यह मुस्लिम समुदाय में भी पिछड़ी जातियों के गोलबंद होने का संकेत अवश्य है।

चौथा, 1990 के बाद बिहार की राजनीति में लोकलुभावनवादी मुहावरों का प्रयोग बढ़ा। लोकलुभावनवाद को एक गैर-जिम्मेदाराना राजनीति माना जाता है। फिर भी, इसका सकारात्मक पक्ष यह है कि इसने लोकतंत्र को आम आदमी के लिए आम-फहम बनाया। बिहार में 1960 के दशक के अंतिम वर्षों से ही विभिन्न राजनेताओं ने पॉपुलिस्ट मुहावरों का प्रयोग करना शुरू कर दिया एवं नब्बे के दशक में इसका प्रयोग और भी तेज हो गया। अगड़ी जातियों के प्रति तीखा विरोध जताकर, पिछड़ी जातियों के नेताओं की मूर्तियां लगवाकर

और विकास के वायदे कर लालू प्रसाद ने विभिन्न पिछड़ी जातियों को अपने पक्ष में करने की रणनीति अपनाई। इसका सकारात्मक पक्ष यह था कि इससे अब विभिन्न जातियां खुले रूप से राजनीतिक दलों से अपने हितों के लिए सौदेबाजी करने की स्थिति में आ गई। लेकिन इसने भूमि सुधार और विकास के बुनियादी मुद्दों की उपेक्षा की। जाति आधारित प्रतीकों के आधार पर की जाने वाली राजनीति से तात्कालिक चुनावी समर्थन जुटाया जा सकता है, लेकिन आर्थिक विकास और राजनीति सत्ता में भागीदारी जैसे तथ्यों की उपेक्षा करके स्थाई समर्थन को तैयार नहीं किया जा सकता है। बिहार की राजनीति ने लालू प्रसाद के नेतृत्व में पिछड़ों के उभार ने राजनीतिक सत्ता से अगड़ों के वर्चस्व को खत्म किया, लेकिन यह किसी समानतावादी राजनीति का आधार तैयार करने में नाकाम रहा।

पांचवां, बिहार में भूमि सुधारों के आधे-अधूरे क्रियान्वयन के कारण बिहार के समाज की स्थिति अर्द्धसामंती ही रही। अब भी समाज के कई लोगों के पास बहुत अधिक जमीन है, जबकि जनसंख्या का एक बड़ा भाग भूमिहीन के रूप में अमानवीय और शोषणयुक्त जिन्दगी बिताने के लिए मजबूर है। नब्बे के दशक में संसदीय राजनीति से दूर अर्द्धसामंती समाज की विडंबनाओं के खिलाफ संघर्ष की राजनीति कायम रही। नब्बे के दशक में नक्सलवादियों और भूमिपतियों की निजी सेनाओं के बीच संघर्ष और तेज हुआ। इसने कई अमानवीय नर संहारों को जन्म दिया।

छठा, नब्बे के दशक में बिहार की अर्थव्यवस्था की जड़ता बहुत अधिक

बढ़ गई। राज्य विकास के सभी पायदानों पर पिछड़ता चला गया। वास्तव में, इसे नब्बे के दशक के पहले की राजनीतिक अर्थव्यवस्था की गतिशीलता का अगला पड़ाव माना जा सकता है। बिहार की अर्थव्यवस्था कई दशकों से जड़वत स्थिति में है। देश के दूसरे भागों के विकास में यहां के खनिज संसाधनों का उपयोग किया गया, लेकिन बिहार का कोई विकास नहीं हुआ। लालू-राबड़ी दौर में एक नई विडंबना यह शामिल हुई कि राज्य का प्रशासन आर्बिट्रि राशि को खर्च करने में नाकाम रहा। राज्य में बुनियादी सुविधाओं का अभाव हो गया। अर्द्धसामंती समाज में बाहुबल सामाजिक प्रतिष्ठा और वैधता का आधार बन गया। समाज में हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ी। सन् 2000 में झारखंड बनने के बाद राज्य की आर्थिक स्थिति और कमजोर हो गई, क्योंकि खनिज पदार्थों वाला क्षेत्र झारखंड राज्य में चला गया।

सातवां, नब्बे के बाद बिहार की राजनीति में अपराधियों के वर्चस्व में भी बढ़ोतरी हुई। 1970 के दशक से ही राजनेताओं द्वारा बूथ कब्जा करने और अपने विरोधियों को डराने-धमकाने के लिए अपराधियों का प्रयोग किया जाने लगा था। लेकिन नब्बे के दशक में ये खुलकर राजनीति में अपनी भूमिका निभाने लगे। इसके पीछे राज्य के प्राधिकार की वैधता का क्षय होना मुख्य कारण था। राज्य लोगों को किसी प्रकार की सुरक्षा देने में नाकाम रहा। राज्य में बढ़ती हिंसा, अपहरण आदि की घटनाओं ने राज्य के लोगों में असुरक्षा की भावना भर दी। ऐसे में, ये अपराधी नेता स्थानीय स्तर पर अपनी जाति के हितों के संरक्षक

के रूप में उभरे। राज्य स्तरीय नेताओं ने इन क्षेत्रों में जनता से सीधे जुड़ाव रखने की जगह इन नेताओं के मार्फत वोट इकट्ठा करना शुरू कर दिया। इससे अपराधी-नेताओं की वैधता बढ़ी।

आठवां, सन् 1990 के बाद की बिहार की राजनीति में पिछड़ी जातियों का उभार हुआ, लेकिन अति पिछड़ी जातियां सत्ता के मुख्य केंद्र में नहीं आ पाईं। इसी तरह समाज के दूसरे कमजोर तबके दलित, महिलाएं और मुस्लिम हाशिए पर ही रहे। अति या निम्न पिछड़ी जातियों ने लालू की ऊंची जाति विरोधी पिछड़ावादी राजनीति का समर्थन किया, लेकिन लालू-राबड़ी के शासन में न तो इन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिला और न ही उनका आर्थिक भला हुआ। सत्ता में हिस्सेदारी की इनकी चाह ने इन्हें लालू प्रसाद के खिलाफ नीतीश कुमार से जुड़ने को प्रेरित किया। लेकिन विभिन्न छोटी-छोटी अति पिछड़ी जातियों को राजनीति में पर्याप्त हिस्सेदारी देना एक चुनौतीपूर्ण काम है। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि बिहार की राजनीति में दलितों का उस तरह उभार नहीं हुआ जैसा कि 1990 के दशक में उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी के नेतृत्व में हुआ। उत्तर प्रदेश की तरह बिहार में भी दलितों की अधिकांश जनसंख्या गरीबी और अशिक्षा से त्रस्त है। लेकिन बिहार और उत्तर प्रदेश की स्थिति में बुनियादी फर्क है। बिहार में दलितों की राजनीति करने वाली कोई ऐसी राजनीतिक पार्टी सामने नहीं आई जैसे कि उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी है। नब्बे के दशक में बसपा ने उत्तर प्रदेश में दलितों की पहचान की राजनीति को बढ़ावा देकर

उन्हें एकजुट करने में सफलता हासिल की। बिहार में ऐसा नहीं हुआ। हालांकि रामविलास पासवान की नेतृत्व वाली लोक जनशक्ति पार्टी ने ऐसी संभावना जताई है।

इसके अलावा बिहार में निम्न पिछड़ी जातियों और दलितों की तरह ही महिलाओं की स्थिति भी दयनीय ही है। बिहार की राजनीति में महिलाएं हाशिए पर ही पड़ी हुई हैं। सन् 1990 से अक्टूबर 2005 के चुनावों तक आधे से ज्यादा समय तक राज्य की मुख्यमंत्री एक महिला रहीं, लेकिन राबड़ी देवी महिलाओं के सशक्तिकरण की जगह लालू प्रसाद के परिवारवाद की प्रतीक अधिक थीं। बिहार की राजनीति में महिलाएं अपनी स्वतंत्र भूमिका नहीं तलाश पाई हैं। आमतौर पर ये पति, पिता या परिवार के किसी दूसरे पुरुष के निर्देशों से संचालित होती रही हैं। पंचायतों में महिलाओं को आरक्षण देना एक सकारात्मक कदम है। इसमें महिलाओं की राजनीतिक सक्रियता बढ़ने की उम्मीद की जा सकती है।

निष्कर्ष: बिहार में लालू प्रसाद, नीतीश कुमार और रामविलास पासवान जैसे पिछड़े व दलित नेता मुख्य राजनीतिक धुरी हैं, वहीं भाजपा में भी सुशील कुमार मोदी की तूती बोलती है। इस तरह बिहार की राजनीति में आगामी कुछ वर्षों तक तो निश्चित ही ऊंची जातियों को परदे के पीछे राजनीतिक भागीदारी निभाने को मजबूर कर दिया है। स्पष्टतः 1990 के दशक के बाद बिहार के राजनीतिक परिदृश्य में सबसे बड़ा बदलाव यह आया है कि यहां सत्ता की राजनीति से ऊंची जातियों के वर्चस्व की विदाई हो गई है। बिहार की राजनीति

वर्तमान में बिहार की जातिवादी राजनीति के द्वितीय (नव धनाढ्य पिछड़ी जाति) व तृतीय विकल्प (अत्यंत पिछड़ी जाति व दलित) को ही चुनने को विवश है, जो बिहार की राजनीति में पिछड़े, अत्यंत पिछड़े व दलितों की बढ़ती राजनीतिक भागीदारी व राजनीतिक जागरूकता का द्योतक है। लोहिया ने कहा था, “संख्या बल के अभाव में सिद्धांत नपुंसक बना रहता है और सिद्धांत बल के अभाव में संख्या बल राक्षस बन जाता है। जिस वर्ग की संख्या है, उन्हें नेतृत्व देना होगा।” यही युग की पुकार है और इसके द्वारा ही जातियों में सहयोग व समन्वय का विकास कर लोकतंत्र को सफल बनाया जा सकता है। किसी भी राज्य या राष्ट्र की उन्नति-समृद्धि तभी संभव है जब उस राज्य या राष्ट्र के सभी जाति व समुदाय की सहभागिता समान रूप से प्रत्येक क्षेत्र में हो।

संदर्भ सूची

1. एस. एम. सईद—भारतीय राजव्यवस्था।
2. योगेन्द्र यादव—कायापलट की कहानी: नया प्रयोग, नयी संभावनाएं, नये आदेश, संकलित अभय कुमार दूबे (सं) लोकतंत्र के सात अध्याय, वाणी प्रकाशन, सी. एस. डी. एस., नई दिल्ली, 2002, पृ. 44.
3. जी. एस. धुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन, पोपुलर बुक डिपो, बाम्बे, 1969, पृ. 11.
4. रजनी कोठारी—कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स।
5. 2005 निर्वाचन आयोग अधिसूचना (बिहार विधानसभा चुनाव)।
6. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद—आत्मकथा।
7. स्वामी सहजानंद—मेरा जीवन संघर्ष

8. हिन्दुस्तान समाचार पत्र।
9. एडमंड आर. लीच—इन्ट्रोडक्शन: व्हाट शुड बी मीन बाई कास्ट? संकलित ई. आर. लीच (सं.) आसपेक्ट ऑफ इन साउथ इण्डिया, सीइलोन एण्ड वेस्ट पाकिस्तान, कैम्ब्रिज, इंग्लैण्ड, 1960, पृ. 11-12.
10. मैक्स वेबर—क्रास स्टेट्स एण्ड पार्टी, संकलित, दीपांकर गुप्ता (सं.) सोशल स्ट्राटिफिकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1991, पृ. 455.
11. दीपांकर गुप्ता—कास्ट, इन्फ्रास्ट्रक्चर एण्ड सुपर स्ट्रक्चर: कक्रिटिक इकोनोमिक एण्ड पालिटिकल वीकली, 19 दिसंबर, 1981 पृ. 2093.
12. कांचा इलैय्या—टूवार्ड्स दलिताइजेशन ऑफ द नेशन, संकलित, पार्थ चटर्जी (सं.) द वेवेज ऑफ फ्रीडम: फिफ्टी इयर्स ऑफ द इण्डियन नेशन—स्टेट ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1998, पृ. 274.
13. ए. एन. श्रीनिवास—आधुनिक भारत में समाज परिवर्तन, पृ. 121.
14. Caste, Race and Discrimination : Discourses in International Context/edited by Sukhadeo Thorat and Umakant.
15. Cut-Outs, Caste and Cine Stars : The World of Tamil Politics/Vaasanthi.

एम.ए. (राजनीति शास्त्र),
बी.एड., एल-एल.बी., बेट ग्राम-बलुआ
बसंता, पोस्ट-घटारो, लालगंज (वैशाली)
एवं कुमार चन्द्रमोहन (एम.ए.,बी.एड.,
बेट) ग्राम-चकभिखी, पोस्ट-पुरुषोत्तमपुर,
जिला-मुजफ्फरपुर

संवैधानिक संरक्षण एवं मानवाधिकार सुरक्षा: जनजातियों पर इसका प्रभाव

डॉ. शैलेन्द्र कुमार सिंह

मानवाधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने विश्व के सभी राष्ट्रों के साझा लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया था। 1946 में मानवाधिकार आयोग का सृजन हुआ और सितंबर 1948 में आयोग ने मानवाधिकार घोषणा-पत्र का प्रारूप संयुक्त राष्ट्र महासभा को सौंपा। महासभा ने उसी वर्ष 10 दिसंबर को मानवाधिकारों के विश्व घोषणा-पत्र को स्वीकार कर लिया और इसके साथ ही मानवाधिकारों का संहिताबद्ध दस्तावेज अस्तित्व में आ गया।

वर्तमान युग में संगठित रूप में भारत में नागरिक अधिकार आंदोलन की शुरुआत स्वतंत्रता से पूर्व ही हो गई थी। इसके गठन में जवाहर लाल नेहरू की प्रमुख भूमिका रही थी, परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् कुछ ही वर्षों के भीतर सीएलयू निष्क्रिय हो गया और अंततः इसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। सीएलयू के अस्तित्व की समाप्ति के पीछे नेहरू एवं अन्य नेताओं की विचारधारा थी। इन नेताओं का विचार था कि स्वतंत्रता मिल जाने और लोकतांत्रिक संविधान लागू हो जाने के बाद नागरिक अधिकार आंदोलन की आवश्यकता नहीं रह गई है।

साठ के दशक में कुछ अन्य संगठन अस्तित्व में आए जिनका उद्देश्य मानवाधिकारों की रक्षा करना था। इनमें पश्चिम बंगाल में एसोसिएशन फॉर द प्रोटेक्शन ऑफ डेमोक्रेटिक राइट्स (एपीडीआर), आंध्र प्रदेश में आंध्र प्रदेश सिविल लिबर्टीज कमेटी (एपीसीएल) और पंजाब में एसोसिएशन

फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (एएफडीआर) प्रमुख हैं। इन संगठनों ने ग्रामीण इलाकों में दमन और शोषण के प्रश्न उठाए और राज्य की शक्ति से संघर्ष भी किया।

भारत में राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम मानवाधिकार संगठन लोकनायक जयप्रकाश नारायण की पहल और प्रेरणा से 1975 में बना। इसका नाम पीपुल्स यूनियन फॉर लिबर्टीज एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स रखा गया। आपातकाल के खिलाफ संघर्ष में इस संगठन की महत्वपूर्ण भूमिका रही परंतु आपातकाल की समाप्ति के साथ ही यह संगठन निष्क्रिय हो गया। 1980 में पीयूसीएल और पीयूडीआर नाम के दो संगठन अस्तित्व में आए। इसके पश्चात् देश के विभिन्न इलाकों में कई और मानवाधिकार संगठन बने जो आज भी सक्रिय हैं।

मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 की धारा (घ) के अनुसार मानव अधिकारों से तात्पर्य संविधान द्वारा प्रत्याभूत अथवा अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में अंतर्निहित उन अधिकारों से है जो जीवन, स्वतंत्रता, समानता एवं प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा से संबंधित तथा जो भारत के न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं। अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा से आशय संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 16 दिसंबर, 1966 को स्वीकृत अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा से है।

सामान्य शब्दों में कहा जाए तो मानवाधिकारों से तात्पर्य ऐसे अधिकारों से है जिनका अधिकार प्रत्येक मानव को है और जिसकी रक्षा आवश्यक है। ये अधिकार मानवीय गरिमा का आधार हैं और इनके पीछे अंतर्निहित धारणा यह है कि विश्व के सभी लोगों के साथ व्यवहार करते समय उनके इन अधिकारों की रक्षा होनी ही चाहिए।

भारतीय संविधान में यह परिकल्पित किया गया है कि हम ऐसी सामाजिक व्यवस्था बनायेंगे जिससे सभी को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो। असमानताओं को कम करने का प्रयास किया जाएगा जिससे सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और नीति-निर्देशक तत्वों में हमारे संविधान का मूल बताया गया है। ये मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के बुनियादी सिद्धांतों को प्रदर्शित करते हैं। संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित चार मूल सिद्धांत हैं—न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों का सात समूहों में

वर्गीकरण किया गया है—समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार, संपत्ति का अधिकार एवं संवैधानिक उपचारों का अधिकार। हालांकि 44वें संविधान संशोधन द्वारा संपत्ति के मौलिक अधिकार को कानूनी अधिकार बना दिया गया है। संविधान में भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा सरकारों के लिए राज्य के नीति संबंधी निर्देश दिए गए हैं।

यद्यपि संविधान के भाग-3 के अंतर्गत कुछ प्रतिबंधों के साथ मूल अधिकार सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त हैं। किंतु संविधान के भाग 16 में अनुच्छेद-330 से 342 तक कुछ वर्गों से संबंधित विशेष उपबंध किये गये हैं। इन उपबंधों का उद्देश्य सभी अल्पसंख्यक एवं कमजोर वर्गों को प्रशासन में प्रतिनिधित्व प्रदान करना था।

अनुच्छेद-330 द्वारा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को लोकसभा में विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है। संविधान सभा में अल्पसंख्यकों के संरक्षण के विषय में हो रहे वार्तालाप में श्री अयंगर तथा अय्यर की मान्यता थी कि अल्पसंख्यकों के हित तथा भौगोलिक भावना को ध्यान में रखते हुए उन्हें प्रशासन में स्थान दिया जाए। इस अनुच्छेद में आसाम की अनुसूचित आदिम जातियों को प्रधानता दी गई। अनुच्छेद-330 (2) में यह व्यवस्था की गई है कि उस राज्य या संघ राज्य क्षेत्र में जितनी जनसंख्या अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की होगी, उसी के अनुपात में उनके लिए स्थान आरक्षित होगा।

अनुच्छेद-332 में इसी प्रकार राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किया गया है।

अनुच्छेद-334 में यह व्यवस्था की गई कि यह आरक्षण संविधान प्रारंभ होने के 10 वर्ष तक के लिए किया जा रहा है। संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि दस वर्षों में ये पिछड़े हुए वर्ग अपने स्तर को सामान्य जनता के स्तर तक पहुंचाने में सफल हो सकेंगे।

अनुच्छेद-335 में प्रावधान किया गया कि संघ या राज्यों के कार्यों में प्रशासन की कार्यपटुता बनाए रखने के लिए अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। इस व्यवस्था के पीछे मुख्य भावना यह थी कि ये समुदाय अपनी स्थिति को जितना स्पष्ट रूप से देश के सामने रख सकेंगे, उतना अन्य सदस्य नहीं रख सकेंगे। इस प्रकार उनके विचारों के आधार पर ही उनके स्तर को समाज की अन्य जातियों के स्तर तक पहुंचाने का सफल प्रयास किया जा सकेगा।

अनुच्छेद-338 के अंतर्गत प्रावधान है कि एक अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित आदिम जाति का पदाधिकारी राष्ट्रपति द्वारा चुना जाएगा तथा इस पदाधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह संविधान के अंतर्गत की गई प्रत्येक व्यवस्था के बारे में राष्ट्रपति को सूचित करेगा तथा राष्ट्रपति उसके द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखेगा। इन रिपोर्टों द्वारा पिछड़ी हुई इन जातियों में होने वाली प्रगति का पूर्ण अनुमान लगता रहेगा तथा उनके

विषय में किसी और तरह से प्रगति की जा सकती है, इस पर भी भविष्य में विचार हो सकेगा।

अनुच्छेद-339 के अनुसार अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए राष्ट्रपति किसी आयोग की नियुक्ति कर सकता है तथा इस आयोग की रचना शक्तियों के संबंध में राष्ट्रपति ही आदेश दे सकता है। साथ ही संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उसी आधार पर किया जा सकेगा, जिस आधार पर वह राज्यों को दिए गए अनुसूचित जनजातियों के लिए निर्देश को कार्यान्वित करेगा।

अनुच्छेद-342 के अंतर्गत राष्ट्रपति को यह निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है कि कौन-सी जातियां अनुसूचित जनजातियों के अंतर्गत आती हैं। संसद इन जातियों को अपनी अनुमति द्वारा स्थायित्व प्रदान कर सकती है।

संवैधानिक संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से संविधान के आठवां, तेईसवां, पैतालीसवां, बासठवां एवं उन्नीसवां संशोधन अधिनियम के द्वारा अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं एंग्लो इंडियंस के लिए लोक सभा और विधान सभाओं में सीटों का आरक्षण क्रमशः दस-दस वर्षों के लिए बढ़ाया गया, जिसके अनुसार 2010 तक इन वर्गों के लिए आरक्षण का प्रावधान कर दिया गया है।

49वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम 1984 के द्वारा त्रिपुरा विधान मण्डल तथा संसद को त्रिपुरा के जनजाति क्षेत्रों तथा परिषद् के संबंध में नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है। 51वें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद-330 में संशोधन

कर मेघालय, नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम की अनुसूचित जनजातियों के लिए संसद में स्थान आरक्षित किये गये हैं। साथ ही स्थानीय जनजाति की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अनुच्छेद-332 में संशोधन करके नागालैण्ड और मेघालय की विधानसभाओं में भी इस तरह का आरक्षण किया गया है। 57वें संशोधन अधिनियम 1987 के द्वारा 51वें संशोधन अधिनियम, 1984 में पूर्वोत्तर राज्यों के जनजातियों के लिए किये गये प्रावधान को और अधिक प्रभावी बनाया गया है।

संविधान के 65वें संशोधन अधिनियम, 1990 के द्वारा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को संवैधानिक संरक्षण प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। 72वें संशोधन अधिनियम, 1992 के द्वारा त्रिपुरा राज्य विधान सभा में अनुसूचित जनजातियों के लिए अस्थायी रूप से सुरक्षित सीटों की संख्या निर्धारित की गई।

77वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1995 के तहत एक महत्वपूर्ण संवैधानिक संरक्षण प्रदान करते हुए सरकार ने सरकारी सेवाओं में प्रोन्नतियों में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों का कोटा सुरक्षित की है।

संविधान के 81वें संशोधन अधिनियम, 2000 के अनुसार अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित बकाया रिक्तियों को आरक्षण की 50 प्रतिशत सीमा से बाहर रखने का प्रावधान किया गया है। 82वें संशोधन के अंतर्गत पदों पर पदोन्नति

देने के लिए अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के पक्ष में किसी परीक्षा के अर्हता अंकों में अथवा मूल्यांकन स्तरों में नरमी बरतने के लिए व्यवस्था की गई है।

अरुणाचल प्रदेश की पूर्ण जनसंख्या चूँकि जनजातीय है इसलिए 83वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2000 के अनुसार अरुणाचल प्रदेश में पंचायतों में अनुसूचित जातियों के पक्ष में सीट आरक्षण से छूट है।

85वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 2002 के द्वारा सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के अभ्यर्थियों के लिए पदोन्नतियों में आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

89वें संशोधन अधिनियम, 2003 के तहत अनुसूचित जनजातियों के लिए पृथक राष्ट्रीय आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है। 90वें संशोधन के अनुसार असम की विधान सभा में बोडोलैण्ड टेरीटोरियल एरियाज डिस्ट्रीक्ट में सम्मिलित चुनाव क्षेत्र के प्रतिनिधित्व से संबंधित व्यवस्था की गई है।

संविधान के 94वें संशोधन अधिनियम, 2006 के अनुसार मध्य प्रदेश, उड़ीसा के साथ-साथ छत्तीसगढ़ एवं झारखंड को सम्मिलित कर अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए एक मंत्री का प्रावधान किया गया है।

इन व्यापक प्रभाव वाले संवैधानिक संरक्षणों के साथ-साथ सरकारें भी अनुसूचित जनजातियों के संरक्षणार्थ-कल्याणार्थ समय-समय पर कानून बनाकर योजनाओं का संचालन करती रही है।

संविधान एवं सरकार प्रायोजित इन तमाम संरक्षणों के बावजूद रोटी के अभाव में भूखे पेट सोना, ईलाज के अभाव में अकाल ही काल की गोद में समा जाना आदिवासी क्षेत्रों की कड़वी सच्चाई है। अपनी पारंपरिक अर्थव्यवस्था जो कि पूर्णतः वनों पर आधारित थी, के छिन्न-भिन्न हो जाने से वे दर-दर की ठोकें खाने को विवश हैं। घने जंगल एवं वन्य प्राणी जिनसे वे मनोवैज्ञानिक रूप से जुड़े थे और जो उनके जीवन-यापन के आधार थे, अब नष्ट हो गए हैं। इस प्रक्रिया से जहां एक ओर प्राकृतिक संतुलन बिगड़ा है वहीं दूसरी ओर आदिवासी और ज्यादा गरीब और असहाय हुए हैं। उनकी हस्तकला क्षीण हो गई है, संगीत एवं नृत्य जो उनके आनंद एवं उत्सव के साधन थे, अब कहीं दिखाई नहीं देते। 60 वर्षों के विकास के प्रतिफल में यदि आदिवासियों को कुछ मिला है तो वह है विस्थापन और पलायन। विस्थापन विकास के नये मंदिरों से उपजी समस्या है जिसने पलायन को और अधिक बढ़ाया है। आदिवासियों को जल, जंगल, जमीन और पहाड़ों से बेदखल कर बहुराष्ट्रीय कंपनियां खनिजों का दोहन कर रही हैं, लेकिन वे कंगाल बने हुए हैं। इससे उनमें क्षोभ एवं आक्रोश भी है।

पलायन एवं बेरोजगारी की समस्या एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। इस समस्या से आदिवासी समुदाय को निजात दिलाने के लिए सरकार एवं स्वयंसेवी संस्थाएं विगत छह दशकों से दृढ़ संकल्पित हैं, किंतु आज भी आदिवासी समाज विकास की मुख्य धारा में सम्मिलित नहीं हो सका है। पलायन के कारण आदिवासी

समुदाय को कई समस्याओं यथा-पशुधन, गहने एवं भूमि को बेचना या गिरवी रखना, अपनों से दूर होना, जहां काम मिला उस व्यवस्था द्वारा शोषण आदि का सामना करना पड़ता है।

आदिवासी लोगों की जनसंख्या भारत में 8 करोड़ से अधिक है। दुनिया में 30 करोड़ आदिवासी समाज की आबादी में 8 करोड़ यानी भारत की कुल आबादी का 8 प्रतिशत की चिन्ता का सवाल है। राज्य के उन सभी अधिकारों का हक आदिवासी समाज को है जो मुख्य धारा के लोगों को राज्य प्रदान करता है।

हम आज भी उस देशज समाज को पूरी तरह समझ पाने में सफल नहीं हो सके हैं। जब तक हम इस आदिम समुदाय के प्रति सम्मान एवं उसकी गरिमा का ख्याल नहीं करेंगे, तब तक हम उस समुदाय के प्रति न्याय करने में सक्षम नहीं हो सकते हैं। दुनिया के मानवाधिकारवादियों ने यद्यपि यह महसूस किया कि “इण्डीजेनस पीपुल्स” के मानवाधिकार के प्रश्न उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने मुख्य धारा के लोगों या स्वघोषित सभ्य समाज को मानवाधिकार का प्रावधान है।

आदिवासी जातियां अंधविश्वास एवं रूढ़िवादिता के कारण शिक्षा के महत्व को नहीं समझ सकी हैं। सारे सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयासों के बावजूद इनमें साक्षरता का प्रतिशत चिन्ताजनक है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की साक्षरता 47.10 प्रतिशत है जो कि भारत की कुल साक्षरता 64.84 प्रतिशत से काफी कम है। अनुसूचित जनजाति की महिलाओं की साक्षरता तो और भी सोचनीय है।

यद्यपि केंद्र सरकार ने शिक्षा के लिए ही अनुसूचित जनजाति के लड़के एवं लड़कियों की छात्रावास योजना 1990-92 संचालित की तथा 14 जनजातीय अनुसंधान संस्थानों को अनुदान दिए जाने का प्रावधान किया। गैर सरकारी संस्थानों को सहायता प्रदान करने हेतु 1953-54 में ही योजनाओं को गति देकर शैक्षिक स्तर ऊंचा करने की कोशिश की। वर्ष 1993-94 में राज्यों के कुल 136 जिलों को 10 प्रतिशत से कम साक्षरता वाले जिले के रूप में चिन्हित किया। जनजातीय क्षेत्रों में सरकार ने 1992-93 में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रारंभ किया और मैनेजमेन्ट, मेडिकल, इंजीनियरिंग की पढ़ाई डिग्री स्तर पर 127 संस्थानों में प्रारंभ की गई। मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्ति की स्कीम से लेकर उच्च शिक्षा में राजीव गांधी फ़ैलोशिप आदि अनेक प्रावधान किए। किंतु जमीनी स्तर पर जो कार्य जिला मॉनीटरिंग एजेन्सीज द्वारा होते हैं वहां कार्य से जरूर असंतोष हैं, क्योंकि यदि आदिवासी समाज अपने शिक्षा के अधिकार व महत्व को अब तक नहीं समझ पाया तो कोई-न-कोई दोषी जरूर है।

भारतीय संविधान एवं अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार उद्घोषणाओं से प्रेरित होकर संसद द्वारा मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 पारित किया गया और अधिनियम के अनुपालन में उसी वर्ष मानवाधिकार आयोग का गठन किया गया। मानव मात्र के सर्वांगीण विकास के लिए मानव द्वारा मानव के शोषण को रोकने के लिए तथा मानवीय दुखों-पीड़ाओं को कम-से-कम करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय मानवाधिकार सतत प्रयत्नशील है।

जनजातियों के मानवाधिकारों की सुरक्षा तभी हो सकती है जब उसके लिए उपयुक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां हों। आदिवासियों के मानवाधिकारों के उल्लंघन का महत्वपूर्ण कारण आर्थिक संरचना, पूंजी एवं संसाधनों का कुछ हाथों में केंद्रीकरण होना है। उच्च एवं साधन संपन्न वर्ग के द्वारा आज भी अनुसूचित जनजाति के लोगों के मानवाधिकारों का खुले तौर पर उल्लंघन होता है। ईंट-भट्टों पर कार्य करने वाले मजदूर जो कि अधिकांश आदिवासी-जनजाति समुदाय के होते हैं इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

यही नहीं, आदिवासी लड़कियों की घरेलू नौकरानी के नाम पर बलात् तस्करी देश के अंदर ही नहीं बल्कि विदेशों के लिए भी धड़ल्ले से हो रहा है। गौरतलब है कि छत्तीसगढ़ के जशपुर जिले की आदिवासी लड़कियों की तस्करी का मामला पिछले दिनों देश के कई हिस्सों में सुर्खियों में आया था, जिसको लेकर राज्य विधान सभा में विपक्ष ने तीन दिनों तक वाक आउट किया था।

आदिवासियों ने जिस स्वतंत्र राजनीतिक पहचान, सत्ता में भागीदारी एवं तेजी से विकास के लिए अलग झारखंड राज्य की लड़ाई लड़ी आज वह सपना साकार होता दिखाई नहीं दे रहा है। प्रदेश की बागडोर आदिवासी नेताओं के हाथ होने के बावजूद आम आदिवासियों के जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। अपने निजी स्वार्थ के वशीभूत ये राजनीतिक नेता हर समय कुर्सी पाने एवं कुर्सी बचाने के खेल में ही व्यस्त रहते हैं।

जनजातियों से संबंधित छत्तीसगढ़ के एक नवीनतम घटनाक्रम का उल्लेख समीचीन होगा कि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने उच्चतम न्यायालय में सौंपी एक रिपोर्ट में नक्सलियों की गतिविधियों पर काबू पाने के लिए शुरू किये गये सलवा जुद्ध को लेकर छत्तीसगढ़ सरकार की सराहना की है। सलवा जुद्ध अभियान के तहत राज्य सरकार ने जनजातियों को नक्सलियों के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए हथियार दिये हैं। आयोग ने सलवा जुद्ध की तारीफ की है और अहिंसक सलवा-जुद्ध को हिंसक बनाने के लिए नक्सलियों को जिम्मेदार ठहराया है। आयोग का कहना है कि जनजातियों को आत्मरक्षा का अधिकार दिए जाने से इंकार नहीं किया जा सकता।

अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों की सुरक्षा एवं उन्हें समाज के मुख्य धारा से जोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासियों के बीच शैक्षणिक जागरण अभियान चलाया जाए। सरकार दुर्गम क्षेत्रों में शिक्षण संस्थान खोले। जनजातियों के विकास एवं संवैधानिक प्रावधानों को उच्च वर्गों के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाए एवं इनसे संबंधित शोध कार्यों को बढ़ावा दिया जाए। आदिवासियों के कल्याणार्थ चल रही सभी योजनाओं की सही ढंग से मॉनीटरिंग की जाए, ताकि उसका वाजिब लाभ इस समुदाय को मिल सके। ईट-भट्टों पर कार्य कर रहे आदिवासी समुदाय के युवक-युवतियों का शोषण रोकने के लिए प्रभावकारी कदम उठाया जाए। आदिवासी लड़कियों की तस्करी रोकने के लिए कानून को और सख्त बनाया जाए। आदिवासी समुदाय के राजनेताओं-रहनुमाओं को भी चाहिए कि

वे अपने समाज के दरिद्र एवं वंचित श्रेणी के लोगों को विकास के मुख्य धारा में लाने के लिए सार्थक प्रयास करें।

मानवाधिकार की सुरक्षा तभी हो सकती है जब उसके लिए उपयुक्त सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां हों। भारत में मानवाधिकार आंदोलन भले ही दो दशक पुराना हो गया हो, पर अभी यह शैशवावस्था में ही है।

जनजातियों के मानवाधिकारों के प्रति सरकार एवं भारत का शक्तिशाली वर्ग कागज पर या फिर भाषणों में चाहे कितनी भी अपनी प्रतिबद्धता क्यों न जाहिर करे, सत्य यह है कि वास्तविक जीवन में यह प्रतिबद्धता बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। अतः आदिवासियों के मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए आवश्यकता है जन जागरण की, अपने अधिकारों के प्रति चैतन्यता की और इन सबसे ऊपर सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के बदलाव की।

संदर्भ

1. प्ले एण्ड गोम्स आफ ट्राइबल इंडिया; कॉमनवेल्थ पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली।
2. ट्राइब इन ट्राइबल; इंटर इंडिया पब्लिकेशंस, न्यू दिल्ली।
3. डाइनेमिक्स ऑफ ट्राइबल डेवलपमेंट; कॉमनवेल्थ पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली।
4. भारत का संविधान।
5. “मानव अधिकार”; सुधारानी श्रीवास्तव, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
6. “ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट” 1990 ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली।

7. “सोशल डेवलपमेंट” 2006 ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली।
8. दैनिक हिन्दुस्तान, दैनिक जागरण, राष्ट्रीय सहारा एवं टाइम्स ऑफ इंडिया।
9. भारत का जनगणना प्रतिवेदन।
10. योजना, कुरुक्षेत्र पत्रिका।
11. Human Rights and Social Work : Issues, Challenges and Response/A.S. Kohli
12. Women and Human Rights/ N. Jayapalan.
13. Women and Human Rights/ M. Lakshmi Narasaiah
14. Women Movements and Human Rights/K. Kartikeya.
15. Women’s Human Rights/ Mohini Chatterjee.
16. Human Rights and Gender Violence : Translating International Law into Local Justice/Sally Engle Merry.
17. Women and Human Rights/ Lina Gonsalves.
18. The Human Rights Watch Global Report on Women’s Human Rights/Human Rights Watch Women’s Rights Project.
19. Human Rights-Twenty First Century Challenges/ edited by V.N. Viswanathan.

अवैतनिक व्याख्याता
राजनीति विज्ञान विभाग
गंगा सिंह महाविद्यालय, छपरा

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका

श्याम शरण

आजादी का संघर्ष बहुत व्यापक था। ऐसा नहीं है कि केवल राजनीतिक नेताओं ने ही आजादी के लिए संघर्ष और बलिदान किया। आजादी के इस संघर्ष में देश के सभी क्षेत्रों-अंचलों, सभी वर्गों, शिक्षित-अशिक्षित, युवक एवं बुजुर्ग, शहरी एवं ग्रामीण, व्यापारी, किसान और मजदूर, गृहस्थ एवं संन्यासी, पत्रकार, अखबार और पत्रकारिता सभी ने अपना योगदान दिया। कलम के इन सिपाहियों ने स्वतंत्रता के लिए अलख जगायी। जनता में जागृति पैदा की। संघर्ष और बलिदान का जज्बा पैदा किया। साथ ही आजादी के आंदोलन में कंधे से कंधा मिलाकर भाग लिया। अखबारों और पत्रकारों की तलाशी, जप्ती, जेल-जुर्माने के रूप में बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। कानून के नाम पर खड़े किये गये पहाड़ों से टकराना पड़ा। जुल्म, ज्यादती और कानून की आड़ में मनमानी और दमनचक्र का माकूल जवाब कलम के सिपाहियों ने दिया। अपनी लेखनी से प्रबल स्वतंत्र चेतना जगायी और देशवासियों में 'स्वतंत्रता जन्म सिद्ध अधिकार' को पाने का साहस एवं विश्वास पैदा किया। अन्यायी हुकूमत का मुकाबला कलम से करने की यह अनूठी और रोमांचकारी दास्तां है। अकबर 'इलाहाबादी' के शब्दों में:

“खींचो न कमानों को न तलवार निकालो,

जब तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो।”

भारत में आजादी के संघर्ष में पत्रकारिता के योगदान का दौर 1780 से शुरू होता है। कलकत्ता से देश का पहला अखबार एक विदेशी नागरिक जेम्स आगस्टस हिकी द्वारा निकाला गया था। तब ईस्ट इंडिया कंपनी का जमाना था। उस

अखबार का नाम था “बंगाल गजट और जनरल एडवर्टाइजर”। इसे ही “हिकीज गजट” कहते हैं। अखबार ने तत्कालीन गवर्नर जनरल और जनरल वारेन हैस्टिंग्स और कंपनी के अधिकारियों की मनमानी पर प्रहार किये। अखबार पर छापे पड़े, जुर्माने हुए, संपादक को जुर्माने और जेल की सजा हुई। फिर भी कलम चलती रही। आखिर जेम्स आगस्टस को भारत छोड़ना पड़ा। उसकी जहाज में ही मौत हो गयी। इसके बाद कलम के संघर्ष का रास्ता खुल गया।

इसके बाद 'बंगाल जरनल' (1785), 'द वर्ल्ड' (1791), 'टेलीग्राफ' (1796), 'कलकत्ता गजट' (1784) ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसरों की घूसखोरी या अन्य कारनामों के खिलाफ जमकर लिखा। किसी पर मुकदमे थोपे गये तो किसी के वितरण पर पाबंदी लगायी गयी। सेना में व्यापक असंतोष पर भी लिखा गया। इससे फिरंगी हुकूमत अखबारी आजादी की दुश्मन बन गयी। उसे जरा भी आलोचना बर्दाश्त नहीं थी। शायद उसे डर लगता था कि यदि जनता जाग उठी, तो उसका तख्ता पलट जाएगा। अंग्रेजों द्वारा संचालित अखबारों का भी दमन हुआ। लार्ड वेल्सले ने यहां तक किया कि 13 मई, 1799 को अखबारों के लिए एक पांच सूत्री नियमावली जारी कर दी। यह भारत में प्रेस पर कानूनी बर्दाश्त का पहला फरमान था। इसमें नियम तोड़ने वाले विदेशी पत्रकारों-प्रकाशकों को विदेश भेज देने का भी प्रावधान था। 1801 में 'कलकत्ता गजट' को आदेश दिया गया कि वह सेना की नियुक्तियों संबंधी कोई खबर नहीं छापे। द्वितीय अंग्रेज-मराठा युद्ध के समय अखबारों को हुकूम दिया गया कि जहाजों की आवाजाही के बारे में भी कोई खबर नहीं छापें।

9 अप्रैल, 1807 को आम सभाओं पर पाबंदी लगायी गयी, तब परचे बंटने लगे। गवर्नर जनरल लार्ड मिंटो ने अखबारों पर नयी पाबंदियां लगायी। 1813 में नये नियम बनाकर अखबारों पर शिकंजा ज्यादा सख्त कर दिया गया। यह पहला सेंसर था। इस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी का शिकंजा अखबारों पर बना रहा। 1818 में बंगला, 1822 में गुजराती, उर्दू-फारसी अखबार निकले। 1823 में नये गवर्नर जनरल जान एडम ने तो अखबारी आजादी का गला ही घोट दिया। उसी ने प्रेस के लिए लाइसेंस प्रणाली लागू की। अध्यादेश द्वारा नये सख्त

नियम लागू हुए, तो राजा राम मोहन राय ने उनका विरोध किया। इस पर उनका फारसी साप्ताहिक 'मिरात-उल-अखबार' 4 अप्रैल, 1823 को बंद कर दिया गया। अध्यादेश के खिलाफ जब आंदोलन शुरू हुआ, तो गवर्नर जनरल चार्ल्स मेटकाफ ने अध्यादेश खत्म कर दिया, लेकिन सजा और जुर्माने का प्रावधान जारी रहा। हिन्दी का पहला अखबार 'उदन्त मार्तण्ड' 30 मई 1826 को शुरू हुआ।

इस बीच भारतीय भाषाओं के अखबार निकलने लगे, जिससे जनमत जागृत होने लगा। 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ सेना और जनता में असंतोष भड़काने में अखबारों का योगदान बहुत बड़ा था। इस पर हिन्दी के 'समाचार सुधावर्षण' और उर्दू-फारसी के 'सुलतान-उल-अखबार' और 'दूरबीन' पर कड़ी कार्रवाई की गयी। 1857 में अंग्रेजी हुकूमत ने अखबारों के खिलाफ 15वां कानून पारित करके ज्यादा बंदिशें लगा दीं। अंग्रेजी का 'फ्रैंड ऑफ इंडिया' और बंगला का 'बंगला हरकारू' इसकी चपेट में आ गये।

भारतीय पत्रकारिता में पहले शहीद मौलवी मोहम्मद वाकर बने जो 1837 में दिल्ली से प्रकाशित 'देहली उर्दू अखबार' के संपादक थे। फिरंगियों और उनकी सरकार के जुल्मों के खिलाफ वाकर ने जो कलम चलायी, उसके फलस्वरूप उन्हें दिल्ली दरवाजे के सामने खड़ा करके गोली मार दी गयी, ताकि कलम के सिपाही आतंकित हो जाएं और आजादी के आंदोलन की गति रुक जाए, लेकिन इससे कलम के सिपाहियों

की कलम ज्यादा पैनी हुई और आजादी के लिए जनभावना ज्यादा भड़क गयी। हुकूमत की ज्यादातियां भी बढ़ती गयीं। उधर जनचेतना के साथ जन आक्रोश भी बढ़ने लगा।

1867 में "प्रेस एंड रजिस्ट्रेशन ऑफ बुक्स एक्ट" लागू किया गया। 1875 में भारत सरकार के गृह विभाग ने अधिसूचना जारी करके सरकारी कर्मचारियों पर अखबार छापने एवं संपादित करने पर रोक लगा दी। 1870 में भारतीय दंड संहिता में एक धारा 124-ए जोड़ी गयी, क्योंकि तब तक अखबारों में देशभक्ति, राष्ट्रियता और अन्याय के खिलाफ जनरोष संबंधी सामग्री की मात्रा ज्यादा बढ़ती जा रही थी। राष्ट्रीय आंदोलन भी जोर पकड़ने लगा था। सरकार के खिलाफ लेखन को राजद्रोह करार करने वाले नियम के बाद सरकारी दमन ज्यादा बढ़ा, लेकिन अखबारों की संख्या और स्वतंत्रता आंदोलन की तीव्रता की खबरों का पुट भी उसी मात्रा में बढ़ता गया। 1889 में सरकार ने सरकारी गोपनीयता का कानून लागू कर दिया। 1903 में इसे संशोधित करके इसे ज्यादा सख्त बना दिया गया। अखबारों एवं छापेखानों की जप्ती का कानून भी बना। जिला मजिस्ट्रेटों की शक्तियां बढ़ा दी गयीं, ताकि अखबारों का व्यापक दमन हो सके।

प्रचलित कानून को ज्यादा सख्त बनाने के लिए 'इंडियन प्रेस एक्ट 1910' लागू किया गया, जिसके तहत अखबारों को अपने छापेखाने के लिए जमानत के बतौर रकम जमा करने और सरकार द्वारा उसे जब्त करने का प्रावधान था। 1922 में फिर नया कानून बना, जो

ज्यादा सख्त था। 1919 के जलियांवाला बाग कांड के बाद अखबारों का स्वर ज्यादा उग्र हुआ, तो फिरंगी ज्यादातियां भी बढ़ीं। तब तक कई नये अखबार आ गये थे, जिनमें कुछ तो बहुत लोकप्रिय हुए। इनमें 'न्यू इंडिया' (एनी बेसेंट), हिन्दू (मद्रास), लीडर (इलाहाबाद), अमृत बाजार पत्रिका (कलकत्ता) और सैयद हुसैन का 'इंडिपेंडेंट' प्रमुख थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'बंगाली' निकाला, मौलाना आजाद के 'अल हिलाल' ने भी नयी चेतना पैदा की। लोकमान्य तिलक के 'मराठा' और 'केसरी', महात्मा गांधी के 'हरिजन' और 'यंग इंडिया', केरल के 'मलयाल मनोरमा', कलकत्ता के 'विशाल भारत' और 'मार्डन रिविव', गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप', माखन लाल चतुर्वेदी के 'कर्मवीर' और 'प्रभा', लाहौर के 'टिब्यून' एवं 'अकाली के परदेशी' (संपादक सरदार दीवान सिंह), आगरा के 'सैनिक', बंबई के 'मुम्बई समाचार', बनारस के 'आज', आदि ने क्रांति की ज्वाला को भड़काया। आजादी का आंदोलन जनांदोलन बना और अखबार की जप्ती, जुर्माने, पाबंदी, संपादकों की गिरफ्तारी का सिलसिला भी तेजी से चलता गया। इस बीच कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी शहीद हो गये। काले कानूनों एवं दमन के खिलाफ कलम के सिपाही मजबूती से जमे रहे।

विदेशी हुकूमत के दौरान नये-नये अखबार निकले, लेकिन साथ-साथ अखबारी आजादी को कुचलने का क्रूर-कुचक्र भी चला। तब अखबारों की तलाशी, उन पर पाबंदी, जुर्माने और संपादक को जेल का सिलसिला भी लगातार चलता था। इससे पता चलता है

कि आज जिस आजाद भारत में हम सांस ले रहे हैं, उसकी नींव में पत्रकारिता जगत के हमारे कितने ही पुरखे कुर्बान हो गये, जिनकी कलम ने अंग्रेजी हुकूमत की नींद हराम कर दी, जिनके कारण समाज और देश अज्ञान, अंधविश्वास, आत्म-विस्मृति, पिछड़ापन, कुरीतियों, छुआछूत, विषमता, कूप-मंडूकता के अंधकार से बाहर आ सका। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास पर दृष्टि डालने का अर्थ है, राष्ट्रीयता एवं स्वदेश भक्ति की पवित्र गंगा में डुबकी लगाना।

लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय ने भी पत्रकारिता की कलम चलायी। राजा राम मोहन राय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, राजा रामपाल सिंह, माधवराव सप्रे, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णु पराडकर, माखनलाल चतुर्वेदी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, सी. वाई. चिंतामणि, श्रीमती एनी. बेसेंट, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, बाल मुकुंद गुप्त, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, शिशिर कुमार घोष, एस. सदानंद, मोहम्मद अली, मौलवी मोहम्मद वाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', कृष्णदत्त पालीवाल, पदुमलाल, पुन्नलाल बख्शी जैसे दिग्गज और पुरोधा पत्रकारों के योगदान से उन दिनों पत्रकारिता को गति मिली। ये सारे पत्रकार देश की पत्रकारिता की नींव के पत्थर हैं। तब पत्रकारिता तो जवाहर लाल नेहरू ने भी की थी। ये सब कलम भी चलाते रहे और उसकी खातिर जेल यात्रा भी करते रहे। पत्रकार प्रवर माखनलाल चतुर्वेदी की प्रसिद्ध कविता 'फूल की चाह' (1922) जेल में ही लिखी गयी। उसमें

पत्रकार कवि मातृभूमि के लिए अपना शीश चढ़ाने की अभिलाषा करता है। बलिदान की यह कितनी बड़ी तैयारी थी।

तब एक संपादक जेल जाता था और दूसरा उसकी जगह लेता था। मिसाल के तौर पर 1907 में इलाहाबाद से प्रकाशित उर्दू अखबार 'स्वराज्य' को लें। उसकी कुल आयु थी ढाई साल। उसके कुल अंक 75 निकले और संपादक रहे आठ। सभी संपादकों को मिलाकर 125 वर्ष का देश निकाला और जेल की सजा मिली। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की ऐसी कीमत तब चुकानी पड़ती थी। साधन भी कम थे। 1907 में इसके संपादक थे शांति नारायण भटनागर। इस अखबार का ध्येय वाक्य था—“हिन्दुस्तान के हम हैं, हिन्दुस्तान हमारा है।” जब यह अखबार फिरंगी सरकार की आंख की किरकिरी बना, तो संपादकों को जेल और जुर्माने की सजाएं देकर इसका गला घोंटा गया। आठ संपादकों को 125 वर्ष की सजाएं दी गयीं। प्रेस को नीलाम कर दिया गया तो नया प्रेस स्थापित हुआ। तब संपादक की तलाश में 'जू उन करनीन' में फरवरी, 1907 में जो विज्ञापन छपा गया, वह रोंगटे खड़े करता है—

“एक जौ की रोटी और एक प्याला पानी, यह सरहे-तनख्वाह (वेतन) है, जिस पर 'स्वराज्य', इलाहाबाद के वास्ते एक एडीटर मतलूब (आवश्यकता) है। यह वह अखबार है, जिसके दो एडीटर बगावत आमेज मजामीन (विद्रोहात्मक लेखों) की मुहब्बत में गिरफ्तार हो चुके हैं। अब तीसरा एडीटर मुहैया करने के लिए जो इशतिहार दिया जाता है, उसमें जो शरहे तनख्वाह जाहिर की

गयी है, के वास्ते ऐसा एडीटर दरकार है, जो अपने ऐशोआराम पर जेलखाने में रहकर जौ की रोटी और एक प्याला पानी को तरजीह दे।”

देश के लिए समर्पित कलमकारों के त्याग की यह कैसी रोमांचक मिसाल एवं दास्तां है। इससे अंदाजा लगता है कि देश के पुनर्जागरण, आजादी के लिए संघर्ष, सामाजिक चेतना और देश के गौरव को बढ़ाने के लिए पत्रकारों तथा पत्रकारिता ने कितना बड़ा संघर्ष किया था। तब पत्रकारिता आय का माध्यम नहीं थी। तब सिर्फ संघर्ष, कुर्बानी तथा देश के उत्थान का ध्यान था। तब पत्रकारिता ऐशोआराम का साधन नहीं बल्कि कांटों की शैय्या थी। वह संघर्ष बहुत लंबा चला था। तब पत्रकारिता ने स्वतंत्रता संग्राम के साथ-साथ गोलमेज परिषद्, सती प्रथा, साइमन कमीशन, बंगाल के भयानक अकाल और महामारी पर भी कलम चलायी। देशवासियों को झकझोरा और जागृत किया ताकि वे आजाद भारत के लिए और जंजीरों को तोड़ने के लिए एकजुट हो जाएं।

'नागरी नीरद', 'जासूस', 'सरस्वती', 'राजशक्ति', 'स्वदेश', 'भारतमित्र', 'भविष्य', 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'नवीन राजस्थान', 'लोकवाणी', 'विजय', 'भारत बन्धु', आदि पत्रों ने राष्ट्रीय अवधारणा को सर्वग्राह्य बनाया। उद्बुद्ध राष्ट्र को स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु जागरूक बनाने का पावन कार्य पत्रकारिता द्वारा संभव हुआ। महामना मालवीय बालगंगाधर तिलक, बालमुकुंद गुप्त, गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे तेजस्वी पत्रकारों ने 'भारत के हम और हमारा भारत प्यारा, स्वतंत्रता है जन्मसिद्ध अधिकार हमारा' के मंत्र को जन-जन में प्रचारित किया।

सन् 1920 से 1947 ई. के मध्य महात्मा गांधी के सक्षम नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता का संघर्ष तीव्र हुआ जिसमें हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका अविस्मरणीय है। 'आज', 'भविष्य', 'प्रताप', 'प्रभा', 'वर्तमान', 'चांद', 'माधुरी', 'सैनिक', 'समय', 'हंस' एवं 'सुधा' आदि अनेक पत्रों ने सोहनलाल द्विवेदी के स्वर को सार्थक किया-

“मैं महाक्रांतिकारी कराल।
मैं क्रुद्ध रंगा हूं एक रंग
मैं रूद्ध करूंगा नियम भंग
मैं अग्निशिखा हूं लाल-लाल।”

असहयोग आंदोलन, चौरी चौरा काण्ड, साइमन कमीशन, सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन जैसी क्रांतिकारी प्रवृत्ति के मूल में गांधी जी थे, जिनको राष्ट्रोद्धार का अग्रदूत माना गया है। स्वाधीनता संग्राम को दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्रों ने गति दी तथा विभिन्न परचे, बुकलेट एवं अनियतकालीन प्रकाशनों ने फिरगियों को ललकारा। अकेले उत्तर प्रदेश अभिलेखागार की पुलिस फाइलों से ज्ञात हुआ है कि 1920-22 में 121 प्रकाशनों पर प्रतिबंध लगा। 'पंजाब का खून', 'वन्देमातरम्', 'फिरगिया', 'भारत-दुर्दशा-दर्शन', 'गांधी प्रताप', 'वीर भारत', महात्मा गांधी की 'जयसुदर्शन चक्र', 'स्वदेश-राग', 'तरंगिणी', 'स्वराज का डंका', आदि प्रकाशनों ने स्वतंत्रता संग्राम को गति दी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दमन-चक्र को चुनौती देने में 'रणभेरी', 'शंखनाद', 'बवण्डर', 'खडुका', 'गदर', 'बगावत', 'बदमाश अंग्रेज सरकार' जैसे भूमिगत प्रकाशन उल्लेख्य हैं।

'गदर' के प्रथमांक में छपे क्रांतिकारी करतार सिंह की कविता ने उत्सर्ग का तराना लहराया-

“जो पूछे कि कौन हो तुम, तो कह दो बागी है नाम अपना।

जुलम मिटाना हमारा पेशा, गदर करना है काम अपना।।”

हिन्दी के समाचारपत्रों ने गोरी सरकार को बाध्य कर दिया कि अब वे भारत की धरती से कूच कर जाएं। पत्रों की अग्नि-वर्षा से विदेशी जाने को विवश हो गए।

इस प्रकार कलम के सिपाहियों ने आजादी के संदेश और उसके लिए संघर्ष के संकल्प को जब जन-जन तक पहुंचाया तो सारा देश एक राष्ट्र पुरुष की ही तरह नींद से जागकर न केवल खड़ा हो गया, बल्कि आजादी के लक्ष्य की ओर आत्म-विश्वास से भरकर चल पड़ा। सब तरफ गगनभेदी आवाज गूंजने लगी, 'अंग्रेजो भारत छोड़ो', 'वन्देमातरम्'। यह एक ऐसा उद्बोधक मंत्र था जो नवभारत के निर्माण में मूल प्रेरक बना। बंकिम चन्द्र की यह कविता साधारण कविता नहीं थी। प्रखर राष्ट्रीयता की ध्वनि ही इसकी आत्मा थी। इस कविता में कल्पित माता कोई धार्मिक देवी नहीं बल्कि वह देश है जहां हम रहते हैं और यह देश-माता मात्र प्रादेशिक राशि नहीं बल्कि एक जीवंत सत्ता है जो अपने बच्चों के साथ सदैव क्रियाशील रह कर उनके माध्यम से अपनी इच्छाएं पूरी करती है। इस कविता द्वारा बंकिम चन्द्र ने देशभक्ति के धर्म का आविष्कार किया और इस मंत्र-गीत द्वारा उन्होंने अमृत प्रकाश दिया। आखिरकार आततायी अंग्रेजों को जाना पड़ा। पत्रकारों और

पत्रकारिता ने मातृभूमि के प्रति अपनी जिम्मेदारी को निभाया। वह क्रांतिकारी कलम न रुकी, न झुकी, न अटकी और न भटकी। अपने महान लक्ष्य की ओर समर्पित भाव से प्रतिबद्ध होकर चलती रही।

दरअसल कलम के सिपाहियों ने देश की आजादी के संघर्ष में जो त्याग किया और बलिदान दिया तथा अपने आराम की चिंता नहीं करके अपना फर्ज निभाया, वह स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ है। इसमें शक नहीं है कि सारे आकर्षणों, सुख-सुविधाओं के प्रलोभनों, किस्म-किस्म के दबावों, बाजारी ताकतों एवं उपभोक्तावाद के दांवपेचों तथा विदेशी ताकतों की साजिशों के बावजूद पत्रकार-जगत् के अधिकतर सदस्यों में संघर्ष, त्याग व बलिदान की परंपरा आज भी बरकरार है। देश की आजादी, अखंडता, सुरक्षा, देश की अस्मिता की रक्षा के प्रति आज भी वह सजग है। मौकापरस्तों, ढोंगियों, दोहरे चरित्रों, जनसेवा एवं सिद्धांतों के नाटकीय पैरोकारों से आज भी वह देश को जागृत करता रहता है। विदेशी पूंजी, विदेशी प्रभाव, विदेशी उद्योग, विदेशी मदद, विदेशी विचारधारा की आड़ में आने वाले किस्म-किस्म के साम्राज्यवादों एवं साम्राज्यवादियों और उनके स्थानीय भक्तों के प्रति उतनी ही प्रतिबद्धता एवं राष्ट्र-निष्ठा से कलम चलाता है। आज भी आजादी के लिए शहीद और समर्पित कलम के सिपाहियों का स्मरण, चिंतन एवं मनन जरूरी है, ताकि संघर्षों के बाद मिली आजादी अक्षुण्ण रहे। कलम के उन महान सिपाहियों एवं उनकी शहादत को हमारा शत-शत नमन्।

संदर्भ

1. हिन्दी पत्रकारिता: स्वरूप और आयाम-राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ सं.-196
2. वही, पृष्ठ सं.-197
3. वही, पृष्ठ सं.-198
4. वही, पृष्ठ सं.-199
5. वही, पृष्ठ सं.-200
6. वही, पृष्ठ सं.-201
7. वही, पृष्ठ सं.-202
8. वही, पृष्ठ सं.-203
9. हिन्दी पत्रकारिता-कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ सं.-81
10. वही, पृष्ठ सं.-99
11. वही, पृष्ठ सं.-100
12. मीडिया की भाषा-डॉ. बसुधा गाडगिल, पृष्ठ सं.-119
13. वही, पृष्ठ सं.-120
14. पत्रकारिता: परिवेश और प्रवृत्तियां-डॉ. पृथ्वीनाथ पाण्डेय, पृष्ठ सं.-13
15. सांस्कृतिक पत्रकारिता-डॉ. टी. डी. एस. आलोक, पृष्ठ सं.-49
16. नालंदा खुला विश्वविद्यालय पटना, बिहार के पत्रकारिता एवं जनसंचार में स्नाकोत्तर पाठ्यक्रम का प्रथम पत्र पृष्ठ सं.-9
17. वही, पृष्ठ सं.-10

शोधछात्र, जयप्रकाश विश्वविद्यालय
(हिन्दी विभाग), छपरा
सम्प्रति-भारतीय डाक विभाग
प्रधान डाकघर, छपरा-841301

STATES OF INDIA SERIES

States of India : Uttarakhand

States of Indian : Rajasthan

States of India : Bihar

States of India : Himachal Pradesh

States of India : Delhi

States of India : Punjab

States of India : Mizoram

States of India : Nagaland

States of India : Gujarat

States of India : Tripura

States of India : Andhra Pradesh

States of India : Sikkim

States of India : Karnataka

States of India : Meghalaya

States of India : Jammu & Kashmir

States of India : Uttar Pradesh

States of India : Jharkhand

States of India : Chhattisgarh

States of India : Haryana

States of India : Madhya Pradesh

States of India : Maharashtra

States of India : Manipur

States of India : Orissa

States of India : Assam

States of India : Goa

States of India : West Bengal

States of India : Tamil Nadu

States of India : Kerala

States of India : Arunachal Pradesh

To Order Please Write to :

Pushpanjali Prakashan

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053

Phone : 9811710900

नवीन पंचायती राज : महिला सशक्तिकरण का मुख्य साधन

सुनील कुमार

आज विश्व के हर कोने में महिलाओं के माकूल हवा चली हुई है और सभी जगह महिलाओं के समुचित विकास के लिए अनुकूल वातावरण भी बनता जा रहा है। इसी आधार पर लोग 21वीं सदी को “महिलाओं की सदी” की संज्ञा से भी विभूषित करने लगे हैं। अब महिलाएं हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कदम से कदम मिलाकर अपनी अंतर्निहित क्षमता के बल पर आत्मविश्वास और साहस के साथ पुरुष प्रधान समाज में अपने अस्तित्व का एहसास दिलाने का सफल प्रयास कर रही हैं। इस तथ्य को आज सभी को स्वीकार करना होगा कि महिलाओं की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ-कुछ प्रयास हर जगह और हर स्तर पर किये जा रहे हैं।

भारत में पिछले 15-16 वर्षों से महिला सशक्तिकरण का नया दौर शुरू हुआ है। यह सशक्तिकरण जमीनी स्तर पर हुआ है। देश में त्रिस्तरीय पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी के लिए की गई व्यवस्था एक क्रांतिकारी कदम है। 73वें और 74वें संविधान संशोधन के द्वारा देश की ग्रामीण एवं नगरीय दोनों पंचायतों में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई है। कई राज्यों में महिलाओं का आरक्षण 36-37 प्रतिशत तक पहुंच गया है और बिहार जैसे राज्य में महिलाओं के इस निर्धारण आरक्षण में बढ़ोतरी होकर यह देश में सर्वाधिक 50 प्रतिशत तक पहुंच गया है। इस प्रकार भारत में पंचायती राज संस्थाओं में करीब 12 लाख से ज्यादा निर्वाचित महिलाओं को जन प्रतिनिधियों के रूप में विभिन्न

प्रकार के उत्तरदायित्व एवं अधिकार प्राप्त हुए हैं, जो दुनिया की कुल निर्वाचित महिलाओं से कहीं अधिक है। अब उन्हें लोकतंत्र के आधारभूत स्तर पर राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के सुअवसर मिले हैं। पंचायती राज संस्थाओं में इन चुनी हुई महिला प्रतिनिधियों ने अपवादों को छोड़कर अपनी भूमिका सक्षमता से निभाते हुए सिद्ध कर दिया है कि महिलाएं किसी तरह पुरुषों से कम नहीं हैं।

एक तरह से देखें, तो पंचायत स्तर पर औरतों को मिले आरक्षण ने न केवल उन्हें घर की चौहदी से निकाला है बल्कि राजनीति में पुरुषों के बढ़ते दबदबे को भी थामा है। इस आरक्षण ने सही मायनों में परदे के भीतर ढकी-छिपी एक पूरी जमात की दुनिया ही बदल दी है। भले ही वे सदन के एक कोने में ही बैठें, उनकी गिनती अब उतनी कम भी नहीं कि उन्हें अनदेखा किया जाए। पंचायती राज मंत्री मणिशंकर अय्यर का कहना सही है कि भारत में एक मौन लोकतांत्रिक क्रांति हो रही है जो अभी राष्ट्रीय स्तर पर सार्वजनिक रूप से भले ही दिखाई नहीं दे रही है, पर उसकी धीमी आंच भारतीय लोकतंत्र को मजबूत बना रही है। पंचायत स्तर पर इतनी बड़ी संख्या में महिलाओं की भागीदारी ने स्थानीय स्तर पर सामुदायिक जीवन और उसकी चेतना तथा संस्कृति में भी परिवर्तन लाया है। राजनीतिक हलके में महिलाओं की इसी शानदार धमक का नतीजा था कि गंवई और कस्बाई इलाकों की तरक्की से जुड़ी केंद्र सरकार की तमाम योजनाएं स्त्रियों को मद्देनजर रखकर बनाई जाने लगीं।

स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना को ही लें, तो इसके तहत प्रत्येक प्रखण्ड में कम से कम 50 प्रतिशत कामगार समूह विशेष तौर पर महिलाओं के लिए रिजर्व (सुरक्षित) रखे गये। इसी तरह जवाहर ग्राम समृद्धि योजना में 30 फीसदी रोजगार पर महिलाओं को तरजीह देने का कानून है। साथ ही राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (नरेगा) के तहत जितने लोगों को काम दिया जाएगा उनमें से कम से कम एक तिहाई महिला होनी चाहिए। यही नहीं, केंद्र सरकार की मदद से चलाई जाने वाली इंदिरा आवास योजना में यह शर्त रख दी गई कि मकान या तो औरतों के नाम से आवंटित होगा या फिर पुरुष के साथ औरतों का भी नाम होगा।

पंचायत चुनावों में महिलाओं को आरक्षण मिलने के बाद राजनीति में उनके लिए रास्ते खुल गये थे। अब इन महिलाओं

ने इस राह पर तेजी से चलना शुरू कर दिया है। बिहार के राजपुर, बक्सर की जिला परिषद् सदस्य लालसा देवी का मानना है कि महिलाएं समाज सेवा का काम पुरुषों से बेहतर तरीके से कर सकती हैं। औरतें “घर की चौखट” से बाहर निकलकर पंचायतों के विकास में जुटी हुई हैं। 7वीं पास लालसा देवी अपने इलाके में पानी, बिजली, स्वास्थ्य एवं महिलाओं की शिक्षा के लिए लगातार काम कर रही हैं और काफी हद तक कामयाबी भी मिली है। वह दावा करती हैं कि वह अपने पति का “रबड़ स्टैम्प” नहीं हैं।

लखमौर खैरी, दरभंगा की पंचायत समिति की सदस्य तिलिया देवी हैं। वह शराब, लिंगभेद, मजदूरों के शोषण के खिलाफ और औरतों के जमीनी हक के लिए लड़कर गांव वालों की मदद से भूदान की 156 एकड़ जमीन को सामंतों के कब्जे से छुड़ाने की लड़ाई लड़ रही हैं। अब तक 13 एकड़ जमीन छुड़ाने में उन्हें कामयाबी मिली है। 12 वर्षों से दलितों और महिलाओं की आवाज बनी तिलिया के नाम पर उसके गांव का नाम रख दिया गया है। किसी न किसी को तो जुल्म के खिलाफ लड़ाई शुरू करनी पड़ती है। जब तिलिया ने यह काम शुरू किया तो कुछ लोग कहते थे तिलिया पगला गई है, आज वही लोग उसे सम्मानित कर रहे हैं।

केंद्र सरकार के स्वच्छता मिशन निर्मल ग्राम पंचायत योजना के तहत वर्ष 2008 के लिए सारण जिले के 9 ग्राम पंचायतों के मुखिया को 20 अक्टूबर को राष्ट्रपति प्रतिभा देवी सिंह पाटिल ने गुवाहाटी में सम्मानित किया, जिसमें 6

महिला मुखिया तरैयां पंचायत की आशा गुप्ता, पचरौड़ की पुतल देवी, मांझी के घोरहट की फूलमति देवी, जलालपुर के माधोपुर पंचायत की बबीता देवी, झौंवा पंचायत की मंजू देवी एवं इसुआपुर के केरवां पंचायत की बबीता देवी शामिल हैं। यहां भी ये महिला पंचायत प्रतिनिधि पुरुषों से काफी आगे रहीं। ये सभी महिला मुखिया जो महिला आरक्षित सीट से चुनी गई हैं, सरकार की सोच को सच साबित की हैं, जिसको अब पुरुष पंचायत प्रतिनिधि अपने लिए चुनौती के रूप में ले रहे हैं।

नवीन पंचायती राज व्यवस्था में महिला सशक्तिकरण से न केवल “मिड डे मिल” कार्यक्रम, सर्व शिक्षा अभियान, संपूर्ण ग्रामीण स्वच्छता मिशन, ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, रोजगार गारंटी योजना के कार्यान्वयन में ही फर्क पड़ा है बल्कि ग्रामीण महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई हैं। उनमें अन्याय, दमन और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत बढ़ी है। उनमें आत्मविश्वास तथा जोश भी आया है। वे आस-पास की घटनाओं के प्रति सजग हुई हैं। ग्रामीण इलाकों में होने वाले रचनात्मक कार्यक्रमों में उनकी भागीदारी बढ़ी है। उनमें राष्ट्र एवं समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी का भाव भी विकसित हुआ है। दिल्ली भले ही उनके लिए अभी दूर हो, मगर सफर शुरू हो चुका है।

उत्तर प्रदेश को ही देखें, तो वहां जिला पंचायत चुनाव में महिलाओं के लिए 32 सीटें आरक्षित थीं। महिलाओं ने आरक्षित सीटों के अलावा 20 दूसरी सीटों पर भी जीत हासिल कर ली।

उत्तर प्रदेश की 69 जिला पंचायत अध्यक्षों में से 52 महिलाएं हैं। केवल 17 स्थानों पर ही पुरुष जीत हासिल कर सके हैं। जिला पंचायत अध्यक्ष चुनाव में जीतने वाली महिलाओं में सामान्य वर्ग से 23, पिछड़े वर्ग से 20 और दलित वर्ग से 9 हैं। उत्तर प्रदेश के 5 बड़े जिलों कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, आगरा और लखनऊ में औरतों का कब्जा है।

आरक्षण की तलवार से ही सही औरतों ने अपने लिए वह जंग जीत ली है, जहां से उनकी तरक्की की राह खुलती है। आरक्षण की इस धार ने न केवल अगड़े तबके की शहरी व गंवई औरतों में जोश जगाया है, बल्कि बड़ी तादाद में दलित व पिछड़े तबके की महिलाओं को भी नुमाइंदगी मिली है। ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों और जिला पंचायतों में जनता द्वारा चुने गये कुल 34 लाख प्रतिनिधियों में से 11 लाख से अधिक महिलाएं व 7 लाख 50 हजार दलित तबके के लोग थे। इन 7.50 लाख में दलित महिलाओं की तादाद करीब 2 लाख 50 हजार थी।

पार्टी स्पिटेरी रिसर्च इन एशिया यानि पीआरआईए नामक संस्था ने औरतों की इस भागीदारी से उनकी जिन्दगी में आये बदलावों पर जब सर्वे कराया तो यह तथ्य सामने आया कि 25 प्रतिशत महिलाएं पंचायतों में जगह मिलने के बाद अपने घर परिवार में भी दबदबे वाली हो गईं। यही नहीं, सगे-संबंधियों के अलावा टोले-मुहल्ले यहां तक कि मायके में भी उनका वजूद बढ़ गया।

हालांकि केवल राजनीतिक सशक्तिकरण से ही महिलाओं का संपूर्ण सशक्तिकरण नहीं होगा। राजनीतिक

सशक्तिकरण की दृष्टि से भारत की महिलाओं का स्थान 128 देशों में 21वें स्थान पर है, लेकिन आर्थिक भागीदारी, शैक्षणिक मामले एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भारतीय महिलाओं की पूरे विश्व में रैंकिंग क्रमशः 122, 116 तथा 126 है। इस प्रकार महिला सशक्तिकरण का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए महिलाओं का शिक्षित होना अति आवश्यक है क्योंकि वह परिवार को शिक्षित करती हैं। शिक्षित महिलाएं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में आगे रहती हैं क्योंकि वे आत्मनिर्भर एवं आत्मविश्वास से भरी होती हैं जिससे वह अपनी समस्याओं का स्वतः ही समाधान करने में समर्थ होती हैं।

अपने देश की राजनीति में यदि महिलाओं की भागीदारी की अब तक की स्थिति का विश्लेषण करें तो कुल मिलाकर उनकी सहभागिता और सत्ता में उनकी भागीदारी बढ़ाने के लिए किये गये प्रयासों को किसी भी परिस्थिति में संतोषजनक कहना बेईमानी होगी। हम इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते कि किसी भी अविकसित अथवा पिछड़े वर्ग को विकास की मुख्य धारा से जोड़ने तथा उसे आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में विकसित वर्गों के समकक्ष लाने में राजनीति की अहम भूमिका होती है। यदि ऐसे वर्गों की राजनीति में समान भागीदारी सुनिश्चित कर दी जाए तो निश्चित रूप से अन्य क्षेत्रों में उन्हें अपने उन्नयन के अच्छे अवसर प्राप्त हो सकेंगे। देश के राजनीतिक परिदृश्य में महिलाओं की भागीदारी का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि स्वतंत्रता पश्चात् कराये गये आम चुनावों में

लोकसभा के लिए चुनी गई महिलाओं की संख्या आजादी के 60 वर्ष बाद भी 10 प्रतिशत का आंकड़ा पार नहीं कर सकी है।

यह निश्चित है कि महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी बढ़ने से अन्य क्षेत्रों में भी उनकी भागीदारी स्वतः बढ़ने लगेगी। अतः त्रिस्तरीय पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी निर्धारित हो जाने के बाद अब अतिशीघ्र महिला आरक्षण संबंधी संविधान संशोधन पास करके संसद और राज्य विधान मंडलों में महिलाओं की केवल 33 प्रतिशत भागीदारी निर्धारित करना ही समय का तकाजा नहीं है बल्कि राजनीति के सभी स्तरों पर 50 प्रतिशत उत्तरदायित्व उन्हें सौंपना होगा। साथ ही आर्थिक, प्रशासनिक, न्यायिक तथा विकास क्षेत्रों में उनकी 50 प्रतिशत भागीदारी सुनिश्चित करने हेतु सभी स्तरों पर व्यापक प्रयास करने होंगे।

संदर्भ सूची

1. वुमेन पार्टिसिपेशन इन पॉलिटिक्स, सुशीला कौशिक, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली 1993।
2. द इण्डियन वुमेन; सर्च फॉर एन आइडेनटिटी, ए. शोभा चटर्जी, विकास पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली।
3. ग्राम रूट्स पॉलिटिक्स इन इंडिया, मित्तल पब्लिकेशंस, नई दिल्ली 2001।
4. राइट्स ऑफ वुमेन, राम आहूजा, रावत पब्लिकेशन, 3-एन-20 जवाहर नगर, जयपुर 1992।
5. वर्किंग ऑफ पंचायत समिति इन बिहार : ए केस स्टडी ऑफ मशरक

पंचायत समिति, डा. शैलेन्द्र कुमार सिंह

6. वुमेन एण्ड सोशल चेंज, बालाराम शर्मा, अनमोल पब्लिकेशन, दिल्ली।
7. वुमेन इन कन्टेम्पोररी इंडियन सोसायटी, अशोक कुमार, अनमोल पब्लिकेशन, दिल्ली।
8. हमारा संविधान, सुभाष कश्यप, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
9. दैनिक जागरण, दैनिक हिन्दुस्तान, राष्ट्रीय सहारा, हिन्दुस्तान टाइम्स पटना।
10. योजना, कुरुक्षेत्र एवं अन्य पत्रिकायें।
11. डॉ. विवेक रंजन भट्टाचार्या, नया बीस सूत्री कार्यक्रम : ग्रामीण भारत का बदलता स्वरूप, (नई दिल्ली, भारती प्रकाशन, 1983), पृ. 330.
12. डॉ. अल्लेकर का उद्धरण, उपरोद्धृत द्वारा प्रस्तुत किया गया, पृ. 330.
13. वाल्मीकि रामायण, भो. 1, बालकांड और अयोध्या कांड, देखें, अयोध्या कांड, सर्ग 8, श्लोक 56-58.
14. उपरोद्धृत, भक्त्या विवदमानेषु मार्गमात्रित्य पश्यतः तेन पापेन पुज्येत यस्यायामुमते गतः।
15. निग्रहः पंडितेः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः, महाभारत, शान्ति पर्व।

सम्पर्कः

साध्वी सौंध

आर. एन. कॉलेज रोड, पोखरा मुहल्ला, हाजीपुर वैशाली

विश्व में नारी का बदलता स्वरूप : समस्या एवं समाधान

डॉ. नरेश कुमार

आज विश्व की आबादी 6 अरब से भी अधिक है जाहिर सी बात है कि इस आबादी में आधा हिस्सा महिलाओं का भी है। आधी दुनिया का बोझ अपने सिर पर उठाये इतनी बड़ी आबादी आज विकास की दौड़ में बहुत पीछे ढकेल दी गयी है। आज विकसित से लेकर विकासशील और गरीब लगभग सभी राष्ट्रों में महिलाओं की दशा दयनीय है। हो भी क्यों ना? आदिम समाज से लेकर औद्योगिक समाज तक में महिलाओं को उचित सम्मान और स्थान आखिर दिया ही कहा गया। आज के इस पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में लगभग हर काम की एक कीमत देखी जाती है। आज विकसित राष्ट्रों में वेश्यावृत्ति को एक सामाजिक बुराई न मानकर कानूनी वैधता प्रदान कर दी गयी है और वेश्यावृत्ति को जीवनयापन का एक धंधा मात्र माना जाता है। इस वेश्यावृत्ति से स्त्री को कितनी पीड़ा और यातना झेलनी पड़ती है। शायद विकास की आंधी में ऐसी समस्याएं इन राष्ट्रों को नजर ही नहीं आती। आज के आधुनिक और विकसित कहे जानेवाले समाज में अश्लीलता और भौंडापन ही प्रगति की पहचान बन चुका है। तीसरे विश्व के राष्ट्रों में महिलाओं की दशा और दीन-हीन है। महिलाओं के लिए समाज में रोज नए-नए फतवे जारी कर दिए जाते हैं। उठना-बैठना, खाना-पीना लगभग सभी बातों पर पाबंदी है। गुलामी की जिंदगी इनके भाग्य में लिखी है।

आज विश्व में सर्वत्र नारी आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। यह आन्दोलन इतना प्रखर हो गया है कि संयुक्त राष्ट्र ने 1975 से 1985 के दशक को 'नारी उन्मुक्ति दशक' का नाम दिया। संयुक्त राष्ट्र ने नारी उन्मुक्ति के लिए कई सम्मेलनों का आयोजन किया। पहला सम्मेलन 1975 में एवं 1985 में नैरोबी

में एवं चौथा सम्मेलन 1995 में चीन में आयोजित किया गया जिसमें 180 देशों की 48,000 महिलाओं ने भाग लिया। यद्यपि इन सम्मेलनों को अपने वांछनीय उद्देश्यों में कोई ठोस सफलता नहीं मिली तथापि इन्होंने नारियों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना अवश्य जगाई।

आज पूरे विश्व में महिला और औरत में अन्तर समझने की आवश्यकता हो गई है। 1. महिला का व्यापक एक्सपोजर है और वह बहु-आयामी गतिशीलता से सम्पन्न है, जबकि औरत अवरुद्ध गतिशीलता व बंद समाज (अर्ध सामन्ती ग्रामीण परिवेश) से ग्रस्त है, 2. महिला को गुणवत्ता और अर्थवत्ता चाहिए जबकि औरत को जीवन चाहिए, 3. महिला हस्तक्षेपधर्मी बनना चाहती है जबकि औरत नियतिवादी रहना चाहती है, 4. महिला 'अपने होने' के बाजार मोल व शक्ति से परिचित है जबकि औरत सिर्फ औरत है और उसके बोध-संसार में मोल-भाव नहीं है, 5. महिला अधिकार व सम्पत्ति की ताकत से परिचित है जबकि औरत समर्पण से सन्तुष्ट है, 6. महिला का जीवन कम्पास है ठोस यथार्थ जबकि औरत मिथों द्वारा रचित यथार्थ में विचरती है और मोक्ष चाहती है।

मेरा यहाँ औरत से सीधा तात्पर्य है दलित औरत, आदिवासी औरत, देहाती औरत, श्रमजीवी औरत, सांस्कृतिक उत्पीड़न, दैहिक शोषण की मार सहती औरत, सामन्ती मूल्यों का सलीब ढोती औरत। जाहिर है, इण्डिया एवं ग्लोबल की महिला या 'लेडी', मैडम, सोशलाइट आदि की कोटि अलग है। मेरा सरोकार केवल स्वजीवी वर्ग की औरत से है, परजीवी वर्ग की महिला से नहीं। निश्चित ही विवाहेतर सम्बन्धों में स्वतंत्रता का एजेण्डा औरत का नहीं हो सकता जोकि केवल जीना चाहती है। यौन आनन्द और चयन उसके लिए 'विलासिता' है। महिला को यौन तृप्ति और महत्वाकांक्षा उपलब्धि चाहिए, लेकिन औरत को क्षुधा पूर्ति और साँस भर जीवन चाहिए।

Woll Stone Craft के अनुसार लैंगिक भेदभाव मनमाना एवं पितृ-सत्तात्मक समाज की उपज है इसलिए नारियों को भी पुरुषों के समान बौद्धिक शिक्षा एवं समान अधिकार मिलना चाहिए। उसकी मान्यता है कि पितृ-सत्तात्मक संस्कृति निम्न शिक्षा एवं नीरस घरेलू काम-काज के कारण प्रायः

नारियाँ बुद्धि से त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि नारियों को भी पुरुषों के समान सम्पत्ति में अधिकार समान, नागरिक अधिकार एवं अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए उपयुक्त अवसर मिलना चाहिए। उसने जेष्ठाधिकार कानून का भी विरोध किया क्योंकि उसके अनुसार पिता की सम्पत्ति में सभी सन्तानों का समान अधिकार होता है, परन्तु Woll Stone Craft ने नारी मताधिकार की बात नहीं की क्योंकि उसे डर था कि पुरुष प्रधान समाज उसका कड़ा विरोध करेगा।

नारी मताधिकार की बात सर्वप्रथम J. S. Mill (1806-1873) ने की। उसके अनुसार पुरुष और नारी के बीच स्वाभावित भेदभाव नहीं होता है एवं पुरुषों के समान नारियों में भी बहुत से गुण होते हैं। पुरुष मात्र अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए नारियों को दुर्बल, निम्न एवं वासना का शिकार मानते हैं। Mill का विश्वास था कि सम्पूर्ण समाज की प्रगति तभी संभव है जब पुरुषों के साथ-साथ नारियों को भी मताधिकार प्राप्त हो। उसके अनुसार अगर यह मान भी लिया जाए कि नारियों में राजनीतिक जागरुकता एवं शासन की योग्यता नहीं होती है तब भी उन्हें पुरुषों के समान मताधिकार मिलना चाहिए क्योंकि मिल के शब्दों में, "Men as well as women do not need Political right in order that they may govern but in order that they may not be misgoverned."

परिवार नियोजन योजनाओं का परिणाम यह हुआ कि बेटियों की संख्या लगातार घटती गई क्योंकि हर परिवार को अनिवार्य रूप से सिर्फ पुत्राधिकारियों

की ही जरूरत थी। बेटों को प्राथमिकता मिली और 'एमनियोसैटोसिस टेस्ट' ने बेटियों का गर्भ में ही गला घोट दिया। शिक्षा, जागरुकता, साधन और स्वास्थ्य सेवाओं में तो अभूतपूर्व वृद्धि हुई फिर भी लड़कियों की संख्या लगातार कम क्यों होती चली गई? दरअसल, गोलियाँ और गर्भपात के कानूनी अधिकार देने का मुख्य उद्देश्य, औरत की कोख पर नियन्त्रण करके राष्ट्र की जनसंख्या में नियन्त्रण करना भी था और स्त्री को पुरुष के 'आनन्द की वस्तु' बनाना भी। स्त्री को देह का स्वामित्व और उपभोग की आजादी का पाठ पढ़ाए बिना, यह सब कैसे संभव हो सकता था? यहीं से नई समस्याओं की शुरुआत होने लगी। एक बीमारी का इलाज करने के लिए दी गई दवा से नई बीमारियाँ होने लगी।

पश्चिम का इतिहास गवाह है कि 'यौन क्रान्ति' एक सीमा तक ही, 'स्त्री मुक्ति' का सम्बल बन पाई। गर्भ निरोधक गोलियों से लेकर 'एड्स' तक की यात्रा में नारी की आजादी का मतलब, मर्दों को पहले से अधिक आजादी और आर्थिक फायदे थे। न गर्भ ठहरने का डर और न सामाजिक बदनामी का खतरा। एक तरफ स्त्रियों को अपनी देह का स्वयं स्वामिनी बता कर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के ब्राण्ड बेचने के लिए नग्न-अर्धनग्न 'मॉडल' और कामना या आनन्द की वस्तु में बदला जा रहा है, मगर दूसरी तरफ घर में पत्नी, माँ, बहू-बेटी या बहन के लिए वही सदियों पुरानी नैतिक मर्यादा, यौनशुचिता और पतिव्रता के कड़े नियम लागू हैं। इन दोनों अन्तर्विरोधों और जटिल स्थितियों में नारी अस्मिता और मुक्ति के प्रश्न

अधिक पेचीदे और घातक सिद्ध हो रहे हैं। विशेषकर सुन्दर स्त्रियों का आखेट बढ़ गया और वह भी उसकी सहमति से।

महानगर की मध्यवर्गीय स्त्री के लिए शिक्षा सुयोग्यवर ढूँढ़ने के लिए आवश्यक प्रमाण पत्र भी बन गया। जितना ज्यादा पढ़ाओ, उतना ही ज्यादा 'सुयोग्यवर' ढूँढ़ना पड़ेगा और मण्डी में वरानुसार दहेज के बाद भी कोई गारण्टी नहीं कि ससुराल में कब तक जिन्दा रहेगी। शिक्षित हो तो नौकरी करो, कमाओ और हर महीने 'लिफाफा-लाकर घर वालों को सौंपो। मँहगाई क्या कम है? पत्नी के वेतन से घर खर्च चलेगा और बाकी बचत से पति के नाम सम्पत्ति, फिक्स्ड डिपॉजिट या शेयर बाजार जिन्दाबाद। यही है 'नौकरी का अर्थशास्त्र' महिलाओं के लिए।

गत वर्षों में परिवार के भीतर-बाहर यौन-हिंसा के आँकड़ों का आतंक लगातार बढ़ रहा है। परिवार के बाहर हिंसा, लूट, दमन, शोषण और उत्पीड़न से बचने के लिए मध्यमवर्गीय स्त्री परिवार या विवाह संस्था की 'घरेलू गुलामी' स्वीकारती है। लेकिन परिवार में भी हिंसा, भ्रूण-हत्या, दहेज-हत्या, आत्महत्या, बलात्कार, यौन शोषण और उत्पीड़न कम नहीं। अजीब दुष्चक्र है। इसलिए वह प्रायः घर छोड़ने पर विवश होती है या कर दी जाती है। घरेलू गुलामी से मुक्ति की तलाश में निकली औरत के पास जीवनयापन के लिए श्रम है या शरीर। निम्न-वर्ग की स्त्रियों के लिए तो मेहनत-मजदूरी करना आर्थिक विवशता है हीं। वेतन या मजदूरी तक पुरुषों के बराबर नहीं मिलती, ऊपर से यौन शोषण अलग। भ्रूण-हत्या से सती

तक, आधे-अधूरे कानून और उनकी भी सारी व्याख्याएँ पुरुष हितों को पोषित करती हैं। कौन सुनता-मानता है अदालती आदेश और विधि आयोग के संशोधन सुझाव।

अविवाहित लड़कियों और बिना विवाह किए माँ बननेवाली युवतियों की संख्या जब लगातार बढ़ने लगी तो पितृसत्ता को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिन्ता सताने लगी कि परिवार ही नहीं रहेगा, तो पुरुष की पूँजी और सत्ता का क्या होगा? राजसत्ता और समाज का मुख्य एजेण्ट (मुखिया) राज कहाँ और किस पर करेगा? ... औरत को वापस घर लाओ वरना.....।

मर्यादाओं के मकड़जाल में स्त्री के लिए 'प्राईवेट लाइफ' का मतलब है व्यभिचार और सिन्दूरी सम्बन्धों से बाहर, हर सम्बन्ध अनैतिक, पाप और अक्षम्य अपराध, एकल विवाह या सम्बन्ध के सारे प्रतिबन्ध सिर्फ स्त्री के लिए। पुरुष के लिए व्यभिचार की खुली वैधानिक छूट। रखैल, रक्षिता, वेश्या, 'सुन्दर' वस्तु बनाया जा रहा है। एक ओर पोनोंग्राफी के माध्यम से नपुंसक होते पुरुषों की कामवासना का 'आनन्द बाजार' बढ़ रहा है, दूसरी ओर नारी विरोधी अपराधों (यौन अपराध) की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। जैसे-जैसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों की आड़ में अश्लीलता बढ़ेगी, वैसे-वैसे हिंसा भी बढ़ेगी। पर्दे पर बढ़ती यौन-हिंसा का सीधा प्रभाव समाज में प्रतिध्वनित हो रहा है। पूँजी बाजार में 'यौन हिंसा' से ज्यादा बिकाऊ खबर, साहित्य या फिल्म क्या हो सकती है। एक तो पोनोंग्राफी पितृसत्ता के लिए भारी मुनाफे

का व्यापार है, दूसरे विश्वभर की स्त्रियों को मानसिक रूप से उत्पीड़ित-शोषित करके, अपनी सत्ता बनाए-बचाए रखने का षड्यन्त्र ऐसा अश्लील साहित्य, विरोध और विद्रोह की भावना को कुण्ठित करके पूरी पीढ़ी को नपुंसक, बीमार और विकृत मानसिकता की ओर भी अग्रसर करता है।

बहुराष्ट्रीय पूँजी के सामने सुन्दर स्त्रियों के विरोध, प्रतिरोध और मोलभाव का क्या कोई मतलब है? पुरुष उद्योगपतियों द्वारा पहले से तय कीमत (इनाम, पुरस्कार, पारिश्रमिक.....) पर, जब हजारों विश्व सुन्दरियों को लाइन लगा कर देह प्रदर्शन के लिए लाकर खड़ा कर दिया जाता हो, तो राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय दलालों के हाथों में नाचती कठपुतलियाँ या सुन्दर गुड़ियाँ सिर्फ वस्तु, माल या साधन भर होती हैं। खरीदार की शर्तों पर खेल खेलने में, सुन्दरी की हार पहले से ही निश्चित है। हार में ही जीत का एहसास कब तक बना रह सकता है? आज जो 'टॉप हीरोइन' है या समझी जा रही है, कल वही इतिहास नायिका गुमनाम बेमौत मारी जाएगी। मर्लिन मुनरो से लेकर पामेला बोर्डेस और डायना तक, सुन्दर स्त्रियों की व्यथा-कथा कौन समझ-समझ सकता है? सत्ता विमर्श में सुन्दरी की उपयोगिता तभी तक है, जब तक सौन्दर्य देह कायम है।

आम समाज के 'स्टीरियोटाइप' नर-नारी को अपनी-अपनी रोजी-रोटी के संघर्ष से ही फुर्सत नहीं है। पितृसत्ता की परेशानी यह है कि उसे अपने आधुनिकतम उद्योग और अन्य समस्याओं को सम्भालने-सुलझाने के लिए स्वतन्त्र

स्त्री-पुरुष (एण्टी स्टीरियोटाइप) चाहिए, जो मॉडलिंग से लेकर समाज सेवी परियोजनाओं पर काम कर सके। काफी जोखिम का काम है, इसलिए कीमत भी थोड़ी ज्यादा देनी पड़ेगी और वह भी इस रूप में कि कीमत न लगे। सिक्के के साथ 'सम्मान' भी जोड़ना पड़ेगा। विश्व सुन्दरी से लेकर समाज सेवियों तक के लिए कुछ बड़ी धन राशि के पुरस्कार। यौन, नैतिकता और सामाजिक मर्यादा के पाखण्डी पाठों का पर्दाफाश ये 'रोलमॉडल' और 'सांस्कृतिक दूत' अपने आप कर ही देंगे। प्रचार-तन्त्र रातों-रात गाँव की गलियों तक ढिंढोरा पीट देगा। कुछ सिरफिरे देते रहे 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' की दुहाई या 'दुर्ग द्वार पर दस्तक।' फिक्क करने की कोई जरूरत नहीं। सारे पुख्ता इन्तजाम किए जा चुके हैं। शेष-अशेष विकल्पों की हत्या के बिना 'गतिशील समाज' के विकास का सपना कैसे साकार हो सकता है?

पितृसत्ता के इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए स्त्रियों ने जितना विरोध-प्रतिरोध किया है, उन पर उतना ही अधिक दमन, हिंसा और अत्याचार बढ़ता गया है। हत्या, आत्महत्या तथा बलात्कार के आंकड़े गिनाने की जरूरत नहीं। मेरा स्पष्ट मानना है कि जब तक पितृसत्तात्मक पूँजीवादी समाज में व्यक्तिगत संपत्ति के उत्तराधिकारी के लिए वैध पुत्रों (यानी विवाह संस्था अपरिहार्य) की अनिवार्यता और परिवार में पुरुष (पिता, पति, पुत्र) का अधिनायकवादी वर्चस्व बना रहेगा, तब तक औरत की अस्मत् और अस्मिता, अस्तित्व और व्यक्तित्व, अधिकार और अभिव्यक्ति एवं समानता का हर संघर्ष

अधूरा और सारे 'घोषणापत्र' बेमानी है। आज पूरे विश्व में नारीवाद के विकास पर निम्नलिखित मांगें जोर पकड़ती जा रही हैं जो निम्नलिखित हैं :

1. लिंगमुक्त सामान्य शिक्षा
2. आर्थिक क्षेत्रों में समान वेतन के साथ नौकरी पाने का समान सुअवसर
3. नवजात शिशुओं की कार्यरत माताओं के लिए विशेष सुविधा
4. सुरक्षित मातृत्व, गर्भपात एवं गर्भनिरोध जैसी दवाओं की उपलब्धि
5. नारियों के प्रति हिंसा एवं उत्पीड़न का अन्त
6. सिनेमा, कला एवं साहित्य में पुरुष एवं नारी का भव्य एवं सम्मानित चित्रण।

निष्कर्ष एवं सुझाव

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर आधारित आज की जटिल भू-मण्डलीय अर्थव्यवस्था ने नारी जाति को कई गुणों में विभाजित कर दिया है। आज नारियाँ सर्वोत्कृष्ट सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं वैज्ञानिक पदों पर आसीन हो रही हैं। मानव-क्रियाकलाप के इन सभी क्षेत्रों में पुरुषों का वर्चस्व धीरे-धीरे कम हो रहा है।

स्वीडन आदि देशों में नारियों द्वारा आर्थिक एवं राजनीतिक समानता की प्राप्ति, मंडेला के कांग्रेस में महिलाओं का अपूर्व प्रवेश, ब्लेयर की लेबर पार्टी एवं क्लिंटन के राष्ट्रपतित्वकाल में महिलाओं के प्रतिनिधित्व में वृद्धि तथा भारत में प्रतिभा पाटिल का राष्ट्रपति

बनना इस बात को प्रमाणित करता है कि वर्तमान उदारवादी लोकतंत्रों में भी नारियों की महती प्रगति संभव है।

अतः यह स्पष्ट है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नारियों ने महत्वपूर्ण प्रगति की है। फिर भी आज बहुत सी नारियाँ घरेलू कामकाज एवं बच्चों की देखभाल को प्राथमिकता दे रही हैं। नारियाँ निजी क्षेत्रों में पुरुष को सहयोगी बनाकर सार्वजनिक कार्यों का निष्पादन निपुणता के साथ कर सकती हैं। वस्तुतः पुरुष और नारी एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं, एक-दूसरे के मित्र हैं, दुश्मन नहीं; जीवन पंथ पर एक-दूसरे के सहयोगी हैं, प्रतिद्वंद्वी नहीं। इसी भावना से प्रेरित होकर नर-नारी के बीच प्रेम स्थापित किया जा सकता है, उनकी स्वतंत्रता कायम रह सकती है एवं परिवार की आधारशिला दृढ़ हो सकती है।

वास्तव में यदि महिलाओं के स्वरूप को बदलना है, महिला सशक्तिकरण को अमली जामा पहनाना है तो सत्ता प्रतिष्ठानों में महिलाओं की साझेदारी, नीति निर्माण में भागीदारी, पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक हिस्सेदारी आवश्यक है। विभिन्न क्षेत्रों में उन्हें निर्णय लेने की स्वतंत्रता को भी प्रोत्साहित करना होगा।

आज पूरे देश में पुत्र के प्रति विशेष आशक्ति तथा महिलाओं को उपभोग की वस्तु मात्र समझने की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया जाए तो महिलाएँ घर, परिवार, गाँव, पंचायत, प्रखण्ड, जिला, राज्य, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी क्षमता एवं प्रतिभा की धाक जमा सकती हैं।

संदर्भ-साहित्य

1. वसुधा-स्त्री : मुक्ति का सपना।
2. मालीन डिक्सन, स्त्रियों की गौण सामाजिक हैसियत, अप्रकाशित, शिकागो, 1969।
3. जूलियट मिशेल 'स्त्रियाँ' : सबसे लम्बी क्रांति।
4. कुरुक्षेत्र, महिला सशक्तिकरण, मार्च 2007।
5. अरविन्द जैन-औरत अस्तित्व और अस्मिता।
6. सत्येन कुमार-नदी को याद नहीं।
7. सुधीश पचौरी-स्त्री देह के विमर्श।
8. कृष्णा सोवती-ऐ लड़की।
9. नीरज कुमार-महिला सशक्तिकरण की कुछ कोशिशें।
10. अरविन्द कुमार शुक्ल-आधी दुनिया : विकास की राह पर।
11. कुसुम त्रिपाठी-महिलाएँ : दशा एवं दिशा।
12. पूनम द्विवेदी-महिला सशक्तिकरण और वर्तमान कानून राष्ट्रीय आय के अग्रिम अनुमान, वर्ष 2006-2007।
13. इन्दु पाठक-राजनीतिक सहभागिता एवं महिला सशक्तिकरण।
14. सुरेश लाल श्रीवास्तव-राष्ट्रीय महिला आयोग।
15. महिला सशक्तिकरण : बाधाएँ एवं संकल्प, प्रवीण शुक्ल।
16. नारी सशक्तिकरण : दशा एवं दिशा, जैनेन्द्र यादव।
17. विश्व की प्रसिद्ध महिलाएँ, लाल बहादुर सिंह चौहान।

व्याख्याता, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

धार्मिकता एवं भ्रूण हत्या : एक अध्ययन

डॉ. अंजू कुमारी

भारतीय समाज में पुत्र का महत्त्व पुत्रियों से ज्यादा है। पुत्रों को व्यक्ति संपत्ति मानता है और पुत्री को बोझ परिणामतः भ्रूण-हत्या का प्रचलन हुआ। आँकड़े बताते हैं कि पारंपरिक पुत्र-मोह और आधुनिक तकनीक की सुविधा के कारण भारत में लगभग पाँच लाख कन्याओं की हत्या प्रतिवर्ष होती है। अल्ट्रासोनोग्राफी, एम्नियोसेंटिसिस तथा अन्य तकनीकों के माध्यम से गर्भस्थ शिशु का लिंग-परीक्षण करके कन्या-भ्रूण पाये जाने पर गर्भपात के द्वारा उसकी हत्या किये जाने का गैर-कानूनी सिलसिला भारत में बड़ी तेजी से फैला है और जिसकी परिणति एक विकराल समस्या के रूप में उभरी है। नतीजतन पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या में भारी कमी आयी है। वर्ष 1981 की जनगणना में यह अनुपात 1000:972 था जो 1991 में घटकर 1000:927 रह गया। वर्ष 2001 की जनगणना में 6 साल तक के शिशुओं के लिंग-अनुपात के बारे में जो जानकारी मिली उसके मुताबिक कन्या-भ्रूण-हत्या के दुष्परिणाम में वृद्धि हुई। इस मामले में अग्रणी पंजाब है जहाँ 1991 में 1000 लड़कों की तुलना में 875 लड़कियाँ थीं, जबकि अब यह अनुपात सिर्फ 793 का रह गया है। हरियाणा का अनुपात 906, गुजरात का 921 और महाराष्ट्र का 927 है। उल्लेखनीय है कि कन्या-भ्रूण-हत्या के सबसे ज्यादा मामले क्रमशः महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान में हैं। यहाँ यह स्थिति इसलिए भी बरकरार है क्योंकि जन्म से पूर्व लिंग का पता लगाने वाले बहुतायत क्लीनिक खुल कर धड़ल्ले से चल रहे हैं। विडम्बना यह है कि ये क्लीनिक पंजीकृत तक नहीं हैं।

इस प्रचलन को रोकने के लिए भारत में कानून भी बनाये गये, जिसमें जनवरी 1996 से प्रसव पूर्व परीक्षण-तकनीक अधिनियम 1993 यथा संशोधित 2002 के अंतर्गत गर्भस्थ शिशु के लिंग-निर्धारण पर पाबंदी लगाया गया। पुनः इस स्थिति से उबरने के लिए दो संगठनों 'इन्क्वायरी इन्टू हेल्थ एण्ड एलायड थीम्स' के साबू जार्ज और 'महिला सर्वांगीण

उत्कर्ष मंडल' ने उच्चतम न्यायालय में एक जनहित याचिका भी दायर की। 15 मई, 2001 के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के प्रथम पृष्ठ पर इस याचिका का हवाला देते हुए खबर छपी थी। उच्चतम न्यायालय ने केन्द्र और राज्य सरकारों को निर्देश दिया कि वे लिंग-परीक्षण और चयन-प्रक्रियाओं पर प्रतिबंध लगाने वाले वर्तमान कानून को कड़ाई से लागू करें। किन्तु इन सबके बावजूद तथ्यात्मक वास्तविकता यह है कि केवल कानून और नियम बना देने मात्र से इस अव्यावहारिक कार्य को दूर करना संभव नहीं है। इसके लिए जरूरत है मानसिकता बदलने की एवं जन-जागरण करने की। इसमें सभी वर्गों विशेषकर प्रशासन एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों का सहयोग जरूरी है। विभिन्न स्तरों पर समन्वय स्थापित करना तथा राजनीतिक, प्रशासकीय एवं सामाजिक प्रतिबद्धता का होना भी सामान्य रूप से अपरिहार्य है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के बीच एक नई विचारधारा विकसित हो रही है, जिसके अनुसार जीवन के सभी व्यवहार एवं दृष्टिकोण किसी-न-किसी रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं। भ्रूण 1970 कन्या-भ्रूण-हत्या-विचार भी मनोवैज्ञानिकों के इस दृष्टिकोण का अपवाद नहीं है। उक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो चुका है कि कन्या-भ्रूण-हत्या के प्रति दृष्टिकोण अनेकानेक व्यक्तिगत एवं वाह्य तत्वों से प्रभावित होता है। कन्या-भ्रूण-हत्या के सम्बन्ध में दृष्टिकोण भी इसी तरह के वाह्य एवं आंतरिक चरों से प्रभावित एवं निर्धारित होते हैं। गर्भस्थ महिलाओं का कन्या-भ्रूण-हत्या के प्रति दृष्टिकोण भी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होगा।

परिकल्पना

प्रस्तावित अध्ययन के संदर्भ में यह परिकल्पना स्थापित की जाती है कि निम्न धार्मिक प्रवृत्ति की गर्भस्थ महिलाओं में कन्या-भ्रूण-हत्या के प्रति उच्च धार्मिक प्रवृत्ति की गर्भस्थ महिलाओं की अपेक्षा अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

विधि

जनसंख्या में धार्मिकता चर के वितरण की प्रवृत्ति का विश्लेषण करने के लिए भ्रूण 1970 द्वारा निर्मित व्यक्तित्व-अन्वेषिका का चालन किया गया।

अस्पताल

विभिन्न अस्पतालों में इलाजरत गर्भस्थ महिलाओं पर अध्ययन किया गया।

प्रतिदर्श

गर्भस्थ 300 महिलाओं को अध्ययन-क्षेत्र में सम्मिलित किया गया तथा प्रथम चतुर्थांश एवं तृतीय चतुर्थांश के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया गया, जिसके आधार पर निम्न धार्मिक प्रवृत्ति, अथवा धार्मिक प्रवृत्ति पर किसी रूप में कन्या-भ्रूण-हत्या पर अपना प्रभाव डालता है, अध्ययन किया गया।

संयंत्र एवं मापनी

व्यक्तित्व में धार्मिकता चर को मापने के लिए भूषण 1970 द्वारा निर्मित धार्मिकता मापनी का चयन किया गया। यह एक वाच बिन्दु लीकर्ट प्रणाली की मापनी है। इसमें प्रत्येक वक्तव्य के सामने पाँच बिन्दु अंकित हैं-पूर्ण सहमत, सहमत, असदिग्ध, असहमत एवं पूर्णतः सहमत। इनमें से कुछ स्वीकारात्मक एवं कुछ नकारात्मक वक्तव्य हैं। स्वीकारात्मक वक्तव्य के 'पूर्ण सहमत' के लिए पाँच अंक तथा 'पूर्ण असहमत' के लिए एक अंक निर्धारित है। इसी तरह नकारात्मक वक्तव्यों के लिए 'पूर्ण सहमत' उत्तर के लिए एक अंक और 'पूर्ण असहमत' के लिए पाँच अंक निर्धारित हैं। इस मापनी में कुल छत्तीस (36) वक्तव्य हैं। अतः इस मापनी के प्रति उच्चतम संभावित प्राप्तांक एक सौ अस्सी तथा निम्नतम संभावित प्राप्तांक छत्तीस की संभावना है। इस मापनी के प्रति उच्चतम अंक प्राप्त करने वाले को अधार्मिक तथा निम्न अंक प्राप्त करने वाले को निम्न धार्मिक माना जाता है।

इस मापनी की अर्द्ध-विच्छेद विश्वसनीयता 0.69 तथा परीक्षण पुनः परीक्षण विश्वसनीयता 0.78 बतायी गयी है। मापनी की वैधता के लिए ज्ञात समूह तुलना-विधि के प्रयोग के आधार पर प्राप्तांकों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता (टी. = 8.47) 0.001 स्तर पर प्रमाणित है। इस मापनी के कुल वक्तव्यों में से वक्तव्य-संख्या 1, 2, 3, 4, 5, 7, 9, 11, 12, 14, 15, 17, 18, 20, 22, 23, 24, 25, 26, 28, 30, 31, 32, 33 एवं 36 स्वीकारात्मक वक्तव्य हैं, जिसके प्रति पूर्ण सहमत उत्तर के लिए पाँच अंक निर्धारित हैं तथा वक्तव्य-संख्या 6, 8, 10, 13, 16, 19, 21, 27, 29, 34 एवं 35 नकारात्मक वक्तव्य हैं, जिनमें से प्रत्येक के प्रति पूर्ण सहमत उत्तर के लिए एक अंक निर्धारित है।

परिणाम

प्रयोगों की धार्मिकता को मापने के लिए बिहार के अंतर्गत विभिन्न अस्पतालों

में इलाजरत तीन सौ गर्भस्थ महिलाओं के प्रतिदर्श पर अध्ययन किया गया। भूषण 1970 द्वारा हिन्दी में निर्मित एवं सत्यापित धार्मिक मापनी का चालन किया गया। इस मापनी के आधार पर अधिकतम तथा न्यूनतम प्राप्तांक क्रमशः एक सौ अस्सी तथा छत्तीस की संभावना है। प्रतिदर्श के प्राप्तांकों का प्रसार तथा वितरण सारिणी 1 में वर्णित है।

धार्मिकता मापनी के आधार पर वर्तमान प्रतिदर्श से प्राप्त प्राप्तांक के ऊपर वर्णित प्रसार के सहयोग से किये गये परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय प्रवृत्ति के तीनों ही मापों-मध्यमान, मध्यांक तथा बहुलांक में इतनी निकटता तथा समानता है कि वर्तमान प्रतिदर्श को वास्तविक जनसंख्या के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रतिदर्श के मध्यमान की प्रामाणिक त्रुटि 0.84 है, जिसके आधार पर यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि प्रतिदर्श

सारिणी-1 (आवृत्ति)

156-161-7		
150-155-10		
144-149-16		
138-143-31	मध्यमान	127.68
132-137-43	मध्यांक	127.5
126-131-43	बहुलांक	127.14
120-125-40	प्रामाणिक विचलन	014.65
114-119-48	मध्यमान की प्रामाणिक त्रुटि	000.84
108-113-32		
102-107-17		
096-101-09		
090-095-04		
300		

का मध्यमान जनसंख्या के मध्यमान से अधिक-से-अधिक 1.64 (0.84×1.96) की सीमा में ही विचलन प्रदर्शित कर सकता है। (विश्वसनीयता सीमा 0.05)।

प्राप्त निष्कर्ष से प्रमाणित होता है कि यह धार्मिकता पर जनसंख्या में समान रूप से विचरित नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में एक छोर पर जहाँ अत्यन्त धार्मिक गर्भस्थ महिलाएँ हैं वहीं इसके दूसरे छोर पर अधार्मिक गर्भस्थ महिलाएँ भी लगभग उसी अनुपात में विद्यमान हैं तथा बहुत बड़ी संख्या इन दोनों ही बिन्दुओं के बीच में पड़ती है।

धार्मिकता एवं कन्या-भ्रूण-हत्या

धार्मिकता तथा कन्या-भ्रूण-हत्या के सम्बन्ध में यह परिकल्पना की गयी थी कि निम्न धार्मिक गर्भस्थ महिलाओं में उच्च धार्मिक गर्भस्थ महिलाओं की अपेक्षा कन्या-भ्रूण-हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी। तीन सौ गर्भस्थ

महिलाओं के प्रतिदर्श पर धार्मिकता प्रश्नावली का चालन किया गया। प्रतिदर्श के प्राप्तांकों के आधार पर तृतीय चतुर्थांश से ऊपर (उच्चतम पचीस प्रतिशत) तथा प्रथम चतुर्थांश से नीचे (निम्नतम पचीस प्रतिशत) के समूहों को क्रमशः निम्न धार्मिक तथा उच्च धार्मिक समूह माना गया। इन दोनों ही समूहों में सांख्यिकीय गणना के आधार पर प्रयोगों की संख्या 72 तथा 77 निर्धारित हुई। इस प्रतिदर्श का प्रथम चतुर्थांश 117.21 तथा तृतीय चतुर्थांश 137.96 है। इन दोनों ही निम्न धार्मिक-उच्च धार्मिक समूहों के कन्या-भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के वितरण के मध्यमान, प्रामाणिक विचलन एवं 'टी' अनुपात का तुलनात्मक अध्ययन सारिणी-2 में वर्णित है।

सारिणी-2 में वर्णित दोनों ही समूहों के सांख्यिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि उच्च

धार्मिक समूह के कन्या-भ्रूण-मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 193.96 तथा निम्न धार्मिक समूह के कन्या-भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 197.88 है। दोनों ही समूहों के मध्यमानों के आधार पर प्राप्त 'टी' अनुपात 1.41 है जो 0.10 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। अतः निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि ऊपर वर्णित परिकल्पना, जिसमें निम्न धार्मिक प्रवृत्ति की गर्भस्थ महिलाओं में कन्या-भ्रूण-हत्या के प्रति उच्च धार्मिक प्रवृत्ति की गर्भस्थ महिलाओं की अपेक्षा अनुकूल मनोवृत्ति पाये जाने की प्राक्-कल्पना की गई थी, सत्य प्रमाणित हो रही है। लेकिन यह सार्थकता के किसी भी स्तर पर प्रमाणित नहीं हो रही है। प्रतिदर्श के धार्मिकता प्राप्तांक (प्रतिदर्श संख्या तीन सौ) तथा कन्या-भ्रूण-हत्या। मनोवृत्ति प्राप्तांक (प्रतिदर्श संख्या तीन सौ) के बीच पीयरसन प्रोडक्ट मोमेन्ट-सह सम्बन्ध विधि का चालन किया गया। इस जाँच के आधार पर दोनों ही चरों के बीच 0.0091 सह-सम्बन्ध गुणांक प्राप्त हुआ जो विश्वसनीयता के किसी भी स्तर पर सार्थक प्रमाणित नहीं हो रहा है। यह सह-सम्बन्ध गुणांक दोनों ही चरों के बीच किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को प्रदर्शित नहीं करता है। गैरट 1955 सारिणी जे, पृष्ठ-439। इन विवेचनों के आधार पर प्राक्-कल्पना से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :-

क. निम्न धार्मिक गर्भस्थ सह महिलाओं में उच्च धार्मिक गर्भस्थ महिलाओं की अपेक्षा अनुकूल कन्या-भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति पायी जाती है लेकिन परिणाम की विश्वसनीयता संदिग्ध है।

सारिणी-2

उच्च एवं निम्न धार्मिक समूहों के कन्या-भ्रूण-हत्या मध्यमान प्राप्तांकों का तुलनात्मक विवेचन कन्या-भ्रूण-हत्या मध्यमान प्राप्तांक

समूह	संख्या	मध्यमान प्र.वि.	मध्यमान की प्रामाणिक त्रुटि	मध्यमानों का अंतर	मध्यमानों के अंतर में प्र.त्रुटि	सार्थकता स्तर 'टी' अनुपात	
उच्च धार्मिक	77	193.96	17.27	1.968	3.92	2.78	1.41.10
निम्न धार्मिक	72	197.88	16.68	1.965			

उच्च एवं निम्न धार्मिक समूहों के कन्या-भ्रूण-हत्या मध्यमान प्राप्तांकों का सह-सम्बन्ध गुणांक।

सारिणी-3

उच्च एवं निम्न धार्मिक	सह-सम्बन्ध	सार्थकता स्तर
	- 0.0091 -	0.103 सार्थक

ख. धार्मिकता तथा कन्या-भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति के बीच सह-सम्बन्ध नहीं है।

2. डी.डी. शर्मा, प्रारंभिक सामाजिक अनुसंधान, मेरठ, 1988।

3. भूषण, एल.आई., (1970), रेलिजियोसिटी स्केल, इण्डि.जे. साइकोलॉजी, 45(5) 335-342

4. ठाकुर एण्ड सिन्हा, (2007), ऐटिचूड टुआर्डस् फोयेटीसाईड स्केल, 2007।

5. आइसेन्क आर.जे., (1947), डाइमेन्संस ऑफ परसोनैलिटी, लंदन रूटलेज कंगनपॉल लिमिटेड, लंदन।

6. गैरेज एच.इ (1955): सैटिसफैक्शन इन साइकोलॉजी एण्ड एडुकेशन फोर्थ इडीशन लौंगमैन, ग्रीन एण्ड कं., न्यूयार्क।

टिप्पणी एवं संदर्भ

1. जैकोब एलेक्जेन्डर, ज्वायंट सेक्रेट्री, केरला पुलिस प्रतिवेदन, हिन्दुस्तान डेली, नई दिल्ली।

मनोविज्ञान-विभाग,
चोखानी महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

राजनीति विज्ञान पर कुछ बेहतरीन पुस्तकें

• भारत का संविधान • सामाजिक संरचना • भारतीय राजनीतिक व्यवस्था: दशा एवं दिशा • भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे • राजनीति के प्रमुख वाद • दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया • नौकरशाही एवं विकास • राजनीतिक वादों का अध्ययन • भूमंडलीकरण : विविध आयाम • भारतीय शासन एवं राजनीति • प्रजातंत्र • भारत में सामाजिक आन्दोलन • धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता • भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग,

करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

मादा भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कुमारी संगीता

विभिन्न स्रोतों के अवलोकन एवं अनेक व्यक्तियों के साक्षात्कार के फलस्वरूप यह पाया गया है कि मादा भ्रूण-हत्या के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारण हैं। मादा-भ्रूण-हत्या की पहचान एवं उसके गर्भपात की सस्ती एवं सुलभ व्यवस्था चिकित्सकों में सामाजिक एवं नैतिक जिम्मेदारियों का अभाव तथा ज्यादा से ज्यादा धनोपार्जन की लालसा एवं जनरीतियाँ तथा पुत्र द्वारा वंश को आगे बढ़ाने की अवधारणा, मुखाग्नि देने तथा क्रियाकर्म आदि में पुत्र के हाथों सम्पन्न कराने की प्रथा इत्यादि इस समस्या को बढ़ावा देता है। विभिन्न धर्मों में मादा-भ्रूण-हत्या तुलनात्मक अध्ययन में पाया गया है कि जैसे धार्मिक समुदाय के लोग जो कर्मकांडीय व्यवस्था पर अधिक जोर देते हैं उन समुदायों में मादा-भ्रूण-हत्या की दर उच्च होती है। अतः धार्मिक मान्यताएं भी इस समस्या में भूमिका अदा करती हैं।

राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त आँकड़ें बताते हैं कि पारंपरिक पुत्र-मोह और आधुनिक तकनीक के सुविधा के कारण भारतवर्ष में कम-से-कम पाँच लाख कन्या-भ्रूणों की हत्या प्रतिवर्ष होती है। अल्ट्रासोनोग्राफी, एम्नियोसेंटिसिस तथा अन्य तकनीकों के जरिए गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता करते कन्या भ्रूण-हत्या पाए जाने पर गर्भपात के जरिए उसकी हत्या किए जाने का गैरकानूनी सिलसिला भारत में बड़ी तेजी से फैला है और जिसकी परिणति एक विकराल समस्या के रूप में उभरी है जिसमें पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या में भारी कमी आयी है। वर्ष 1981 की जनगणना में यह अनुपात 100 : 972 था। जो 1991 में घटकर 100 : 927 रह गया। वर्ष 2001 की जनगणना में छह: साल तक के शिशुओं के लिंग अनुपात के बारे में जो जानकारी मिली उसके मुताबिक कन्या भ्रूण-हत्या के दुरुपयोग में और वृद्धि हुई। इस मामले में अग्रणी पंजाब में 1991 में 1000 लड़कों

की तुलना में 875 लड़कियाँ थीं जबकि अब यह अनुपात सिर्फ 793 का रह गया है। हरियाणा का अनुपात 906, गुजरात 921, महाराष्ट्र 927 और बिहार 921 है। उल्लेखनीय है कि कन्या-भ्रूण-हत्या के सबसे ज्यादा मामले क्रमशः महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान एवं पंजाब में हैं। यहाँ यह स्थिति इसलिए भी बरकरार है क्योंकि जन्म से पूर्व लिंग पता लगाने वाले बहुतायत क्लीनिक खुल गये हैं। विडम्बना यह है कि ये क्लीनिक पंजीकृत तक नहीं हैं। इस स्थिति से उबरने के लिए भारतवर्ष में कानून भी बनाए गए जिसमें जनवरी 1996 से प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम 1993 यथा संशोधित 2002 के अन्तर्गत गर्भस्थ शिशु के लिंग निर्धारण पर पाबंदी है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक, सामाजिक और मानसिक चिंतन में स्त्री को पुरुषों की समानता मिले और सभी वर्ग के लोग सुनिश्चित और निर्भय होकर यह मान लें कि कन्या न तो आर्थिक बोझ है और न ही सामाजिक। सभी वर्ग के लोगों को अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाना होगा तभी कन्या-भ्रूण-हत्या को रोका जा सकता है।

कन्या-भ्रूण-हत्या एक सामाजिक समस्या है लेकिन इसपर व्यक्ति से सम्बन्धित चर भी अपना प्रभाव डालता है। व्यक्तित्व के अनुसार ही व्यवहार एवं मनोवृत्ति का निर्धारण होता है। वर्तमान अध्ययन के अन्तर्गत व्यक्तित्व के आरगेंक व्यक्तित्व प्रश्नावली का हिन्दी अनुवाद के आधार पर अध्ययन किया गया है। आइगेंक (1975) ने वर्हिमुखता का वर्णन करते हुए कहा है कि ऐसा व्यक्ति सामाजिक होता है वह समूह में रहना चाहता है; दोस्त बनाता है, अनजान लोगों से भी बातचीत करना पसन्द करता है। वह एकान्त प्रिय नहीं होता है, चुपचाप अध्ययन में रत रहना नहीं पसन्द करता है, वह जीवन में नयापन चाहता है, छोटा जोखिम उठाने के लिए तैयार रहता है तथा दूसरों की बातों में भी अपने को सम्मिलित करना चाहता है। वह तत्क्षण समस्याओं का निर्णय लेता है। वह आवेगशील होता है। वह परिहास प्रिय होता है तथा समस्याओं के प्रति उसके उत्तर तैयार रहते हैं। वह चिन्तामुक्त होता है। जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखता है तथा सामान्य हँसता-खेलता जीवन बिताना चाहता है। वह समाज में हमेशा परिवर्तन चाहता है। मतान्तर होने पर वह आक्रामक भी हो उठता है तथा उसे तुरन्त क्रोध आ जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने पर पूर्ण नियंत्रण

नहीं रख सकता है और इसके व्यवहारों का पूर्व कथन संभव नहीं होता है।

दूसरी ओर एक अर्न्तमुखी व्यक्ति शान्त और शिथिल अर्न्तमुखी स्वभाव का होता है। वह लोगों से कम मिलना चाहता है तथा स्वाध्याय में ही समय बिताता है। जीवन में सोच समझकर ही कोई कदम उठाता है तथा आवेग में कोई काम नहीं करता है। प्रत्येक काम को पूरी तत्परता एवं जबाबदेही के साथ ही पूरा करता है तथा कभी भी आक्रामक नहीं हो सकता है। वह विश्वसनीय होता है, धार्मिक मूल्यों के प्रति उसकी आस्था रहती है तथा कुछ निराशावादी प्रवृत्ति रखता है। अतः यह प्रायः कल्पना की जाती है कि बर्हिमुखी पुरुष एवं महिलाओं में मादा भ्रूण-हत्या के प्रति अर्न्तमुखी पुरुष एवं महिलाओं की अपेक्षा अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

विधि: जनसंख्या में व्यक्तित्व चर का भ्रूण-हत्या पर पड़नेवाले प्रभाव के मापन हेतु आइगेंक व्यक्तित्व प्रश्नावली (1959) का हिन्दी अनुवाद का चालन किया गया।

क्षेत्र: मुजफ्फरपुर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र के प्रबुद्ध माता-पिता को अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया।

प्रतिदर्श: मुजफ्फरपुर शहर एवं ग्रामीण क्षेत्र के तीन सौ माता-पिता को प्रतिदर्श के रूप में चुनाव किया गया। तीन सौ के आधार पर व्यक्तित्व के बर्हिमुखता-अर्न्तमुखता चर का प्रभाव देखा गया।

संयंत्र एवं मापनी: व्यक्तित्व के अर्न्तमुखता-बर्हिमुखता चर को मापने के लिए आइगेंक (1959) के द्वारा निर्मित ई०पी०आई० के हिन्दी रूपान्तर

(मनोवैज्ञानिक शोध एवं सेवा संस्थान, पटना विश्वविद्यालय) आइगेंक-बर्हिमुखता अन्वेषिका का चालन किया गया। यह अन्वेषिका अर्न्तमुखता-बर्हिमुखता के अतिरिक्त व्यक्तित्व के अन्य आयामों का भी अध्ययन करता है। इस प्रश्नावली के प्रश्न संख्या 1, 3, 5, 8, 10, 13, 15, 17, 22, 25, 27, 29, 32, 34, 37, 39, 41, 44, 46, 49, 51, 53, 56 व्यक्तित्व के बर्हिमुखता-अर्न्तमुखता चर को मापता है। यह प्रश्नावली एक “हाँ”, “नहीं” प्रकार की प्रश्नावली है। कुछ प्रश्न साकारात्मक एवं कुछ नाकारात्मक हैं। प्रत्येक साकारात्मक के प्रति हाँ एक अंक निर्धारित करता है और नाकारात्मक के प्रति नहीं के द्वारा एक अंक प्राप्त किया जाता है। इस मापनी के आधार पर अधिकतम अंक चौबीस एवं उच्चतम शून्य की संभावना है। मापनी के प्रति उच्च अंक प्राप्त समूह बर्हिमुखी तथा निम्न अंक प्राप्त समूह अर्न्तमुखी माना जाता है। आइगेंक के द्वारा निर्मित ई०पी०आई० के इस हिन्दी अनुवाद के प्रयोग को ही उचित माना गया।

सारिणी संख्या-1

बर्हिमुखी-अर्न्तमुखी समूहों के मादा भ्रूण-हत्या म० प्राप्ताकों का तुलनात्मक विवेचन:-

मादा-भ्रूण-हत्या म० प्राप्तांक	बर्हिमुखी	अर्न्तमुखी
संख्या-	68	76
मध्यमान-	196.95	185.14
प्रा० विचलन	21.20	17.67
मध्यमान की प्रमाणित त्रुटि-	2.61	2.05
मध्यमानों का अन्तर-	11.84	
मध्यमानों के अन्तर की प्रमाणिक त्रुटि-	3.32	
टी अनुपात-	3.57	
सार्थकता स्तर-	0.01	

11.73 है। इन दोनों ही बर्हिमुखी-अर्न्तमुखी समूहों के मादा-भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्ताकों के वितरण के मध्यमान, प्राथमिक उच्चतम एवं अनुपात का तुलनात्मक अध्ययन नीचे सारणी में वर्णित है।

उपरोक्त वर्णित सारिणी संख्या एक में दोनों ही समूहों के मादा भ्रूण-हत्या म० के सांख्यिकीय प्राप्ताकों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि बर्हिमुखी समूह के मादा भ्रूण-हत्या म० प्राप्ताकों का मध्यमान 196.95 तथा अर्न्तमुखी समूह के मादा भ्रूण हत्या म० प्राप्ताकों का मध्यमान 185.14 है। दोनों ही समूहों का टी अनुपात 3.57 जो 142 डी०एफ० के लिए 0.01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। अतः यह निष्कर्ष किया जा सकता है कि प्राक्कल्पना में वर्णित मादा भ्रूण हत्या म० सत्य प्रमाणित हुई। प्रतिदर्श के अर्न्तमुखी-बर्हिमुखी प्राप्तांक (प्रतिदर्श संख्या तीन सौ) तथा मादा-भ्रूण-हत्या म० प्राप्ताकों के बीच प्रोडक्ट मोमेन्ट सह-सम्बन्ध विधि का चालन किया गया। इस जाँच के आधार पर दोनों ही चरों के बीच 0.40 सह-सम्बन्ध गुणांक प्राप्त हुआ जो 298 डी०एफ० के लिए 0.01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। यह सह-सम्बन्ध गुणांक दोनों ही चरों के बीच धनात्मक घनिष्ट सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है। (गेरेट 1955, सारिपीजे, पेज 439)।

व्यक्तित्व के अर्न्तमुखता बर्हिमुखता चर के सम्बन्ध में प्राप्तांक निष्कर्षों के आधार पर प्रथम प्राक्कल्पना से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

- (क) अर्न्तमुखी माता-पिता की अपेक्षा बर्हिमुखी माता-पिता में मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जाती है।
- (ख) अर्न्तमुखता-बर्हिमुखता तथा मादा-भ्रूण हत्या म० के बीच उच्च एवं सार्थक सह सम्बन्ध है।
- (ग) व्यक्तित्व के अर्न्तमुखता-बर्हिमुखता का जनसंख्या के सामान्य वितरण प्रमाणित होता है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष

मादा-भ्रूण हत्या मनोवृत्ति एवं उनके व्यक्तित्व के बर्हिमुखता-अर्न्तमुखता चर के अन्तर सम्बन्ध की समीक्षा की गई। अध्ययन परिणाम के आधार पर यह प्रमाणित हुआ कि बर्हिमुखी माता-पिता के समूह की मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति है तथा अर्न्तमुखी माता-पिता में उतनी अनुकूल मनोवृत्ति है तथा अर्न्तमुखी माता-पिता में उतनी अनुकूल मनोवृत्ति नहीं पायी जाती है। व्यक्तित्व के इस चर के सम्बन्ध में उपर ऐसी ही परिकल्पना की गई है जो इस अध्ययन परिणाम से प्रमाणित होती है। अर्न्तमुखी समूह का मादा भ्रूण हत्या म० प्राप्तांक मध्यमान 185.14 एवं बर्हिमुखी समूह का प्राप्तांक मध्यमान 196.95 है। दोनों के बीच के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता 0.01 टी अनुपात 3.51 प्राप्त हुआ है। मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता 0.01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रही है। व्यक्तित्व के बर्हिमुखी-अर्न्तमुखी चर के सम्बन्ध में आईगेंक (1975) ने वृहद विवेचन की है तथा इसे व्यक्तित्व का एक प्रमुख चर स्वीकार किया है। उन्होंने बर्हिमुखी के सम्बन्ध में कहा है कि बर्हिमुखी व्यक्ति अत्यन्त सामाजिक होता है। वह

समाज के सभी समस्याओं के प्रति जागरूक होता है। बर्हिमुखी व्यक्ति सामने आयी हुई समस्या की अवहेलना नहीं करता बल्कि इसका शीघ्र समाधान खोज कर उसे समाप्त कर देना चाहता है। मादा-भ्रूण भी वर्तमान संदर्भ में एक समस्या है क्योंकि इस भौतिकवादी समाज में सोच बदले हैं, मनोवृत्ति बदली है। विचारधारा और जीवनशैली में भी परिवर्तन आया है। व्यक्तित्व के बर्हिमुखता और अर्न्तमुखता चर भी मादा-भ्रूण हत्या पर अपना प्रभाव डालता है।

संदर्भ-साहित्य

1. Eysenck J. H. (1959)- The Mannual of the Maudsby Personality inventory London: University of London Press.
2. Eysenck H. S. Eysenck S. B. G. (1975) - Mannual of the Eysenck Personality Questionnaire, Hodder and Stoughton.
3. Gareffe. H. E. (1955) - Satisfaction in Psychology and Education (fourth edition), Longman, Green and Co., New York.
4. Thakur & Sinha Asha (2007)- Foeticide Attitude Scale, B. R. A. B.U., Muzaffarpur.
5. Goode, W. J. & Hatt. P. K. (1952) - Methods in Social research, New York, Mc Craw Hill.
6. Murphy, G & Likert R (1938)- Public opinion and the individual New York, Harper.
7. Dr. Kumar Sanjeev (2007) - Female Foeticide : A Blot on Society.

शोध छात्र, विश्वविद्यालय गृह विज्ञान विभाग, बी.आर.ए. विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

निर्धनता और इसको दूर करने के उपाय

अरविन्द कुमार

भारत में निर्धन एवं यहाँ की निर्धनता सर्वव्यापी है। यद्यपि आर्थिक रूप से भारत विश्व मानचित्र पर तेजी से उभरता हुआ देश है परन्तु फिर भी यह अपने पड़ोसी देशों से बहुत से मामलों में आज भी काफी निचले पायदान पर खड़ा है। प्राप्त नवीनतम सूचनाओं के आधार पर भारत भूखे जनता के हिसाब से 88 देशों की सूची में 66वें क्रमांक पर खड़ा होकर अपने आर्थिक विकास को खुद मुँह चिढ़ा रहा है।

अंतरराष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान संस्थान द्वारा तैयार किए गए वैश्विक भूख सूचकांक में भारत में भूख से शिकार लोगों की संख्या 20 करोड़ बताई गई है जो विश्व में सर्वाधिक है, किन्तु अगर इसकी वास्तविकता से गहन समीक्षा किया जाए तो यह काफी विकराल स्थिति को दर्शाती है। अगर सरकार इस स्थिति से निपटने के लिए तत्काल प्रभावी उपाय एवं योजनाएँ लागू नहीं करती है तो सम्भव है भारत को अफ्रीकी देशों की तरह अनाज के लिए दंगा की स्थिति से दो-चार होना पड़े।

एक ओर जहाँ भारत विकास दर के दहाई अंक को छूकर एवं व्यापक विश्व मंदी में भी विकास के 7-8 प्रतिशत की वृद्धि दर को देखकर इठलाती फिर रही है वहीं यहाँ की 35 करोड़ जनता आज भी घोर गरीबी से दो-चार हो रही है और अपने एवं अपने आश्रितों को दो जून का खाद्यान्न मुहैया कराने में अपने आप को अक्षम पा रही है।

एक तरह भारत वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के नाम पर अरबपतियों की बढ़ती संख्या पर गर्व कर रही है तो दूसरी तरफ यहाँ के अन्नदाता अपने ऊपर बढ़ते कर्ज के दबाव में नित्य आत्महत्या कर रहे हैं। सवाल उठता है कि इस निर्धनता के दोषी कौन हैं? सरकार इस निर्धनता को दूर करने के लिए

उपाय क्यों नहीं कर रही ? अगर कर रही है तो इसका लाभ निर्धन लोगों तक पहुँच क्यों नहीं रहा ?

उपरोक्त वास्तविकता को स्वीकारने की हिम्मत भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने दिखाई। अपने स्वतंत्रता दिवस (15 अगस्त 2001) के राष्ट्र के नाम संदेश में यह स्वीकार किया कि “उदारीकरण के लाभ गरीबों एवं ग्राम क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों को पर्याप्त रूप में नहीं पहुँचे हैं। असमानता में वृद्धि हुई है।”

आज जरूरत आन पड़ी है की इस राक्षस रूपी निर्धनता को समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा प्रायोजित योजनाओं में दोहरी रणनीति अपनाने की जरूरत निम्नलिखित है:-

- (1) ऐसे क्षेत्रों का विस्तार करना जिसमें मजदूरों को अधिक मात्रा में रोजगार प्राप्त हो एवं
- (2) गरीबों को शिक्षा, कौशल निर्माण इत्यादि द्वारा सशक्त बनाना ताकि वे प्रतिस्पर्धी क्षेत्र में रोजगार प्राप्त कर बेहतर पारिश्रमिक प्राप्त कर सकें।

जैसा की हम जानते हैं कि मजदूरों का शोषण पूंजीपतियों के लाभ को बढ़ाता है। हाल के वर्षों में पूंजीपतियों के इस व्यवहार में काफी तेजी से बढ़ती हुई प्रवृत्ति देखी गई है जो निम्न तालिका से पूर्णतः स्पष्ट हो जाएगी।

तालिका-1

भारत में संगठित विनिर्माण में लाभ एवं मजदूरी का भाग

वर्ष	शुद्ध मूल्य वृद्धि	लाभ का भाग %	मजदूरी का भाग %
1989-90	42663	19.1%	50.8%
1994-95	105852	40.6%	38.9%
1999-2000	154974	30.5%	38.2%
2000-01	143621	24.2%	43.1%
2001-02	144302	24.2%	44.0%
2002-03	172340	35.9%	39.7%
2003-04	202954	45.5%	35.7%
2004-05	259907	55.6%	32.4%

स्रोत : सी.एस.ओ., उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण।

तालिका 1 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि मजदूरी का भाग जो 1989-90 में 50.8% था, 1994-95 में

गिरकर 38.9% और फिर यह और गिरता हुआ 2004-05 में 32.4% हो गया। इसके विरुद्ध, लाभ का भाग जो 1989-90 में केवल 19.1% था, बढ़कर 1994-95 में 40.6% और फिर तेजी से बढ़ता हुआ 2004-05 में 55.6% हो गया। मजदूरों में गिरावट के विरुद्ध लाभ के भाग में ड्रामाई वृद्धि गरीबी कम करने की मन्द गति का कारण है।

वर्णित समस्याओं के समाधान के लिए यदि राजसत्ता द्वारा कारगर कदम उठाए जाए तो निर्धनता को खत्म किया जा सकता है। परन्तु याद रहे सिर्फ योजनाओं को लागू करना ही काफी नहीं है, वरन् इसके लिए राजनैतिक इच्छाशक्ति के साथ-साथ योजनाओं को असलियत के धरातल पर लागू करना भी आवश्यक है:-

- (1) गरीब समर्पित विकास की रणनीति अपनाना।
- (2) कृषि विकास को तेज करना साथ ही साथ किसानों को लाभान्वित करने के उद्देश्य से व्यापक स्तर पर योजनाओं को लागू करना।
- (3) असंगठित क्षेत्र की उत्पादकता एवं रोजगार के गुणवत्ता को बढ़ावा देना।
- (4) गरीबी में कमी करने के उद्देश्य से मजदूरों को राष्ट्रीय आय में मजबूत हिस्सेदारी सुनिश्चित करना।
- (5) शिक्षा और कौशल निर्माण द्वारा गरीबों का सशक्तिकरण।
- (6) समुचित स्वास्थ्य के प्रावधान द्वारा गरीबों का सशक्तिकरण।

- (7) गरीबों के लिए आवास के प्रावधान के साथ इनका सशक्तिकरण।
- (8) हमारे बढ़ते हुए सूचना टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में गरीबों द्वारा भागीदारी।
- (9) राष्ट्रीय ग्राम रोजगार गारंटी योजना द्वारा गरीबों को रोजगार उत्पन्न करना।

निष्कर्ष के रूप में कुछ विचार

जेफरी सैक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, "गरीबी का अन्त-हम इसे अपने जीवन में कैसे प्राप्त कर सकते हैं", में उल्लेख किया है : अत्यन्त गरीबों के पास छः मुख्य प्रकार की पूँजी का अभाव होता है:-

मानवीय पूँजी: स्वास्थ्य, पोषण और कौशल जो प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक रूप में उत्पादक होने के लिए चाहिए।

व्यापारिक पूँजी: मशीनरी सुविधाएँ, यंत्रिकृत परिवहन जिसका कृषि, उद्योग और सेवाओं में प्रयोग किया जाए।

आधार संरचना: सड़कें, पावर, पानी, सफाई, वायु परिवहन और समुद्री परिवहन और रेल, संचार प्रणालियाँ जो व्यापारिक उत्पादन बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण आदान हैं।

राष्ट्रीय पूँजी: कृषि-योग्य भूमि, स्वस्थ मिट्टी, जैसे-विविधता, सुचारू रूप से कार्य करने वाली पर्यावरण प्रणालियाँ जो समाज द्वारा आवश्यक पर्यावरण सेवाएँ उपलब्ध कराएँ।

सार्वजनिक संस्थानात्मक पूँजी: वाणिज्य विधान, न्याय प्रणालियाँ, सरकारी सेवाएँ और पुलिस जो पूँजी और शान्तिपूर्ण और समृद्धि की दृष्टि से आवश्यक है।

ज्ञान पूँजी: वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान जो व्यापारिक उत्पादन और भौतिक एवं प्राकृतिक पूँजी को प्रोन्नति करते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में पांच प्रकार के निवेश पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए: (1) मानवीय पूँजी (स्वास्थ्य, शिक्षा और पोषण); (2) आधारसंरचना (सड़कें, पावर, पानी, सफाई और पर्यावरण की देखभाल); (3) प्राकृतिक पूँजी (जैव-विविधता और पर्यावरण प्रणालियों का पर्यावरण का संरक्षण); (4) सार्वजनिक संस्थानात्मक पूँजी (सुचालित प्रशासन, न्याय प्रणाली, पुलिस बल) और ज्ञान पूँजी (सुचालित प्रशासन, न्याय प्रणाली, पुलिस बल) और ज्ञान पूँजी के कुछ हिस्से वैज्ञानिक अनुसंधान जो स्वास्थ्य, ऊर्जा, कृषि, जलवायु और पर्यावरण के बारे में किया जाए।

सफल अर्थव्यवस्थाओं का सामान्य सबक यह है कि सरकार को अपना ध्यान सामान्य प्रकार के निवेश पर केन्द्रित करना चाहिए : स्कूल, क्लीनिक, सड़कें और बुनियादी अनुसंधान। इसे अत्यन्त विशिष्टीकृत व्यापारिक निवेश को निजी क्षेत्र पर छोड़ देना चाहिए।

यदि सरकार अपने सामान्य कार्यों को सफलतापूर्ण निभा लेती है तो यह एक ऐसी प्रक्रिया चालू कर देती है जिसके परिणामस्वरूप गरीबी समाप्त की जा सकती है।

बुनियादी तौर पर गरीबी समाप्त करने के लक्ष्य के प्रति वचनबद्धता होनी चाहिए कि हम इसे अपने जीवनकाल में कैसे प्राप्त कर सकते हैं। **मानवीय शक्तियों को दृढ़ संकल्प वाले नेताओं द्वारा गति प्रदान कर दी जाए तो इससे**

मानव समाज की काया पलट सकती है। इसके लिए गरीबी के अन्त को केन्द्रीय लक्ष्य बनाना होगा और गरीबी को दूर करने के सभी उपायों को प्रोत्साहन देना होगा।

गरीबी में कमी के लिए गरीब पक्षीय विकास रणनीति पर बल देना होगा ताकि गरीबों को ऐसे क्षेत्रों में उत्पादक रोजगार अवसर उपलब्ध कराए जाएँ जिनसे उनकी आय का स्तर उन्नत हो। इसके लिए आवश्यक है:-

- (1) कृषि को मजबूत बनाना जो 60 प्रतिशत श्रमशक्ति को रोजगार मुहैया कराती है और इसकी वार्षिक वृद्धिदर को 4% तक ले जाना।
- (2) भू-धारण प्रणालियों को मजबूत बनाना ताकि फसल सह-भाजकों और भू-स्वामियों को सुरक्षित भू-अधिकार प्रदान किया जा सके।
- (3) असंगठित क्षेत्र की उत्पादित और रोजगार गुणवत्ता को उन्नत करना।
- (4) लाभ के भाग में बेरोकटोक वृद्धि

की अपेक्षा विकास-प्रक्रिया में मजदूरी के भाग को उन्नत करना।

- (5) शिक्षा और कौशल निर्माण द्वारा गरीबों का सशक्तिकरण।
- (6) अच्छे स्वास्थ्य द्वारा गरीबों का सशक्तिकरण।
- (7) आवास मुहैया कराकर गरीबों का सशक्तिकरण।
- (8) तेजी से बढ़ते हुए सूचना टेक्नोलॉजी क्षेत्र के लिए गरीबों में कौशल निर्माण बढ़ाना।
- (9) रोजगार जनन प्रोग्रामों की सहायता से गरीबों के लिए निरन्तर रोजगार का विस्तार करना (केवल मौसमी रोजगार नहीं) और चिरस्थायी उत्पादक परिसम्पत्तों का निर्माण कर उत्पादित को बढ़ाना।
- (10) राज्य के कार्यभाग को केवल उदारीकरण मॉडलों को प्रोन्नत करने की अपेक्षा अधिक सक्रिय रूप से पांच प्रकार की पूंजी को बढ़ावा देना अर्थात् मानवीय पूंजी, आधार संरचना, प्राकृतिक पूंजी, सार्वजनिक संस्थानात्मक पूंजी

और ज्ञान पूंजी। इसी मार्ग को अपनाते से गरीबी समाप्त हो सकती है।

यदि ये उपाय लागू कर दिए जाते हैं तो यह आशा की जा सकती है कि बहुत से गरीबों के चेहरे पर मुस्कुराहट आ जाएगी।

सन्दर्भ

1. भारतीय ग्रामीण अर्थशास्त्र और कृषि अर्थशास्त्र: प्रकृति और समस्याएँ, लेखक-श्रीधर पाण्डेय।
2. दैनिक हिन्दुस्तान-सम्पादकीय।
3. दैनिक जागरण-सम्पादकीय।
4. गरीबों के मुंह पर मुस्कुराहट कैसे आए? आलेख- प्रो० रूद्रदत्त।
5. सी.एस.ओ.-उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण की रिपोर्ट।
6. गुगल इन्टरनेट सर्च।
7. पत्र-पत्रिकाएँ, जर्नल इत्यादि।
8. योजना।

शोध छात्र, वाणिज्य संकाय
पटना विश्वविद्यालय, पटना
पोस्ट. बी.भी. कॉलेज,
राजा बाजार, पटना-14

श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी	इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ. सुधा सिंह	200.00
उत्तरांचल की लोककथाएं	राकेश चक्र	150.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1	अन्तोन चेखव	200.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2	अन्तोन चेखव	200.00
ओ. हेनरी की अमर कहानियां	ओ. हेनरी	150.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	प्रेमचन्द	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर,
दिल्ली-110053 फोन : 9811710900

ब्रिटिश राज के दौरान धन की निकासी का सिद्धान्त

डॉ. पल्लवी कुमारी

ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे घातक प्रभाव जो भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ा रहा था वह था भारतीय पूँजी और अन्य वस्तुओं का भारत से बाहर इंग्लैंड में जाना और उसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होना। 1757 तक यूरोपीय व्यापारियों को अपने देश में कड़े विरोधों के बावजूद भारत में धात्विक मुद्रा लानी पड़ती थी क्योंकि पश्चिमी देशों में तो भारत के सूती एवं रेशमी कपड़ों का फैलता व्यापार था लेकिन भारत में पश्चिमी उत्पादों की माँग आमतौर पर नगण्य होती थी। इस समस्या को प्लासी के युद्ध ने बड़े नाटकीय ढंग से सुलझा दिया। अब बंगाल से लूटा हुआ धन, देश के भीतर किए जाने वाले कर मुक्त व्यापार का लाभ और बंगाल का दीवानी राजस्व-इन सबको ही कम्पनी अपना 'पूँजी-निवेश' कहने लगी। वास्तविकता यह थी कि यह सब खुलेआम भारतीय धन की निकासी की प्रक्रिया थी क्योंकि बंगाल में सैन्य-विजय से प्राप्त लाभांश का उपयोग बंगाल से ही माल खरीदकर निर्यात करने के लिए किया जा रहा था।

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् जब मैनचेस्टर की प्रतिस्पर्धा के कारण भारतीय रेशमी और सूती कपड़ों के निर्यात में गिरावट आ गयी तो कम्पनी को उसके कर्मचारियों और निजी व्यापारियों के लिए समान रूप से धन इंग्लैंड भेजने की गंभीर समस्या का सामना करना पड़ा। आरम्भ में इस समस्या का सामना करने के लिए नील की खेती का विकास किया गया। साथ ही चीन को चाय के बदले अफीम का निर्यात किया गया। तत्पश्चात् 1850 से भारत से नए प्रकार की वस्तुओं का निर्यात करके इस समस्या का अधिक सफलतापूर्वक सामना किया गया। निर्यात किये जाने वाली ये नई वस्तुएं थी-पश्चिमी भारत की कपास, पंजाब का गेहूँ,

बंगाल का पटसन, असम की चाय, दक्षिण भारत के तिलहन, चमड़ा और खालें इत्यादि।

ब्रिटेन को धनराशि का एकतरफा हस्तांतरण स्थायी तथ्य था और वस्तुतः समय के साथ इसमें बढ़ोतरी ही हुई। 1858 के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के लंदन प्रतिष्ठान एवं हिस्सेदारों के लाभांश का स्थान भारत-सचिव के इंडिया आफिस के व्यय ने ले लिया। कम्पनी के सैन्य अभियानों के कारण एवं गदर को दबाने में हुए व्यय के कारण इंग्लैंड में भारतीय ऋण पहले ही बहुत बढ़ गया था। 1858 में इसमें अत्यधिक वृद्धि हुई क्योंकि कम्पनी के हिस्सेदारों को दिये गये मुआवज़े का भार भी इसी खाते में डाल दिया गया। ब्रिटिश भारतीय अधिकारियों एवं सैन्य अधिकारियों की पेंशनें, इंग्लैंड में खरीदी जाने वाली सैन्य एवं अन्य सामग्रियाँ, सैन्य प्रशिक्षण, परिवहन एवं भारत के बाहर होने वाले अभियानों का व्यय, जो भारत के ही वित्त से किया जाता था, और रेलमार्गों का प्रत्याभूत ब्याज-ये सभी व्यय घरेलू मदों में सम्मिलित थे।

1901-02 में घरेलू मदों की कुल राशि 173 लाख पाउंड थी। इस सरकारी हिसाब में वह धन भी जोड़ा जाना चाहिए जो भारत में रहने वाले अंग्रेज़ अधिकारी इंग्लैंड भेजते थे। इसके अतिरिक्त भारत में निजी ब्रिटिश पूँजी-निवेश के लाभांश का स्थानांतरण भी इस काल में धन की निकासी का एक मुख्य स्रोत हो गया। 1870 में पाउंड स्टर्लिंग की तुलना में चाँदी के रुपए का अवमूल्यन हो जाने के कारण घरेलू मदों एवं भेजे जाने वाले निजी धन का वास्तविक भार बहुत बढ़ गया। भारत में सम्पत्ति की निकासी की इस प्रक्रिया की ओर नौरोजी और उनके बाद के राष्ट्रवादी बराबर ध्यान आकृष्ट करते रहे। दादा भाई नौरोजी, आर.सी. दत्त, जी.वी. जोशी, डी.सी. वाचा, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि राष्ट्रवादियों द्वारा विकसित निकासी सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित था कि भारत की राष्ट्रीय संपत्ति अथवा कुल वार्षिक उत्पादन का एक बड़ा भाग इंग्लैंड को निर्यात किया जा रहा है, जिसके बदले में भारत को कोई समुचित भौतिक या आर्थिक लाभ नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, भारत को परोक्ष रूप से ब्रिटिश राज को खिराज देने के लिए बाध्य किया जा रहा है। धीरे-धीरे कुछ वर्षों के उपरांत देश में जनता के दिलों में निकासी-सिद्धान्त

ने इतनी अधिक व्यापक लोकप्रियता और प्रभाव जमा लिया कि कितने ही ब्रिटिश प्रवक्ताओं और लेखकों को यह सिद्ध करने के लिए प्रबल प्रयास करने को बाध्य होना पड़ा कि यह सारी की सारी कल्पना आर्थिक दृष्टि से निराधार और भ्रांतिमूलक है।

निकासी के आर्थिक प्रभाव

धन की निकासी के साथ जुड़ा उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण दुष्परिणाम देश की घोर दरिद्रता थी, यद्यपि प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं का इस संबंध में दृष्टिकोण थोड़ा-बहुत भिन्न रूप अवश्य लिए हुए था। दादाभाई नौरोजी ने निकासी को देश के सभी रोगों, दुःखों और दरिद्रता का वास्तविक, प्रधान और यहाँ तक कि एकमात्र मूल कारण घोषित किया, तथा अन्यान्य कारणों को केवल भ्रामक बताया। इस संबंध में दादाभाई के दृष्टिकोण को अपनाने वाले केवल थोड़े से ही अन्य राष्ट्रवादी नेता थे। ज्यादातर राष्ट्रवादी मानते थे कि धन की निकासी भारत की दरिद्रता का एक मुख्य कारण है। राष्ट्रवादी नेताओं ने व्यापक रूप में निकासी के रूप और अर्थ को जिस प्रकार समझा तथा स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से जिस प्रकार उसका प्रचार-प्रसार किया, वह यह था कि इस निकासी का देश की अर्थव्यवस्था पर भले ही अन्य कोई दुष्प्रभाव न पड़ता हो फिर भी इससे राष्ट्रीय उत्पादन में होने वाली कटौती ही अपने आप में इतना विशाल दोष है कि इसे एक भारी रोग कहा जा सकता है। कुछेक भारतीय नेता इस तथ्य को भी समझने में सफल हो गये कि विदेशों में राष्ट्रीय संपत्ति के स्थानांतरण से देश की आय पर और

देश के भीतर रोजगार पर घातक प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस तथ्य की ओर निर्देश किया कि निकासी के कारण राष्ट्रीय आय को देश के भीतर ही खर्च किए जाने और उससे आय और रोजगार में अतिरिक्त वृद्धि होने की संभावना भी कम हुई।

इस प्रकार धन की निकासी भारत के पुराने स्वेच्छाचारी धारकों और ब्रिटिश शासकों के बीच अन्तर का आधार थी। अतीत में शासकों ने अपनी प्रजा को भले ही लूटा हो परन्तु देश की संपत्ति देश के भीतर ही बनी रही और देश के भीतर ही खर्च की गयी। इससे निजी तौर पर कुछ नागरिकों को कष्ट अवश्य पहुँचा होगा, परन्तु कुल मिलाकर देश को कोई हानि नहीं हुई। दूसरी ओर ब्रिटिश शासक देश की संपत्ति को देश से बाहर ले गये और उसे देश के बाहर ही उन्होंने खर्च किया। इस प्रकार पुराने शासकों के अन्तर्गत कराधान का भार कितना भी भारी क्यों न रहा हो परन्तु उसके आर्थिक प्रभाव देश की जनता के लिए इतने अधिक हानिप्रद नहीं थे जितने कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत, अपेक्षाकृत निम्न कराधान के आर्थिक प्रभाव हानिकारक हुए। यहाँ तक कि जब नादिरशाह जैसे विदेशी आक्रमणकारियों ने इस देश पर आक्रमण किया और इसे लूटा, तब भी देश को होने वाली आर्थिक हानि अस्थाई थी। ये झटके अनियमित थे और कभी-कभी ही लगते थे। ब्रिटिश शासन काल में धन की निकासी सरकार की चालू व्यवस्था का ही एक अंग थी। अतः वह अबाध और निरन्तर चलने वाली थी और वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ने वाली भी थी। राष्ट्रवादियों ने निकासी से होने

वाली संपत्ति की हानि की अपेक्षा पूँजी की हानि को अधिक घातक माना। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि संक्षेप में निकासी इस रूप में हानिप्रद थी क्योंकि यह देश को उत्पादक पूँजी से वंचित करती थी।

दादाभाई नौरोजी निकासी संबंधी अपनी समीक्षा के विश्लेषण में प्रारम्भ से ही इस पक्ष को सर्वोच्च स्थान देने वाले महानुभाव थे। राष्ट्रवादियों का मंतव्य था कि निकासी के कारण देश में पूँजी संचय में बाधा उपस्थित हुई और वर्तमान संचित पूँजी के विशाल भाग को विदेशी भूमि पर ले जाने से देश की प्रगति विलंबित हुई। राष्ट्रवादियों का मत था कि निकासी से उत्पन्न होने वाली पूँजी की न्यूनता के परिणामस्वरूप भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास, जो देश की आर्थिक मुक्ति के लिए अत्यावश्यक था, प्रतिबंधित हो गया। राष्ट्रवादियों द्वारा निकासी के विरुद्ध लगाया गया एक अन्य आरोप यह था कि इससे विदेशी पूँजी को देश में घुसने और देश का शोषण करने की सुविधा उपलब्ध होती थी। उनके अनुसार सुविधा जुटाने का यह कार्य दो रूपों में होता था। प्रथम, निकासी भारत के अंदर पूँजी के संग्रह में बाधा पहुँचाकर और इस प्रकार से आंतरिक पूँजी को पंगु बनाकर, किसी प्रकार की स्वदेशी प्रतियोगिता की संभावना को समाप्त करके विदेशी पूँजीपतियों को भारत में आकर एकाधिकार जमाने तथा भारत के सभी संसाधनों का स्वेच्छापूर्वक दोहन करने की सुविधा जुटाती थी।

द्वितीय, निकासी देश में निवेशित विदेशी पूँजी के संग्रह का एक प्रधान

स्रोत थी क्योंकि निकासी का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी पूँजी के रूप में फिर भारत में लाया जाता था। राष्ट्रवादी नेता यह देखने में भी सफल हो गये कि संपत्ति के एक पक्षीय स्थानांतरण के परिणामस्वरूप होने वाली प्रत्यक्ष हानि के अतिरिक्त निकासी विदेशों के साथ भारत के व्यापार-संबंधों को बिगाड़ने के रूप में एक दूसरा आघात भी कर रही थी क्योंकि निकासी के साथ विनिमय अधिशेष अनिवार्य रूप से जुड़ा तत्व था और यह भारत के निर्यात की एक अनिवार्य विशेषता बन गयी थी। फलतः भारत को विदेशी क्रेताओं को अपना माल खरीदने को प्रलोभित करने के लिए अपने माल की कीमत घटानी पड़ती थी। दूसरे शब्दों में निकासी के फलस्वरूप जिन शर्तों पर भारत आयात के बदले निर्यात करता था, वह इसके सर्वथा अनुकूल नहीं थी।

निकासी सिद्धांत की आलोचना

निकासी के इस सिद्धांत की आरम्भ से ही कट्टु आलोचना हुई। निस्संदेह इस संबंध में राष्ट्रवादियों के कुछेक विचार आज अतिरिक्त प्रतीत होते हैं। कहा गया है कि दोहन की बात को राष्ट्रवादियों ने बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। विदेश व्यापार एवं निर्यात भारत की राष्ट्रीय आय का एक छोटा सा हिस्सा ही थे। किन्तु नौरोजी के इस तर्क में भी बल है कि जिस धन का दोहन किया जा रहा था वह संभाव्य पूँजी का प्रतिनिधित्व करता था जिसका यदि देश के भीतर ही समुचित निवेश किया जाता तो भारतीय आय को पर्याप्त बढ़ाया जा सकता था। निकासी सिद्धांत का मानक साम्राज्यवादी उत्तर स्ट्रेची के इस कथन में मिलता

है कि 'इंग्लैंड को भारत से कुछ नहीं मिलता, सिवाय उसके जो अंग्रेजों की सेवाओं एवं खर्च की गयी उनकी पूँजी के बदले में मिलता है।'

इस तर्क के पहले भाग में स्पष्ट रूप से अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित तथाकथित सुशासन, कानून एवं व्यवस्था, इत्यादि से मिलने वाले लाभों का संकेत है। निकासी के 'आर्थिक' पक्षों की हिमायत इस आधार पर की गयी है कि भंडार-सामग्री की खरीद इंग्लैंड में की जा रही थी और लंदन के मुद्रा-बाजार में जितनी कम ब्याज दर पर ऋण जुटाया जा रहा था वैसा 19वीं सदी के भारत में संभव नहीं था। फिर भी कहा जा सकता है, जैसा कि राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने कहा भी है कि, यदि ऋण व्यवस्था एवं खरीद भारत में ही की जाती तो ऊँची दरों पर किया गया भुगतान भी देश के भीतर ही रहता। इसी प्रकार रेलों, बागानों, खानों एवं मिलों में निवेशित ब्रिटिश पूँजी से मिलने वाले लाभांशों का इंग्लैंड भेजना इस आधार पर उचित ठहराया गया कि अंततः यह सब भारत को 'विकसित करने' एवं 'आधुनिक बनाने' के लिए ही किया जा रहा था। साम्राज्यवादी पक्ष का मत था कि भारतीय राष्ट्रवादी आवश्यक कटौतियों का हिसाब न करके प्रायः निकासी को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं; वे इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते कि निर्यात अधिशेष का एक भाग तो अदृश्य आयातों, जैसे कि जहाजरानी सेवाएं, आयातों और निर्यातों पर लगने वाला बीमा शुल्क तथा भारतीय छात्रों और पर्यटकों द्वारा विदेशों में किए गये खर्च आदि के खाते में चला जाता है।

निकासी सिद्धांत का राजनीतिक महत्व

निकासी सिद्धांत की आर्थिक महत्ता कुछ भी क्यों न रही हो, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में इसकी वास्तविक महत्ता इसके राजनैतिक आशयों में निहित है। भारत में ब्रिटिश राज्य की शोषक प्रवृत्ति को प्रकाश में लाकर इस सिद्धांत ने भारतीयों को अपनी स्थिति और भारतीय साम्राज्य में अंतर्विरोध को समझने के योग्य बना दिया। निकासी सिद्धांत अपने राजनैतिक आशयों में क्रांतिकारी तत्व था। इसने राजनैतिक अधिकार के प्रश्न को राजनीति का केन्द्र-बिन्दु बना दिया। इसकी स्वीकृति ने न केवल ब्रिटेन और भारत के स्वाभाविक राजनैतिक संघर्ष को सतह पर ला दिया, बल्कि भारत पर ब्रिटेन के राजनैतिक प्रभुत्व को भी अमान्य बना दिया। निकासी सिद्धांत ने आर्थिक प्रश्न को राजनैतिक स्तर पर उठाकर सार्वजनिक जीवन को राजनैतिक प्रशिक्षण देने में भी सहयोग दिया।

जहाँ अन्य आर्थिक प्रश्न कदाचित् आर्थिक उपचारों द्वारा साध्य थे और इस प्रकार आर्थिक विवाद की परिधि में ही आते थे, वहाँ धन की निकासी का हल केवल राजनैतिक था। अतः निकासी सिद्धांत ने राजनैतिक निष्क्रियता को सक्रियता में बदलने में भी योगदान दिया। निकासी सिद्धांत में सर्वसाधारण के बीच लोकप्रिय बनने की प्रबल राजनैतिक क्षमता थी। यह एक ऐसी सरल और सीधी-सादी धारणा थी जिसे एक किसान भी आसानी से समझ पाता था। एक देश से दूसरे देश को धन का स्थानान्तरण आर्थिक शोषण के सिद्धांतों का एक ऐसा विषय था, जिसे सर्वथा आसानी से

समझा जा सकता था क्योंकि यह लोगों के दैनिक अनुभवों से संबंधित था। लोगों को इस जैसा और कोई विचार इतना क्षुब्ध नहीं कर सकता था कि उन पर इसलिए कर लगाए जा रहे हैं कि दूर देश में रहने वाले गुलछरें उड़ा सकें। अतः निकासी के सिद्धांत में किसानों के देश को संगठित करने का सामर्थ्य था।

संदर्भ

1. Dixit, Prabla. *Communalism: A Struggle for Power*. New Delhi: Orient Longman, 1981.
2. Baden Powell, Henry: *Land Systems of British India*, New York, Johnson Reprint Corp., 1972.
3. Baker, Christopher J.: *An Indian Rural Economy: The Tamiland Countryside*, Oxford, Clarendon Press, 1984.
4. Blyn, G.: *Agricultural trends in India, 1891-1947: Output, Availability, and Productivity*, Philadelphia, University of Pennsylvania Press, 1966.
5. Charlesworth, Neil: *British Rule and the Indian Economy, 1800-1914*, London, Macmillan, 1982.
6. Das, M.N. *India under Morley and Minto: Politics Behind Revolution, Repression, and Reforms*. London: Allen and Unwin, 1964.
7. Frankel, Francine: *India's Political Economy, 1947-1977: The Gradual Revolution*, Princeton, Princeton University Press, 1978.

सम्पर्क : शाही कॉलोनी, हाजीपुर

उपन्यास

राधारानी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
स्वामी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
आनन्दमठ	बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
काशीनाथ	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	125.00
शिकारी	अगाथ क्रिस्टी	200.00
बफीली आंधी	अलेक्सान्द्र पुश्किन	125.00
यामा, भाग-1	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
यामा, भाग-2	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
फर्ज	राकेश चक्र	125.00
आहुति	सी. रंजन	250.00
महानायिका	सी. रंजन	300.00
द गेट वे ऑफ इंडिया	सी. रंजन	300.00
गरीबी जुर्म नहीं	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	100.00
कमाई की जगह	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
दर्व भरा दिल	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)	देवकी नन्दन खत्री	2400.00
चन्द्रकांता संतति	देवकी नन्दन खत्री	200.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053, फोन : 9811710900

अंग्रेजी राज में कृषि का वाणिज्यीकरण

डॉ. रेणू कुमारी

19वीं शताब्दी में भारत का उदय ब्रिटिश साम्राज्य के एक कृषि-उपनिवेश के रूप में हुआ, जिसे ब्रिटेन में बने माल की एक मंडी और कच्चा माल भेजने वाले एक उपनिवेश की भूमिका निभानी थी। भारत अब एक संतुलित ग्रामीण आत्मनिर्भरता से उठकर एक कृषि-प्रधान देश बन गया। भारत को अब केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करना था जिनकी इंग्लैंड की मिलों व ब्रिटेनवासियों को आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारत में औपनिवेशिक पूँजीवादी व्यवस्था के बढ़ने के साथ-साथ तथा नए भूमि-संबंधों व लगान-नीति के कारण किसान को अब रोकड़ राशि की आवश्यकता थी। इसलिए किसान भी अब उन फसलों को उगाने के लिए मजबूर होने लगा जिनका बाजार में क्रय-विक्रय हो सके। इस तरह उत्पादन के स्वरूप और प्रकृति में मूलभूत परिवर्तन हुए। फलतः एक ऐसे तत्व का आविर्भाव हुआ जिसे 'कृषि के वाणिज्यीकरण' की संज्ञा दी जाती है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों की प्रवृत्ति कृषि के वाणिज्यीकरण को अतिरिक्त कृषि उत्पादों एवं ग्रामीण समृद्धि से जोड़कर देखने की रही है। विश्लेषण करने पर कृषि का यह वाणिज्यीकरण प्रायः एक कृत्रिम तथा थोपी गयी प्रक्रिया ही दिखाई देता है जिसने किसी वास्तविक समृद्धि के बिना ही विभेदीकरण को जन्म दिया।

प्राक्-ब्रिटिश भारत में उत्पादन उन वस्तुओं का होता था जो मानव के लिए आवश्यक थी तथा जिनका प्रयोग विनिमय के लिए होता था, बाजार के लिए नहीं। लेकिन अब किसान केवल वे वस्तुएँ उगाने लगा जिनका देशी और विदेशी बाजार के दृष्टिकोण से अधिक मूल्य था। इस तरह कृषि के स्वरूप में मूलभूत परिवर्तन हुआ। अपनी विशिष्टता के कारण कई स्थानों पर अब एक-सी ही फसल उगाई जाने लगी, जैसे बंगाल में केवल जूट के उत्पादन पर और पंजाब में केवल गेहूँ की फसल पर अधिक बल दिया गया। अफीम के व्यापार के लिए पोस्त की खेती को बनारस, बंगाल, बिहार तथा मध्य

भारत व मालवा में बढ़ाया गया। बर्मा में चावल की खेती बढ़ी। अपने व्यापारिक हितों को दृष्टि में रखकर सरकार द्वारा इन कृषि उत्पादनों को बढ़ाने के लिए अग्रिम राशि भी दी जाती थी। 1853 के बाद तो ब्रिटिश पूँजीपतियों के द्वारा भारत में पूँजी निवेश के कारण नील, चाय, कॉफी, रबर आदि की खेती पर भी बल दिया गया। कृषि के वाणिज्यीकरण की यह प्रक्रिया वास्तव में बलात् प्रक्रिया थी जिसका सही-सही प्रतिमान प्रत्येक फसल के लिए भिन्न होता था। बंगाल में नील और पोस्त के उत्पादन तथा किस सीमा तक किस रूप में इनकी खेती की जाएगी इसका निर्णय स्वयं किसान पर नहीं छोड़ा गया था, अपितु सरकार अपनी फसल तथा राजस्व की जरूरतों के हिसाब से इसे तय करती थी तथा अपना एकाधिकार कायम किए हुए थी। किसान इन फसलों की खेती अनिच्छापूर्वक तथा गोरे साहब के दबाव में आकर करते थे। इस अनिच्छा का कारण यह था कि इस खेती से उन्हें कम लाभ मिलता था, जो अनिश्चित भी होता था और जिससे फसल-चक्र भी गड़बड़ा जाता था। सरकारी एकाधिकार को लागू करने के लिए विभिन्न स्तरों पर बिचौलियों को रखने का तरीका भी अपनाया गया था। यद्यपि समय के साथ-साथ सीधा दमन कम होता गया, किन्तु उत्पादन की प्रकृति किसान की इच्छा और नियंत्रण के परे ही रही।

पहले नील और फिर चाय के मामले में नियंत्रण यूरोपीय बागान मालिकों के हाथ में था जो इन बागानों का प्रबंध पूँजीवादी पद्धति से करते थे, जबकि मजदूरों को सामंती दासता की हालत में काम करना पड़ता था। वास्तव में, कृषि में व्यावसायीकरण के प्रवेश के कारण एक पूरा तंत्र स्थापित हो गया था। जिसके केन्द्र में जमींदार ऋणदाता व्यापारी थे जिन्होंने ग्रामीण गरीबों के शोषण के लिए औपनिवेशिक राज्य के साथ हाथ मिला रखा था। इस प्रणाली का आधार था अग्रिम-राशि, ऋण-आपदा में फसल की बिक्री का चक्र, जिसने छोटे किसानों को अधिक से अधिक लूटे जाने में मदद पहुँचाई और इस पर भी उद्योग में किसी वैकल्पिक रोजगार के अभाव में ये किसान भूमि के सहारे ही अपना गुजर-बसर करने के लिए बाध्य थे जो कि प्रायः कर्ज के कारण उत्पन्न और फिर निरंतर रहने वाली अर्ध-दासता की स्थिति में

होता है। देश के अन्य भागों में भी थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ यही प्रणाली अपनाई जा रही थी। जो कुछ अन्तर था वह भी मुख्यतः खेती के विभिन्न रूपों, उस क्षेत्र में कृषि संबंधों की विशिष्टता तथा उगाई जाने वाली फसलों आदि के कारण ही था। कर्ज और दासता के दुष्चक्र या शोषण के अन्य सामंती रूपों के जबड़े में फँसा किसान कानूनेतर उत्पीड़न का भी शिकार था। उसकी फसल या तो पहले ही बिक चुकी होती थी या फिर उसे कटाई के समय ही (जबकि भाव कम होते थे) फसल बेचने पर मजबूर होना पड़ता था।

यद्यपि समृद्ध किसान तथा जमींदार अपनी फसल कटाई के बाद बेचकर उसकी अच्छी कीमत वसूल कर लेते थे और इस प्रकार व्यवसायीकरण से इन्हें अवश्य कुछ लाभ हुआ, किन्तु अधिकतर किसानों को अपनी फसल विपत्ति में अलाभकर कीमतों पर बेचनी पड़ती थी अथवा उससे विदा लेनी पड़ती थी। मद्रास प्रेसीडेंसी में भी, जहाँ रैयतवाड़ी प्रथा लागू थी, व्यवसायीकरण में वृद्धि के कारण गरीब किसानों की स्थिति में और गिरावट देखने में आई। उस समय प्रचलित कीमतों ने भी उत्पादन को निरुत्साहित किया। इसी प्रकार संयुक्त प्रान्त में 'आधुनिकीकरण' की नीति-जिसके अन्तर्गत सड़कों, रेलों तथा नहरों का निर्माण किया गया, के बावजूद कृषि के व्यवसायीकरण का विस्तार भू-राजस्व की अत्यधिक उच्च दर, कठोरता से वसूली जाने वाली वसूली तथा किसानों की ऋणग्रस्तता से जुड़ा था। इस क्षेत्र में कृषि का जो भी विस्तार हुआ। वह नकदी फसलों में ही हुआ,

जैसे गन्ना, गेहूँ आदि। इनमें से अधिकांश फसलों को तत्काल होने वाले खर्च को पूरा करने के लिए उगाया जाता था जिसका अर्थ सदा भू-राजस्व, लगान तथा पुराने ऋण चुकाना होता था।

बम्बई प्रेसीडेंसी में कृषि के व्यवसायीकरण से इस प्रकार की अव्यवस्था पैदा हुई। इसके कारण विषमता बढ़ी और दलित वर्गों की स्थिति बद से बदतर होती गयी। लगातार बढ़ रहे सामाजिक तनावों और नवधनाढ्य व्यापारी वर्ग के खिलाफ आक्रोश की परिणति 1875 के दक्कन के दंगों के रूप में हुयी जब व्यापारियों के खिलाफ कुनबी उठ खड़े हुए। पंजाब में स्थिति ऊपरी तौर पर बेहतर प्रतीत होती थी किन्तु मूल प्रवृत्ति यहाँ भी वही रही। सिंचाई के विस्तार तथा कृषि के व्यवसायीकरण के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादों का व्यापार अभूतपूर्व पैमाने पर बढ़ गया। मुख्य फसलें अमेरिकी कपास और गेहूँ की विशेष किस्में थीं जिनका एक बड़ा भाग कराची के रास्ते भारत से बाहर जाता था। किन्तु, व्यापार के भारी-भरकम आंकड़ों के साथ ही ग्रामीण ऋणग्रस्तता, कृषि-क्षेत्र का विखंडीकरण, बंटाई पर दिये गये खेतों में वृद्धि, काश्तकारी आदि में भी बढ़ोतरी हुई। वाणिज्यीकरण की इस कृत्रिम एवं थोपी गयी प्रक्रिया के अन्तर्गत कृषि का पूँजीवादी विकास संभव नहीं था। 19वीं सदी के उत्तरार्ध तक देश के विदेशी व्यापार, जहाजरानी एवं बीमें के कारोबार पर वस्तुतः ब्रिटिश व्यापारिक प्रतिष्ठानों का पूर्ण नियंत्रण हो चुका था।

अतः बढ़ते निर्यात से मिलने वाले लाभांश का बड़ा हिस्सा विदेशी फर्म

हड़प लेती थीं और वह 'विदेशी रिसावों' के रूप में देश से बाहर चला जाता था। इसका एक गौण किन्तु अच्छा खासा भाग भारतीय व्यापारियों एवं महाजनों को जाता था। ये वे दलाल थे जो किसानों को आवश्यक अग्रिम राशि देकर उत्पादन पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेते थे। ऐसी पेशगियों की आवश्यकता भी लगान के बोझ से जुड़ी हुयी थी, और इस प्रकार कृषि में पूँजीवादी पैठ पहले से स्थापित भू-स्वामी एवं साहूकार के शोषण की संरचना को सुदृढ़ करने में सहायक हुई। कुछ क्षेत्रों में धनी कृषकों के एक छोटे से वर्ग का भी उदय हो रहा था, जैसे दक्षिण के कपास क्षेत्र में, आंध्र और तमिलनाडु में गोदावरी-कृष्णा और कावेरी के मुहाना क्षेत्रों में, और पंजाब में जहाँ 19वीं सदी के अंत तक सिंचाई की बड़ी योजनाओं के फलस्वरूप समृद्ध कृषि हो रही थी। मुख्य बात सम्पूर्ण व्यवस्था की वह विकृत प्रवृत्ति थी जो पूँजीवादी कृषि की प्रगति के विरुद्ध थी। कृषक को एक अत्यन्त दूरस्थ एवं अपरिचित विदेशी बाजार पर आश्रित बना दिया गया था, जिसके साथ उसका एकमात्र संबंध बिचौलियों की एक सशक्त शृंखला के माध्यम से ही था। उसे मूल्यों में अप्रत्याशित उतार-चढ़ाव का भार भी वहन करना पड़ता था। 1860 के दशक में होने वाली कपास की गरम बाजारी उतनी ही नाटकीय ढंग से गायब हो गयी जितने नाटकीय ढंग से वह प्रकट हुयी थी। परिणामस्वरूप 1860 के दशक में दक्षिण के कपास क्षेत्र में आने वाली समृद्धि 1870 के दशक के मध्य में भारी ऋणग्रस्तता, अकाल एवं खेतिहर दंगों में परिवर्तित हो गयी।

1870 और 1890 के दशकों के बीच संसार भर में कृषि उत्पादों के मूल्यों में गिरावट आयी (जिसका कारण अमेरिका, अर्जेंटीना एवं आस्ट्रेलिया से आपूर्ति का बेहद बढ़ जाना था), और इसने भारतीय गेहूँ एवं कपास के मूल्यों को भी प्रभावित किया। निर्यात करने वाली बड़ी फ़र्में एवं चतुर भारतीय व्यापारी और साहूकार तो घटे हुए मूल्यों से भी उसी प्रकार लाभ उठा सकते थे जिस प्रकार बड़े मूल्यों से, किन्तु उत्पादक के लिए कृषि क्षेत्र में पूँजी निवेश एक जोखिम भरा कार्य था। किसी भी किसान के पास जब थोड़ा धन जमा हो जाता था तो वह अपनी जमीन को बँटाई पर देने की ओर रुख करता था, और इस प्रकार स्वयं वास्तविक पूँजीवादी कृषि न करके उत्पादन का समस्त खतरा परजीवी रूप में दूसरों पर डाल देता था।

अतः स्पष्ट है कि पूँजीवादी कृषि में जोखिम भरे पूँजी-निवेश के स्थान पर वे सामंतवादी और महाजनी शोषण को ही अधिक अच्छा समझते थे। जहाँ तक बहुसंख्यक निर्धन किसानों का प्रश्न था, वे बाध्य होकर वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में पड़ते थे क्योंकि राजस्व एवं भूमि का भाड़ा चुकाने के लिए नकद रुपयों की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार उपनिवेशवाद की विकृत तर्क प्रणाली में फँस कर कृषि का वाणिज्यीकरण पूँजीवादी कृषि को जन्म न दे सका। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारत में हुए वाणिज्यीकरण की प्रकृति और इंग्लैंड में घटित वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में अन्तर था। इंग्लैंड में कृषि की आंतरिक पैदावार के बाजार में वृद्धि कृषि उत्पादन के मूल्यों में वृद्धि

के साथ-साथ घटित हुयी थी। इससे किसानों के एक बड़े हिस्से को लाभ हुआ तथा कृषि का और अधिक विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप बिना जोती हुयी जमीन तथा जुताई के लिए अनुपयुक्त भूमि पर भी खेती की गयी तथा खेती के नए और वैज्ञानिक तरीके अपनाए गये जिसके कारण कृषि का विस्तार हुआ। वास्तव में इस 'कृषि क्रांति' ने ही वहाँ के समाज को उस औद्योगिक प्रगति के लिए तैयार किया जिसने इंग्लैंड को संसार का स्वामी बना दिया। इंग्लैंड में 18वीं और 19वीं शताब्दी में घटित होने वाली यह ऐतिहासिक प्रक्रिया भारत में होने वाले 'वाणिज्यीकरण' में आरम्भ से ही गायब थी।

सच पूछा जाए तो भारत में यह प्रक्रिया अपने स्वाभाविक ऐतिहासिक रूप में शुरू ही नहीं हुयी थी। इसे मात्र साम्राज्यवादी जरूरतों को पूरा करने के लिए आरम्भ किया गया था। ऐसा नहीं था कि कृषि के विकास के कारण बेचने के लिए अतिरिक्त पैदावार होने लगी थी, बल्कि इसके विपरीत बाजार में अधिक मात्रा में आ रहे कृषि-उत्पादन के पीछे सरकार द्वारा राजस्व की नकद रुपयों में वसूली होती थी।

इसके अतिरिक्त फसल बेचने से मिली रकम अक्सर सूदखोरों और जमींदारों की जेब में पहुँचती थी क्योंकि फसल बेचने या खेती को सुधारने की सोचने से पहले किसान को अपने गुजारे के लिए इन लोगों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि इस वाणिज्यीकरण को सरकारी नीति द्वारा 'थोपा' गया था। अतः इसने कृषि अर्थव्यवस्था के अंतर्विरोधों को

हल करने के स्थान पर उन्हें और अधिक तीव्र बनाया। जहाँ वाणिज्यीकरण की इस प्रक्रिया से सरकार एवं बिचौलियों को लाभ हुआ, वहीं इसने किसानों की गरीबी को और अधिक बढ़ा दिया। व्यापारी वर्ग खड़ी फसलों को सस्ते दामों पर खरीद लेता था और किसान अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी फसल मंडी में न ले जाकर कटाई के समय खेत में ही बेच देता था, हालांकि छह महीने बाद वह वही फसल अपने विक्रय मूल्य से अधिक कीमत देकर खरीदता था और यही उसकी तबाही का कारण बनता था। राजस्व एवं लगान के दबाव के कारण खेती का रुख गरीबों के खाद्यान्नों जैसे-ज्वार, बाजरा आदि से हट कर नकदी फसलों एवं गेहूँ जैसी अधिक मूल्य दिलाने वाली फसलों की ओर हो गया।

अतः खाद्यान्नों में भारी कमी होने लगी जिससे अकाल पड़ने लगे। प्राक्-ब्रिटिश भारत में भी अकाल पड़ते थे लेकिन इसका कारण धन का अभाव न होकर यातायात के साधनों का अभाव होता था। लेकिन ब्रिटिश भारत में अकाल और सूखों का प्रत्यक्ष कारण ब्रिटिश औद्योगिक एवं कृषि नीति थी। वाणिज्यीकरण का एक अन्य अपरिहार्य परिणाम था-किसानों की साहूकारों पर बढ़ती हुयी निर्भरता। चूँकि नकदी फसलों की खेती में अधिक लागत आती थी, इसलिए किसानों को साहूकारों से अग्रिम राशि भी अधिक लेनी पड़ती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे गरीब किसान साहूकार के चंगुल में फँस जाते थे। इन दुःखों के बावजूद ब्रिटिश कृषि-नीति ने भारतीय

गाँवों को भारतीय अर्थव्यवस्था की एक इकाई बना दिया। बढ़ती हुई आर्थिक परेशानियों व यातायात में सुधार के कारण गाँव व शहर परस्पर समीप आए। उनमें आपसी सहयोग की स्थापना हुई। इस सहयोग से राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने किसानों को शोषणकारियों के विरुद्ध विद्रोह के लिए उकसाया। यही कारण है कि कृषि क्षेत्र में जैसे-जैसे पूँजीवादी व्यवस्था सुदृढ़ हुई, वैसे-ही-वैसे किसान-विद्रोह भी हुए।

संदर्भ

1. Guha, Sumit: *The Agrarian Economy of the Bombay*

Deccan, 1818-1941, Delhi, Oxford University Press, 1985.

2. Keay, John: *The Honourable Company: A History of the English East India Company*, London, Harper Collins, 1991.

3. Kessinger, Tom G.: *Vilayatpur 1848-1968: Social and Economic Change in a North Indian Village*, Berkeley: UCP, 1973.

4. Maheshwari, Shriram: *Rural Development in India: A Public Policy*

Approach, New Delhi, Sage, 1995.

5. Mehra, Parshotam: *A Dictionary of Modern Indian History, 1707-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 1985.

6. Muthiah, S.: *A Social and Economic Atlas of India*, Oxford, Oxford University Press, 1987.

7. Neale, Walter C.: *Economic Change in Rural India: Land Tenure and Reform in the United Provinces, 1800-1955*, New Haven, 1962.

इतिहास विभाग,
जमुनीलाल कॉलेज, हाजीपुर

मुंशी प्रेमचन्द साहित्य

निर्मला	125.00	प्रतिज्ञा	125.00
अहंकार	150.00	सेवासदन	200.00
सद्गति	100.00	गबन	200.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	150.00	कफन	200.00
न्याय	100.00	गोदान	250.00
चांदी की डिब्बिया	100.00	वरदान	125.00
कलम, तलवार और त्याग	125.00	प्रेमाश्रम	300.00
चुनी हुई कहानियां	200.00	कर्मभूमि	225.00
नारी जीवन की कहानियां	200.00	रंगभूमि	350.00
होली का उपहार	150.00	मानसरोवर (भाग-1)	200.00
मानसरोवर (भाग 1 से 8)	1600.00		

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

ब्रिटिश भारत में साम्प्रदायिकता का विकास

डॉ. मनोज कुमार पाण्डेय

साम्प्रदायिकता मूलतः ऐसी विचारधारा है जिसका हमारे बीच लम्बे समय से अस्तित्व रहा है तथा जिसका तात्त्विक रूप समझना आसान प्रतीत होता है। लेकिन कदाचित उसे समझना इतना आसान नहीं है। प्रथमतः साम्प्रदायिक विचारधारा इस विश्वास पर आधारित होती है कि जो लोग एक धर्म को मानते हैं, उनके लौकिक हित अर्थात्, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित इसी कारण समान होते हैं। इसी मान्यता से धर्म पर आधारित सामाजिक, राजनैतिक समुदायों की धारणा उत्पन्न होती है। दूसरे, यह विश्वास किया जाता है कि भारतीय समाज जैसे किसी समाज में, जिसमें अनेक धर्मों को मानने वाले हों, धर्म पर आधारित समुदायों के लौकिक हित असमान तथा एक-दूसरे से भिन्न होंगे। अंततः इसी तर्क के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि यह असमानता और भिन्नता परस्पर असंगत, एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी और विरोधी होंगी। साम्प्रदायिक हिंसा साम्प्रदायिक विचारधारा का ही अनुमानित परिणाम है।

उपरोक्त धारणा के आधार पर अनेक राष्ट्रवादी प्रथम प्रकार की साम्प्रदायिकता से प्रभावित हो गए। यद्यपि उन्होंने शेष दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकता को अस्वीकार कर दिया। यह लोग अपने को राष्ट्रवादी मुसलमान अथवा राष्ट्रवादी सिख समझते थे, केवल राष्ट्रवादी नहीं। दूसरे प्रकार की साम्प्रदायिकता को उदार साम्प्रदायिकता कह सकते हैं जिसे व्यवहार में स्वीकार करने वाले कुछ उदार, जनतांत्रिक, मानवीय तथा राष्ट्रीय मूल्यों को मानते थे और उनका यह विश्वास था, जिसे वह बराबर प्रकट करते रहते थे कि विभिन्न साम्प्रदायिक हितों के बीच भारत का एक राष्ट्र के रूप में निर्माण करने के लिए सामंजस्य बैठाया जा सकता है। तीसरे प्रकार की साम्प्रदायिकता को अतिवादी साम्प्रदायिकता कह

सकते हैं जो फासिस्ट मानसिकता से प्रभावित थी। इस प्रकार की साम्प्रदायिकता भय और घृणा पर आधारित थी और उसमें राजनैतिक विरोधी के प्रति आक्रामक भाषा अथवा हिंसक व्यवहार करने की प्रवृत्ति रहती थी।

तीनों प्रकार की साम्प्रदायिकता यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न थीं किन्तु उनके बीच एक प्रकार का संबंध तथा क्रमबद्धता रहती थी जिसके कारण प्रथम प्रकार की साम्प्रदायिकता की विचारधारा को तीसरे प्रकार की विचारधारा में परिवर्तित होने से रोकना कठिन था। एक साम्प्रदायिकतावादी अपने सम्प्रदाय के हितों की रक्षा में विश्वास करता था और उसी की बात करता था, किन्तु वास्तव में, धार्मिक क्षेत्र के बाहर किसी सम्प्रदाय का कोई हित नहीं था। इस प्रकार की बातें करके वह भारतीय जनता के वास्तविक विभाजन को छिपाने का प्रयत्न करता था, जैसे-विभाजन भाषा, क्षेत्रीय संस्कृति अथवा सामाजिक वर्गों पर आधारित था। वह इस तथ्य की भी अनदेखी करता था कि इस विभाजन में ही एकता प्रकट हो रही थी जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्र का उदय हो रहा था। उपनिवेशवाद द्वारा निर्मित सामाजिक आर्थिक ढांचे के प्रभाव तथा उसको बदलने की आवश्यकता महसूस होने के फलस्वरूप भारतीय समाज के स्वरूप में परिवर्तन आया था और 1857 से पूर्व की राजनीति से हटकर आधुनिक राजनीति का उदय हुआ था।

इसी के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक चेतना भी जागृत हुई। देश के विभिन्न क्षेत्रों का अधिकाधिक सामाजिक-आर्थिक एवं प्रशासनिक एकीकरण हो रहा था, उपनिवेशवाद और भारतीय हितों के बीच अंतर्विरोध बढ़ रहा था, आधुनिक वर्गों एवं सामाजिक स्तरों का निर्माण हो रहा था। इस परिस्थिति में सामान्य हितों को एक नए दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता थी और इस बात की आवश्यकता थी कि लोगों के बीच अधिक विस्तृत आधार पर संबंध और निष्ठाएँ स्थापित हों और लोगों की नई पहचान बने। भारत के विशिष्ट ऐतिहासिक और सामाजिक विकास के परिप्रेक्ष्य में साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति कोई विरल घटना नहीं थी। यह उन्हीं परिस्थितियों से उत्पन्न हुयी थी, जिन परिस्थितियों में दूसरे समाजों में फासिस्टवाद, सेमाइट-विरोध, उत्तरी आयरलैंड में जातिवाद तथा

कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट विरोध और लेबनान में ईसाई-मुस्लिम विरोध आदि समान घटनाओं और विचारधाराओं ने जन्म लिया था। यह अवश्यम्भावी था कि नए उदयशील और राजनैतिक सत्य तथा नए सामाजिक संबंधों को समझने, एकता लाने वाले नए सिद्धांतों को स्वीकार करने एवं नए विचारों और धारणाओं की सहायता से नई राजनैतिक और सामाजिक पहचान को ग्रहण करने की प्रक्रिया लम्बी होती और जब भी प्रगति कम हुयी अथवा उसकी रफ्तार धीमी हुयी तब लोग नई वस्तु-स्थिति को समझने, विस्तृत आधार पर संबंध निर्मित करने और अपनी नई पहचान और विचारधारा विकसित करने के उद्देश्य से जाने-पहचाने पुराने जाति, धर्म, क्षेत्र, कबीले, मत-सम्प्रदाय और व्यवसाय आदि के आधार पर ही अपनी पहचान करने लगे।

लेकिन अक्सर इन पुराने और थोथे विचारों और पहचान का स्थान राष्ट्र, राष्ट्रीयता तथा वर्ग से संबंधित नए विचारों तथा पहचान ने ले लिया जोकि ऐतिहासिक आवश्यकता थी। भारत में भी, यद्यपि सभी लोगों में समान रूप से नहीं, किन्तु विस्तृत रूप से ऐसा हुआ। विशेषकर, देश के कुछ भागों में और जनता के कुछ वर्गों में धार्मिक चेतना ने साम्प्रदायिक चेतना का रूप ले लिया। सीधा प्रश्न यह है कि बीसवीं सदी में साम्प्रदायिकता में वृद्धि कैसे हुयी? साम्प्रदायिकता अनिवार्यतः परिस्थितिजन्य नहीं थी और केवल सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों तथा धूर्त अफसरशाहों का षड्यंत्र मात्र नहीं था, फिर भी भारतीय परिस्थिति के वे कौन से पक्ष थे जो इस

प्रक्रिया के अनुकूल थे तथा किन सामाजिक वर्गों और राजनीतिक शक्तियों को उससे लाभ हुआ?

उपनिवेशवाद में भारतीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने की क्षमता न होने के कारण अविास और आर्थिक प्रगतिरोध की स्थिति पैदा हो गयी थी जिससे भारतीय लोगों का जीवन प्रभावित हुआ, विशेषकर शिक्षित मध्यम वर्गीय लोगों का, जो भूमि पर काम नहीं कर सकते थे तथा जिनको उपलब्ध आर्थिक अवसर बराबर कम होते जा रहे थे, जिससे उनके सामने बेरोजगारी आदि की गंभीर समस्याएँ पैदा हो रही थीं। इस प्रकार भारतीय समाज में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी जो उसके विभाजन और आपसी विरोध के लिए अनुकूल थी लेकिन, साथ ही उसके क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए भी अनुकूल थी। इस सामाजिक परिस्थिति में राष्ट्रीय तथा अन्य जन-आंदोलनों द्वारा उपनिवेशवाद का अंत करने के लिए तथा क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए संघर्ष करके जनता की समस्याओं का दीर्घकालिक समाधान करने का प्रयत्न किया गया। लेकिन जिन लोगों का सामाजिक दृष्टिकोण विस्तृत नहीं था तथा जिसमें राजनैतिक समझदारी का अभाव था उन्होंने अपनी व्यक्तिगत अथवा वर्गीय समस्याओं के समाधान के लिए केवल अपने संकीर्ण तात्कालिक हितों जैसे-नौकरियों अथवा म्यूनिसिपल कमेटियों में साम्प्रदायिक, जातीय अथवा प्रान्तीय आधार पर संरक्षण प्रदान किए जाने की ही चिन्ता की। इस प्रकार, साम्प्रदायिकता से मध्यम वर्ग के कुछ लोगों को तात्कालिक लाभ अवश्य

हुआ जिससे साम्प्रदायिक राजनीति की वैधता का भ्रम पैदा हुआ।

साम्प्रदायिक मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को वास्तविकता के संबंध में अपनी व्याख्या का विश्वास दिलाने की स्थिति तथा अनुभवों के आधार पर उसमें कुछ वैधता अवश्य थी, भले ही वह व्याख्या आंशिक, कुत्सित और अल्पकालिक हो। उच्च वर्ग के ग्रामीणों और भू-स्वामियों में शिक्षा का प्रसार धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इन लोगों के लिए भूमि पर निर्वाह करना संभव नहीं था क्योंकि औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत कृषि में पूर्णतः प्रगतिरोध आ गया था। विवश होकर यह लोग सरकारी नौकरियों तथा अन्य व्यवसायों की खोजों में शहरों की ओर जाने लगे। स्पर्धा बढ़ने के कारण, इन लोगों ने अपने हितों की रक्षा के लिए साम्प्रदायिक आरक्षण एवं मनोनयन के आधार पर नौकरियों के लिए लड़ना शुरू किया। इससे साम्प्रदायिकता का सामाजिक आधार क्रमशः विस्तृत होता गया। इस प्रकार औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने मध्यम वर्ग के लोगों में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं और प्रवृत्तियों को निरंतर जन्म दिया। जब साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन की संभावना प्रबल होती थी तब मध्यम वर्ग के लोग विस्तृत सामाजिक परिकल्पना के संदर्भ में अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को भुलाकर राष्ट्रीय तथा जन आन्दोलनों में जोश-खरोश के साथ शामिल हो जाते थे। लेकिन जब क्रांतिकारी परिवर्तन की संभावनाएँ क्षीण दिखाई देने लगती थीं तथा जब साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष अपेक्षाकृत निष्क्रिय हो जाता था तब मध्यम वर्ग के

लोगों का झुकाव अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के अल्पकालिक समाधान की खोज, साम्प्रदायिकता पर आधारित राजनीति तथा ऐसी अन्य विचारधाराओं की ओर हो जाता था।

दूसरी तरफ, यह सच था कि भारतीय सामाजिक विकास की यह एक विशेषता थी कि देश के अनेक भागों में धार्मिक विभेद सामाजिक वर्गीय विभेदों के अनुरूप थे और विभिन्न सामाजिक समूहों में असंतोष तथा उनके हितों में परस्पर टकराव था। इन विभेदों के कोई धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक कारण नहीं थे, किन्तु राजनैतिक चेतना न होने के कारण इन विभेदों की कुत्सित अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक टकराव में होती थी। उपरोक्त वस्तुस्थिति यह थी कि अधिकांश शोषण करने वाले वर्गों के व्यापारी महाजन, भू-स्वामी आदि उच्च वर्ग के मुसलमान अथवा उच्च जातियों के हिन्दू थे। परिणामस्वरूप, सम्प्रदायवादी लोग उन संघर्षों को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का रूप दे देते थे जो जमींदार और किसान के बीच होते थे, जैसे पूर्वी बंगाल और मालाबार में अथवा जो कर्जदार किसान और व्यापारी महाजन के बीच होते थे, जैसे पंजाब में। किसानों का अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष तो वस्तुतः अनिवार्य था। प्रश्न यही रह जाता था कि उस संघर्ष की वैचारिक विषय वस्तु क्या हो? सम्प्रदायवादी लोग तथा औपनिवेशिक शासक, दोनों ही किसानों के शोषण और यातनाओं के वर्गीय पक्ष की अपेक्षा उसके साम्प्रदायिक पक्ष पर अधिक जोर देते थे। आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता की वृद्धि के लिए अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति विशेष

रूप से जिम्मेदार थी। यह भी सच है कि आन्तरिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति के कारण ही यह नीति सफल हो सकी। वस्तुतः राज्य इतना शक्ति सम्पन्न था कि वह चाहता तो राष्ट्रीय एकता का संवर्द्धन कर सकता था अथवा सभी प्रकार की विघटनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन दे सकता था। औपनिवेशिक राज्य ने, अपने औपनिवेशिक हित को ध्यान में रखकर दूसरा विकल्प चुना। उसने बढ़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर बनाने और भारतीय जनता को एक राष्ट्र के रूप में उदित होने से रोकने के लिए सम्प्रदायवाद का इस सीमा तक सहारा लिया कि देश में विभाजन की स्थिति पैदा हो गयी।

इस दृष्टि से, मध्यम वर्गों की राजनीति का उपयोग साम्प्रदायिकता के माध्यम से उप-निवेशवाद और जागीरदार सामंत वर्ग की सेवा के लिए किया गया। वस्तुतः साम्प्रदायिकता ही एक ऐसा माध्यम था जिसके सहारे उपनिवेशवाद अपना संकुचित सामाजिक आधार किसानों, मजदूरों, मध्यम वर्गों और श्रमिक वर्ग में कायम कर सका यद्यपि इन सभी के हितों का उपनिवेशवाद से विरोध था। साम्प्रदायिकता को पोषण देने के लिए अंग्रेजों ने क्या विभिन्न उपाय किए, क्या नीतियाँ अपनाई, क्या अपकृत्य किए अथवा किन कृत्यों को करने से परहेज किया? प्रथमतः यह कहा गया कि भारत न तो एक राष्ट्र था, न ही एक राष्ट्र के रूप में उसका निर्माण हो रहा था और न ही वह विभिन्न राष्ट्रों अथवा स्तरों वाले ऐसे समुदाय थे जो आपस में अनुकूल ही नहीं वरन् परस्पर विरोधी भी थे। दूसरे सम्प्रदायवादियों को सरकारी

संरक्षण प्रदान किया गया और उनके साथ पक्षपात किया गया। तीसरे, सम्प्रदायिक समाचारपत्रों, व्यक्तियों और आन्दोलनों के प्रति असाधारण सहिष्णुता दिखाई गयी। चौथे, साम्प्रदायिक माँगों को अविलम्ब स्वीकार किया गया। इस प्रकार साम्प्रदायिक संगठनों को मजबूत किया गया और जनता पर उनके प्रभाव को बढ़ाया गया। उदाहरणार्थ, जबकि 1885-1905 के बीच कांग्रेस की एक भी माँग नहीं मानी गयी, मुस्लिम साम्प्रदायिक माँगों वायसराय के सामने रखे जाने के तुरन्त बाद ही स्वीकार कर ली गई। इसी प्रकार 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा सभी तत्कालीन साम्प्रदायिक माँगों को स्वीकार कर लिया गया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को राजनैतिक प्रगति को रोकने का अधिकार दिया गया।

पाँचवें, अंग्रेज साम्प्रदायिक संगठनों और नेताओं को तुरन्त मान्यता दे देते थे और अपने सम्प्रदायों के प्रवक्ता होने के उनके अधिकार तुरन्त स्वीकार कर लेते थे जबकि राष्ट्रवादी नेताओं को केवल एक छोटे अल्पसंख्यक वर्ग अथवा अभिजात वर्ग आदि का प्रतिनिधि ही माना जाता था। छठे, पृथक् निर्वाचक क्षेत्र भी साम्प्रदायिक राजनीतिक विकास के महत्वपूर्ण माध्यम सिद्ध हुए। अंततः औपनिवेशिक सरकार ने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध कोई कार्यवाही न करके उसे प्रोत्साहन दिया। साम्प्रदायिकता को बढ़ने से रोकने के लिए कुछ निश्चित उपाय आवश्यक थे, जो राज्य द्वारा ही किए जा सकते थे। ऐसे उपाय न करके, राज्य ने परोक्ष रूप से साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया।

उपर्युक्त का सार यही निकलता है कि ऐसी स्थिति में जब औपनिवेशिक राज्य साम्प्रदायिकता का समर्थन कर रहे थे, साम्प्रदायिक समस्या का समाधान औपनिवेशिक शासन के कायम रहने तक संभव नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि साम्प्रदायिकता के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करने के लिए औपनिवेशिक शासन को समाप्त करना आवश्यक था, किन्तु उतना ही करना काफी नहीं था। साम्प्रदायिकता की वृद्धि का बड़ा कारण यह भी था कि बीसवीं सदी के आरम्भ में अनेक उग्रवादियों ने राष्ट्रवादी विचारधारा और प्रचार को हिन्दुत्व के गहरे रंग में रंगा। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति पर अधिक जोर दिया और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता को हिन्दू जामा पहनाया अथवा कम-से-कम दिन-प्रति-दिन के राजनैतिक आन्दोलनों में हिन्दू प्रतीकों का सहारा लिया।

तिलक द्वारा गणेश पूजा और शिवाजी उत्सव मनाने की प्रथा आरम्भ की गयी, बंगाल में विभाजन विरोधी आन्दोलन का आरंभ गंगा स्नान से किया गया, अरविंदों ने 'भारत माता' की संकल्पना प्रस्तुत की जो किसी हद तक रहस्यवादी थी इतना ही नहीं, समकालीन लेखन में मुस्लिम शासकों को विदेशी और अत्याचारी के रूप में दर्शाया गया, जिससे शिक्षित मुसलमानों में विरोध की भावना पैदा हुयी और वे उदयशील राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर हो गए। इसमें संदेह नहीं कि कुल मिलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः धर्म निरपेक्ष रहा और युवा राष्ट्रवादी मुसलमानों को इस धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण और विचारधारा को समझने

और स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इसके कई प्रभाव भी पड़े—(1) राष्ट्रीय आंदोलन में हिन्दुत्व की झलक साम्प्रदायिकता का कारण तो नहीं थी लेकिन साम्प्रदायिकता को रोकने में हुयी विफलता का कारण अवश्य थी। (2) इससे मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर खींचना थोड़ा कठिन हो गया। (3) इसका प्रयोग सरकार ने और सम्प्रदायवादियों ने मुसलमानों के बड़े वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रखने के लिए किया। (4) इसी आधार पर मुसलमानों में यह भावना भी पैदा की गयी कि राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता से देश में हिन्दुओं का वर्चस्व हो जाएगा। (5) हिन्दुत्व की इसी झलक के परिणामस्वरूप हिन्दू सम्प्रदायवादियों के लिए भी वैचारिक मार्ग प्रशस्त हुआ। (6) इससे राष्ट्रीय आन्दोलन से उन कार्यकर्त्ताओं को अलग करना भी कठिन हो गया जिनकी राजनैतिक विचारधारा हिन्दुवादी थी। (7) परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी मुसलमानों पर मुसलमानी रंग चढ़ने में सहायता मिली।

कुछ लेखकों के विचार में साम्प्रदायिकता में वृद्धि होने का एक बड़ा कारण भारत में अनेक धर्मों का होना था लेकिन यह सत्य नहीं है। साम्प्रदायिकता को धर्म से कभी प्रोत्साहन नहीं मिला और धर्म का केवल सहारा लिया गया। इसमें संदेह नहीं कि सम्प्रदायवादियों ने संगठित होने के लिए धर्म का सहारा लिया और अपनी ऐसी माँगों, महत्वाकांक्षाओं और संघर्षों को धार्मिक जामा पहनाया जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसके विपरीत, अतिधार्मिकता साम्प्रदायिकता का एक

बड़ा कारण थी। धार्मिक विषयों के प्रति गहन भावनात्मक निष्ठा और जीवन के धर्मोत्तर क्षेत्रों में, जो व्यक्तिगत और नैतिक सीमा के बाहर के क्षेत्र थे, धर्म और धार्मिक भावनाओं को प्रवेश करने देना ही अति धार्मिकता थी। अति-धार्मिकता यद्यपि साम्प्रदायिकता से भिन्न थी, किन्तु इससे धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता की ओर कोई भी व्यक्ति आकर्षित हो सकता था। भारतीय इतिहास विशेषकर मध्यकालीन और प्राचीनकालीन इतिहास की अवैज्ञानिक, साम्प्रदायिक तथा गलत व्याख्या ही साम्प्रदायिक चेतना के प्रसार का प्रधान माध्यम बनी। स्कूलों और कॉलेजों में साम्प्रदायिक आधार पर इतिहास के शिक्षण से साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और वृद्धि में बहुत सहायता मिली। ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को पक्षपातपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया था। दुर्भाग्यवश, भारतीय इतिहासकारों ने भी उनका अनुसरण किया और फलतः भारतीय इतिहास के मध्य काल को मुस्लिम काल की संज्ञा दी गयी। तुर्कों, अफगानों और मुगलों के शासन को मुस्लिम शासन कहा गया। उनके शासन का विवेचन करने के स्थान पर, उन सबको शासकों और सभी हिन्दुओं को शासितों के वर्ग में रख दिया गया। वस्तुस्थिति यह थी कि सभी शासक, सामंत जमींदार आदि चाहे वे हिन्दू हो या मुसलमान अपनी समस्त हिन्दू और मुसलमान प्रजा को समान रूप से हेय और निम्न समझते थे और यह समझते थे कि प्रजा का अस्तित्व केवल उनके लाभ के लिए है।

इन इतिहासकारों ने यह नहीं समझा कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में

राजनीति अन्य स्थानों की ही भाँति मुख्यतः शासक वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक हितों पर आधारित होती थी, धर्म पर नहीं। ब्रिटिश और साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने भारत की मिली-जुली संस्कृति पर भी जोर नहीं दिया। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति में विविधता थी, किन्तु उसका आधार मुख्यतः वर्गीय और क्षेत्रीय था। पृथक् हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों की साम्प्रदायिक अवधारणा के परिणामस्वरूप विभाजनकारी प्रवृत्तियाँ पैदा हुईं।

संदर्भ

- Tracing an India Diaspora by Parvati Raghuram.
- A Concise History of Modern India by Barbara D Metcalf, Thomas R Metcalf.
- The Future of India - Politics, Economics and Governance by Bimal Jalan.
- The Spirit of India by Ramin Jahanbegloo.
- The Men Who Killed Gandhi-Illustrated with Unpublished Documents and Photographs by Manohar Malgonkar.
- Political and Incorrect-The Real India, Warts and All by Tavleen Singh.
- Archaeology after Excavation by D. Mandal, Shereen Ratnagar.
- Modern Indian History- From 1707 to the Present Day by V D Mahajan.

एम.ए., एल.एल.बी.,
पीएच.डी.

Some Outstanding Books on Health Care :

Healthy Baby	Dr. P.K. Singh	200.00
Pregnancy Planning, Care & Delivery	Dr. P.K. Singh	300.00
Children's Health	Dr. P.K. Singh	250.00
Working Life	Dr. Devendra Sengar	300.00
Women's Health	Dr. Devendra Sengar	300.00
Men's Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Senior Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Allergy	Dr. P.K. Singh	150.00
Common Diseases	Dr. P.K. Singh	300.00
Alternative Medicine	Dr. P.K. Singh	250.00
First AID : The First Medical Requirement	Dr. Devendra Sengar	200.00
Weight Loss	Dr. P.K. Singh	200.00
Stress	Dr. Devendra Sengar	300.00
Food and Nutrition	Dr. Devendra Sengar	200.00
Fitness : How to be Fit	Dr. Devendra Sengar	300.00
Teen's Health	Dr. P.K. Singh	250.00

To Order Please Write to :

Pushpanjali Prakashan

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053
Phone : 9811710900

1857 के जनविद्रोह (बिहार) का प्रधान संचालक हरकिशन सिंह

डॉ. सुबोध कुमार चौधरी

बिहार भारतीय सभ्यता-संस्कृति की क्रीड़ाभूमि रही है। यहां युगों-युगों तक मानव, विभूति के रूप में प्रकट हुए हैं। राष्ट्रीय संघर्ष के विविध चरणों में इसका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणाप्रद रहा है। इसमें संदेह नहीं कि पलासी के युद्ध ने 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार की।

1857 के विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए जितना यश और प्रतिष्ठा बाबू कुंवर सिंह को है वहीं उनको प्रेरित करने वाले और अंग्रेजों को नाकों चने चबवाने वाले एक मध्यवर्गीय किसान के बेटे हरकिशन सिंह का जिज्ञासु तक नहीं होता, बल्कि पूरे आरा जिले का जनमानस उसको गद्दार कहता है। यहां तक कि बिहार के प्रसिद्ध नाटककार श्री चतुर्भुज ने भी उसे अपने नाटक 'कुंवर सिंह' में एक गद्दार की भूमिका दी है। इस आलेख का उद्देश्य उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का है। हरकिशन सिंह आरा जिले के भोजपुर परगने के बड़काडीह गांव के मध्यवर्गीय किसान परिवार के श्री ऐंदल सिंह का पुत्र था। 1857 के विद्रोह के समय वह कुंवर सिंह का विश्वासभाजन भी रहे।

सरकारी कागजातों के अनुसार हरकिशन सिंह पांच भाई थे—बड़े भाई राधे सिंह, दूसरे भाई हरकिशन सिंह, तीसरे भाई जयकिशन सिंह, चौथे भाई लक्ष्मी सिंह, और पांचवे भाई अनंत सिंह या आनंदी सिंह थे। कुंवर सिंह और उसके भाई दयाल सिंह में विद्रोह के पहले जब पारिवारिक कलह हुआ तो हरकिशन सिंह के भाई जयकिशन सिंह मारे गये थे।

जगदीशपुर गढ़ से पश्चिम तरफ जो पोखर है उसे बाबू कुंवर सिंह ने दयाल सिंह का मकान तुड़वाकर बनवाया था। इस कार्य में हरकिशन सिंह ने कुंवर सिंह के आदेश का पालन किया था। यही कारण था कि कुंवर सिंह इनको बहुत मानते थे और दूसरी तरफ दयाल सिंह या उनके बेटे रिपुभंजन सिंह बहुत खिलाफत करते रहते थे। हरकिशन सिंह को गद्दार कहकर प्रचार करने का कार्य रिपुभंजन सिंह ने ही किया। किसी को उस समय विरोध करने की हिम्मत नहीं थी और सच बात तो यह है कि रिपुभंजन सिंह अंग्रेजों से मिल गये थे और उन्हें आजीवन पेंशन भी मिलती रही।¹

आगे प्रस्तुत शोध पत्र में हरकिशन सिंह के बारे में कुछ कहने से पहले बाबू कुंवर सिंह की स्थिति का आंकलन करना आवश्यक है। सन् 1838 ई. तक बाबू कुंवर सिंह के ऊपर महाजनों का कर्ज 17 लाख रुपये का था जो 1857 तक 20 लाख पहुंच गया था। 1838 ई. में ही उन्होंने सरकार से प्रार्थना की थी कि उनकी जमींदारी सरकार अपने हाथों में ले ले और कर्ज की अदायगी लगभग 15 वर्षों में कर दे। उनके इस आवेदन की सिफारिश सर्वप्रथम शाहाबाद के जज श्री डेन्ट ने 15 अक्टूबर 1838 को सदर दीवानी अदालत से तथा 21 नवंबर 1854 को शाहाबाद के कलक्टर श्री ए.ए. स्विन्टन तथा पटना के कमिश्नर मि. टेलर ने 10 दिसंबर 1855 को रेवेन्यू बोर्ड के सेक्रेटरी के पास की। पुनः मि. टेलर ने 19 दिसंबर 1856 को रेवेन्यू बोर्ड को लिखा। रेवेन्यू बोर्ड बराबर उसे अनसुनी करता रहा। विद्रोह शुरू होने के पहले कुंवर सिंह ने 25 जून 1857 को एक लंबा आवेदन पत्र भेजा और सरकार से प्रार्थना की कि उन्हें ढूबने से बचाये। लेकिन रेवेन्यू बोर्ड या सरकार इसे बराबर अनसुनी करती रही। विद्रोह में शामिल होने के बाद कुंवर सिंह ने मि. टेलर को लिखा कि "मैं परिस्थितियों का शिकार हुआ हूँ और मुझे बाध्य होकर विद्रोही बनना पड़ा है।" बाबू कुंवर सिंह मि. टेलर के घनिष्ठ मित्रों में से थे। मि. टेलर को यह कभी उम्मीद नहीं थी कि बाबू साहेब विद्रोह में भाग लेंगे। उनकी स्थिति संकटग्रस्त थी और जमींदारी को महाजनों से बचाने का कोई रास्ता नजर नहीं था। यही कारण है कि कुंवर सिंह 1845 से ही सरकार विरोधी षड्यंत्रों में शामिल हो रहे थे और सच बात तो यह है कि विद्रोह शुरू होने के पहले अगर सरकार उनकी जमींदारी का प्रबंध अपने हाथों में ले लेती तो यह बात तय

थी कि बाबू कुंवर सिंह विद्रोह में भाग न लेते।⁴

चन्द्रशेखर पाठक, जो एक इतिहासकार हैं ने 1921-22 में प्रकाशित अपनी पुस्तक “सिपाही विद्रोह” में लिखा है कि “वास्तव में बाबू साहेब या उनके आदमी विद्रोह में भाग लेने के लिए तैयार नहीं थे”। यदि होते तो स्वयं आरा के खजाने से रुपये पटना क्यों पहुंचा देते? उस समय लूट न लेते? कैदी जन बिगड़े थे तो उन्हें क्यों शांत करने न जाते और आग न लगा देते कि खूब धांय-धांय जलने लगती। बाबू साहेब का परिवार कभी भी इस पक्ष में नहीं था कि बाबू साहेब विद्रोह में भाग लें। लेकिन हरकिशन सिंह आरंभ में ही विद्रोह के पक्ष में थे। रणदलन सिंह और हरकिशन सिंह हमेशा उसे बलवाई सिपाहियों का सरदार बन जाने को कहते थे, किंतु उनकी बातें सुनकर वे अपने भाई दयाल सिंह और अमर सिंह से ही सलाह ले लेते थे। ये लोग बाबू साहेब को विद्रोह में शामिल होने से बराबर रोकते और कहते कि अंग्रेजों के विरुद्ध होने में हमारी भलाई नहीं है। इसी में बाबू साहेब अपने उत्तेजित मुसाहिबों को डांट-डपटकर चुप कर देते। उनकी राय इतनी जल्दी विद्रोही बन जाने की नहीं थी। इस बात की पुष्टि पुलिस कमिश्नर सैमुएल्स की रिपोर्ट से होती है जो 29 जनवरी 1858 को बंगाल सरकार को भेजी गयी थी। सैमुएल्स के अनुसार कुंवर सिंह राजभक्त थे, लेकिन टेलर के क्रूर व्यवहार के कारण वे विद्रोही बन गए। जैसा कि 25 जून 1857 के कुंवर सिंह के आवेदन-पत्रों से पता चलता है।⁶ उधर हरकिशन सिंह दानापुर

के सिपाहियों से मिलने के लिए गये। हरकिशन सिंह न सिर्फ सिपाहियों के मन की थाह ली बल्कि उन्हें खुल्लम-खुल्ला विद्रोही बनाकर आरा लाये और उन्होंने सिपाहियों को यह भरोसा दिया कि बाबू साहेब उनका नेतृत्व करने को तैयार हैं।⁷

उधर जब बाबू साहेब को विद्रोहियों के आरा पहुंचने की सूचना मिली तो उन्होंने अपने परिवार वालों एवं प्रिय मुसाहिबों तथा ब्राह्मणों को बुलाकर विचार विमर्श किया। के.के. दत्त ने लिखा है कि बाबू साहेब के विद्रोह में भाग लेने के प्रश्न पर उनके सलाहकारों में मतभेद था। हरकिशन सिंह के नेतृत्व में एक दल की सलाह थी कि बाबू साहेब विद्रोह का नेतृत्व करें और बाबू अमर सिंह सहित दूसरे दल का विचार था कि बाबू साहेब वर्तमान स्थिति में यथास्थिति पर कायम रहें, अर्थात् विद्रोह में भाग न लें लेकिन अंत में हरकिशन सिंह के गुट की जीत हुई।⁸

इस प्रकार कुंवर सिंह ने विद्रोही सिपाहियों का नेतृत्व ग्रहण किया और विद्रोही सिपाहियों ने बाकायदे उन्हें फौजी सलामी दी।⁹

3 अगस्त को आरा में मेजर से हार खाने के बाद विद्रोही सिपाहियों को 12 अगस्त को जगदीशपुर से भी हाथ धोना पड़ा। आयर की फौज से लेकर कंपनी सरकार की फौज द्वारा जगदीशपुर पर कब्जा कर लेने जितनी भी लड़ाइयां हुईं उन सभी में हरकिशन सिंह ने मुख्य रूप से भाग लिया था। इसके बाद वे बाबू साहेब के साथ सासाराम की पहाड़ियों की जंग में डट गये। इसी बीच उनकी गिरफ्तारी के लिए सरकार

ने इनाम की घोषणा तीन हजार से बढ़ाकर पांच हजार कर दी थी।¹⁰

हरकिशन सिंह ने कुंवर सिंह का साथ नहीं छोड़ा। उनके मुकदमे की गवाही से यह बात स्पष्ट होती है कि सभी लड़ाइयों का नेतृत्व हरकिशन सिंह करते थे। आजमगढ़ की लड़ाई में विद्रोही सेना के सेनापति हरकिशन सिंह ही थे। उसमें सफलता पाने पर बाबू साहेब ने उन्हें सालारवर्ग की उपाधि दी। बाबू साहेब के साथ ही वे जगदीशपुर लौटे। उन्होंने बाबू साहेब के साथ शिवपुर घाट होकर गंगा पार की थी। बाबू कुंवर सिंह को तोप के गोला लगने के बाद उनकी मृत्यु के उपरांत हरकिशन सिंह की प्रधान व्यक्ति थे जिन्होंने अमर सिंह के नाम से राज्य का शासन व विद्रोह का नेतृत्व अपने हाथ में रखा जबकि अमर सिंह केवल नाम के प्रधान व्यक्ति थे।¹¹

के.के. दत्त ने लिखा है कि “बाबू साहेब के मरने के बाद अमर सिंह विद्रोहियों के नेता बनाये गए और अपने योग्यतम साथी हरकिशन सिंह के साथ वे युद्ध चलाते रहे। 16 मई, 1858 की पैदल सेना के मेजर लाहटपुर के अधीन सैनिकों का एक दल हरकिशन सिंह का मकान (वराढी गांव) जला देने के लिए भेजा गया। उसी के साथ अरइला गांव भी जला दिया गया क्योंकि अरइला के निवासियों ने विद्रोहियों का साथ दिया था।”¹² हरकिशन सिंह द्वारा चलाये जा रहे युद्ध खासकर गुरिल्ला युद्ध से तंग आकर अंग्रेजों ने उसके पास समझौते का संदेश भेजा और इसके लिए तत्कालीन कलक्टर मनी ने खासतौर से पहल की। 25 नवंबर को वगेन जंगल

के बाहर, जिसके पास ही गांव में हरकिशन सिंह का विद्रोहियों का दल था उनके कुछ प्रतिनिधियों से कलक्टर मनी ने सादत खां रिसालेदार को साथ लेकर विद्रोहियों से समझौता-वार्ता की, लेकिन वार्ता असफल रही।¹³

हरकिशन सिंह का युद्ध जारी रहा। सरकारी अधिकारी व उनके एजेंट ने विद्रोही नेताओं की धर-पकड़ के लिए जमीन आसमान एक कर डाला। अंततः 29 अगस्त 1859 को दुसह के समदह के नायक कोतवाल द्वारा बनारस जिले के बधौल परगना के ग्राम दुनिया में हरकिशन सिंह को गिरफ्तार किया गया और आर.जे. रिचर्डसन (शाहाबाद के तत्कालीन प्रभारी जज) एवं विशेष आयुक्त के समक्ष मुकदमा चलाया गया और उसे फांसी की सजा दी गई।¹⁴

हरकिशन सिंह के पकड़े जाने पर उनके मुकदमे से प्रमाणित है कि वह कितना बड़ा देशभक्त, संगठनकर्ता एवं निष्ठावान और चरित्रवान पुरुष था। अभियोग था कि 27 जुलाई 1857 से लेकर अंत तक जब तक वे पकड़े नहीं गये तब तक हरकिशन सिंह ने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह को उभारा और उसका नेतृत्व किया। दानापुर से विद्रोही सिपाही को आरा लाना और उनके द्वारा जेल का फाटक तुड़वाने तथा गुटबंदी करवाने का कार्य करवाना, कुंवर सिंह की मृत्यु के बाद विद्रोही सेना के सेनापतित्व करना तथा अमर सिंह के प्राधिकार में जगदीशपुर में स्वतंत्र शासन का संचालन करना इन्हीं के काम थे।¹⁵

आर.जे. रिचर्डसन ने अपने फ़ैसले में लिखा है “कैदी हरकिशन सिंह के

हाथ में उस समय इतना अधिकार था कि इस बात की संभावना नहीं रह जाती कि कुंवर सिंह की जर्मीदारी को पट्टे पर लेने के अपराध में उनकी (हरकिशन सिंह) मौजूदगी में उनकी आज्ञा और अनुमति के बिना जगदीशपुर में जानकी सिंह, दीना दास, हरिहर पांडेय तथा भागवत दास को पकड़वा कर जान से मरवा डाला गया हो।”¹⁶

रिचर्डसन पुनः अपने फ़ैसले में लिखता है, “जुलाई 1857 में शाहाबाद में विद्रोह शुरू होने के बाद से ही हरकिशन सिंह का नाम प्रत्येक राजभक्त प्रजा के लिये आतंक व क्रूरता का प्रतिरूप था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि इस जिले में विद्रोहियों ने जो रक्तपात और आतंक का राज्य कायम किया, उस काम में हरकिशन सिंह सभी विद्रोहियों में आगे रहे। उनका हुक्म कानून था। उन्होंने जो जुल्म और क्रूर कार्य किये थे सभी उनके अमानुषिक चरित्र के अनुकूल थे, जो सबको विदित है।” इसलिए मेरी सिफारिश है कि उसे जगदीशपुर के चौक पर ले जाया जाये और जब तक उनका अंत नहीं हो तब तक फांसी पर लटकाया जाये।¹⁷

हरकिशन सिंह के पकड़े जाने के बाद अंग्रेज अधिकारियों को चिंता होने लगी कि ऐसा नहीं कि हरकिशन सिंह को साम्राज्ञी द्वारा थोपित क्षमादान का लाभ मिल जाये। उसके संबंध में पटना के कमिश्नर ने कई बार सरकार के सचिव को पत्र लिखा कि हरकिशन सिंह ही कुंवर सिंह की मृत्यु के बाद नेता है अतः उसे किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ा जाना चाहिए। “शाहाबाद के केवल पांच या छः प्रमुख नेताओं को

छोड़ सभी को क्षमादान का लाभ दिया जाये”। इस आदेश का हवाला देते हुए पटना के कमिश्नर ने 23 दिसंबर 1859 को बंगाल के सचिव के नाम पत्र संख्या 323 लिखते हुए विद्रोहियों की सूची में प्रमुखता के अनुसार क्रमवार पेश की, जिसमें हरकिशन सिंह का नाम पहले स्थान में था। कमिश्नर ने लिखा कि किसी भी विद्रोही को छोड़ देना या क्षमादान देना कड़ी भूल होगी। फिर भी अगर सरकार की नीति इस प्रकार की है तो कम-से-कम निम्नलिखित सात विद्रोहियों को न छोड़ा जाए-प्रथम हरकिशन सिंह, दूसरा जीवधर सिंह, तीसरा मेघर सिंह, चौथा सीधा सिंह, पांचवां शिप्रसन्न सिंह, छठा अमर सिंह और सातवां देवी ओझा।

21 अक्टूबर, 1859 को कार्यकारी सचिव लुशिंगटन ने भारत सरकार के सचिव को लिखा, कि “हरकिशन सिंह जिसे बनारस में गिरफ्तार किया गया है वह वास्तव में कुंवर सिंह की मृत्यु के बाद असली नेता है। लेफ्टीनेंट गवर्नर की राय है कि इसे फांसी की सजा दी जानी चाहिए। 12 दिसंबर, 1859 को बंगाल सरकार के सचिव ने कमिश्नर को तार भेजा कि केवल अमर सिंह को छोड़कर उन सभी को क्षमादान का लाभ मिलना चाहिए जो हत्या के अपराधी या हत्या के अपराधियों को शरण देने वाले न हों। इस पर पुनः पटना के कमिश्नर ने बक्सर कैंप से 18 दिसंबर को बंगाल सरकार के सचिव को पत्र लिखते हुए कहा कि उपरोक्त आदेश निःसंदेह इस भावना से दिये गये हैं कि कुंवर सिंह की मृत्यु के बाद अमर सिंह का नाम विद्रोहियों द्वारा लिया जाता रहा है। यह सोचना है कि अमर सिंह बड़ा

प्रभावशाली नेता है, भूल है। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने इस विद्रोह में सक्रिय हिस्सा नहीं लिया। वे प्रायः अफीम तथा अन्य नशाओं में धुत रहते थे। वास्तव में शाहाबाद जिले में अगर इस विद्रोह में सक्रिय भाग लेने वाला और इसको आगे बढ़ाने वाला कोई था तो वो हरकिशन सिंह और उसके चार भाई थे। इन लोगों ने कुंवर सिंह का साथ बांदा, कानपुर और लखनऊ में दिया। साथ ही कुंवर सिंह को विद्रोह में लाने का श्रेय इन्हीं लोगों को है। अगर इन लोगों को क्षमादान का लाभ मिलता है तो एक भयंकर भूल होगी। अतः मुझे विश्वास है कि हमें आदेश होगा कि हम हरकिशन सिंह तथा उनके परिवारों का क्षमादान के लाभ से वंचित रखने में सफल होंगे।”¹⁸

इस प्रकार झूठे न्याय का ढकोसला रचकर हरकिशन सिंह को फांसी की सजा दी गयी। इनके अन्य चारों भाइयों को भी नहीं छोड़ा गया। पटना के कमिश्नर ने 8 मई, 1860 को बंगाल सरकार के सचिव को सूचित किया कि “हरकिशन सिंह के सभी भाइयों को आजीवन कारावास या कालापानी की सजा दी गयी और उनकी सारी संपत्ति कुर्क कर ली गयी।” इन चारों भाइयों ने अलीपुर जेल से क्षमादान का लाभ पाने का आवेदन किया तो 25 जून, 1860 को पटना के कमिश्नर ने बंगाल सरकार के सचिव के पास रिपोर्ट लिखते हुए कहा कि इसके ऊपर लगाये गये सारे अभियोग प्रमाणित हैं, अतः उन्हें सजा से मुक्ति नहीं मिलनी चाहिए।¹⁹

जहां तक हरकिशन सिंह की शिक्षा का सवाल है, वह बहुत ही मामूली थी। वह बहुत कम पढ़ा लिखा था लेकिन

उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। इसकी चर्चा उसके मुकदमे की सुनवाई कर रहे जज आर.जे. रिचर्डसन ने इस प्रकार की है-“मैं प्रतिदिन मुकदमे की सुनवाई करने से पहले हरकिशन सिंह से कहता कि मुकदमे की पैरवी के लिए वकील रख ले। लेकिन उन्होंने साफ इंकार करते हुए कहा कि वह स्वयं गवाहों से बहस करेंगे और उन्होंने वह काम निपुणता से किया, गवाहों से असाधारण व कठोर बहस की।”²⁰

सैनिक शिक्षा न रहते हुए भी उनमें सैनिक कुशलता के सभी गुण विद्यमान थे। वह स्वयं सैनिक कमाण्ड अपने हाथ में रखते, खाइयां खुदवाते और शस्त्रास्त्रों का निर्माण करवाते आदि। उनके मुकदमे में गवाह रणजीत राम सिपाही ने बयान दिया कि हरकिशन सिंह ने जो बटालियन खड़ी की थी उनके नाम उन्होंने अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध इलाके के नाम पर रखे थे जैसे-करीसथ बटालियन, चौगाई बटालियन।²¹ उन्होंने दो डिवीजन पलटनों भी बनायी थी। उनके नाम थे-हरजंग और फतहजंग। जहां तक प्रशासनिक क्षमता का सवाल है तो वह अद्भुत थी। राजस्व से न्याय तक का संचालन अपने अधीन करता था। वह स्वयं न्यायकर्ता के आसन पर बैठकर न्याय करता था जो सर्वमान्य होता था।

निष्कर्षतः जहां तक हरकिशन सिंह को आज तक विश्वासघाती व गद्दार कह कर बदनाम किया जा रहा है यह इतिहासकारों के लिए सोचनीय विषय है कि अब तक इतिहास लेखन के जरिए आम जनता में हरकिशन सिंह के बलिदान को प्रकाश में नहीं लाया जा सका। के.के. दत्त ने लिखा है, “बिडवना

ही है कि कतिपय लोकगीतों और लोक कथाओं में हरकिशन सिंह को गद्दार की भूमिका दी गयी है।” यह आरोप मूल कागजातों के साक्ष्य से प्रमाणित नहीं होता। सच बात तो यह है कि विद्रोहियों के साथ उनका घनिष्ठ प्रेम था और वे विद्रोह के प्रमुख व्यक्तियों में से थे।²¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1857 का स्वातंत्र्य समर सही अर्थों में पूरे देश की आत्मा की गुलामी के विरुद्ध एक ऐसा विद्रोह था जिसमें सारे भेदांतर को भुलाकर लोगों ने ब्रितानी शासन के विरुद्ध बगावत का परचम लहराया और हंसते-हंसते शहीद हो गये। आज जब हम 1857 के स्वातंत्र्य समर की 150 वीं वर्षगांठ मना चुके हैं तब उन स्वातंत्र्य सेनानियों को भी याद करना हमारा फर्ज हो जाता है जिनकी शहादत को इतिहास के पन्नों में उतना महिमामंडन नहीं किया जा सका हो जिसके वे हकदार थे, मगर जिनके बलिदान की शौर्यगाथाएं जनमानस में आज भी विद्यमान हैं।

संदर्भ-सूची

1. के. के. दत्त, बिहार में स्वातंत्र्य आंदोलन का इतिहास, खंड-1 पृ. 1
2. के. के. दत्त, कुंवर सिंह-अमर सिंह, तवारिखे उज्जैनिया।
3. सरकारी कागजात, बिहार राज्य अभिलेखागार, पटना।
4. के. के. दत्त, कुंवर सिंह-अमर सिंह, तवारिखे उज्जैनिया, पृ. 50-51
5. चन्द्रशेखर पाठक, सिपाही विद्रोह, पृ. 449-50, वही, पृ. 71
6. बिहार राज्य अभिलेखागार, पटना सचिवालय।

7. एच. पी. चट्टोपाध्याय, द सिपाव्य म्यूटिनी, ए सोशल स्टडी एवं एनालिसिस, पृ. 118-119
8. के. के. दत्त, कुंवर सिंह-अमर सिंह, तवारिखे उज्जैनिया, पृ. 118-19
9. वही, पृ. 119
10. बंगाल सरकार के नाम पटना कमिश्नर का पत्र दिनांक 2 सितंबर, 1859 बिहार राज्य अभिलेखागार एवं के. के. दत्त कुंवर सिंह-अमर सिंह तवारिखे उज्जैनिया, पृ. 123
11. वही
12. वही, पृ. 208 आर. जे. रिचर्डसन, स्थानापन्न जज का निर्णय।
13. आरा के कलक्टर मनी का पत्र पटना के कमिश्नर के नाम 28 नवंबर, 1858।
14. के. के. दत्त, वही, पृ. 229
15. के. के. दत्त, वही, पृ. 239 हरकिशन सिंह के मुकदमे का विवरण।
16. वही, पृ. 259, आर. जे. रिचर्डसन, स्थानापन्न जज का निर्णय।
17. वही, पृ. 205, आर. जे. रिचर्डसन, स्थानापन्न जज का निर्णय।
18. पटना के कमिश्नर का बंगाल सचिव के नाम पत्र दिनांक 18 दिसंबर, 1859
19. बिहार राज्य अभिलेखागार
20. के. के. दत्त, वही, पृ. 259
21. के. के. दत्त, बिहार में स्वातंत्र्य आंदोलन का इतिहास, पृ. 61
22. के. के. दत्त, पृ. 125-126
23. 1857 : Essays From Economic and Political Weekly. New Delhi, Orient Longman, 2008.
24. Encyclopaedia of Indian War of Independence (1857-1947), Vols. 1 to 19/ edited by M.K. Singh. New Delhi, Anmol, 2009.
25. Rethinking 1857/edited by Sabyasachi Bhattacharya. New Delhi, Orient Longman, 2007.
26. The 1857 Rebellion/edited by Biswamoy Pati. New Delhi, Oxford University Press, 2007.
27. Rebellion 1857/edited by P.C. Joshi. New Delhi, National Book Trust, 2007.
28. Lucknow 1857 (The Two Wars of Lucknow : The Dusk of An Era)/Roshan Taqui. Lucknow, New Royal Book, 2001.
29. The Great Uprising : India, 1857/Pramod K. Nayar. New Delhi, Penguin, 2007.
30. Encyclopaedia on Indian Mutiny of 1857, Vols. I to III/Shailendra Sengar. New Delhi, Anmol Pub., 2009.
31. 1857 Uprising : A Tale of an Indian Warrior: Translated from Durgadas Bandopadhyay's Amar Jivancharit/edited and translated by Kaushik Roy. New Delhi, Anthem Press, 2008.
32. 1857 : A Great Rebellion/Raj Kumar. New Delhi, Raj Pub., 2007.
33. The Mutiny and Its Impact 1857-1884/S. Ram and R. Kumar. New Delhi, Commonwealth, 2008.
34. The Great Indian Revolt of 1857 : Flames, Fire and Freedom/K.B. Srivastava. New Delhi, Regal Pub., 2007.
35. Revolt of 1857 and the Indian Freedom Movement/Krishan Mohan. Jaipur, Book Enclave, 1999.
36. India in 1857 : Before and After/edited by H.S. Bhatia. New Delhi, Deep and Deep, 2008.
37. 1857 An Illustrated History/compiled and edited by Som Prakash Verma. New Delhi, Oxford University Press, 2008.
38. Counterflows to Colonialism : Indian Travellers and Settlers in Britain 1600-1857/Michael H. Fisher. New Delhi, Permanent, 2004.
39. 1857 Select Documents : The Bengal Army, Vol. VII. New Delhi, Life Span, 2008.
40. Martyr Raja Nahar Singh: An Unsung Hero of 1857/Raj Pal Singh. New Delhi, Vishvabharti Pub., 2008.
41. In their Own Words : British Women Writers and India, 1740-1857/Rosemary Raza. New Delhi, Oxford University Press, 2006.
42. 1857 Select Documents, Volume IV. Punjab. New Delhi, Life Span Publishers and Distributors, 2008.
43. 1857 Select Documents, Volume II. Punjab-A. New Delhi, Life Span Publishers and Distributors, 2008.

वैदिक धर्म में एकेश्वरवाद का विकास

डॉ. नन्दन कुमार

वैदिक धर्म-बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर तथा उसकी निरंतरता

वैदिक धर्म (जिसके अंतर्गत ऋग्वैदिक धर्म आते हैं) के बारे में व्यापक और सुनिश्चित जानकारी हमें वैदिक साहित्य से प्राप्त होती है जिसके अंतर्गत 'वेद', ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक और उपनिषद आते हैं। इन ग्रंथों से हमें वैदिक काल में प्राचीन भारतीयों के विभिन्न धार्मिक दृष्टिकोणों के साथ-2 उनके धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों उनके आराध्य देवताओं आदि के बारे में जानकारी होती है। इन ग्रंथों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे उनका विकास होता गया वैसे-वैसे उनके धार्मिक दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन होने लगा और उनमें ज्ञान मार्ग पर आधारित एक ऐसे दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसमें बहुदेववाद, आडंबरवाद, यज्ञवाद आदि की पूर्णरूप से अवहेलना की गई। इस नये दृष्टिकोण को विभिन्न आरण्यक ग्रंथों और उपनिषदों में देखा जा सकता है। अग्रलिखित विवरण उपरोक्त बातों का ही उल्लेख करता है।

वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है और इसके द्वारा वैदिक कालीन धर्म के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य प्रकृति पूजक और बहुदेववादी थे। इसलिए उन्होंने इन प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण किया, उन्हें जीवन्त माना और उनकी विभिन्न मंत्रों के द्वारा स्तुति करनी शुरू की।

ऋग्वैदिक देवताओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. आकाश के देवता: इसके अंतर्गत वरुण, पूषण, मित्र सूर्य, विष्णु, अश्विन, उषा आदि आते हैं।

2. अंतरिक्ष के देवता: इसके अंतर्गत इन्द्र, पर्जन्य रुद्र, मरुत, वायु, आग, मातरिश्वन आदि।
3. पृथ्वी के देवता: इसमें अग्नि, सोम, पृथ्वी, बृहस्पति आदि आते हैं।

पर यह कहना कठिन है कि ऋग्वैदिक काल का प्रमुख देवता कौन था। विद्वानों का यह मानना है कि ऋग्वैदिक काल में भारतीय प्राचीन मनीषियों ने जिस समय जिस देवता की स्तुति की उसे ही सर्वोच्च मानकर और उनमें संपूर्ण गुणों का आरोहण कर दिया था। यही कारण है कि ऋग्वेद के विभिन्न मंडल अलग-अलग देवताओं को समर्पित किये गए। इसी प्रवृत्ति को मैक्समूलर ने हीनोथीज्म की संज्ञा दी है—

यहां यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में कुल 33 देवताओं का उल्लेख है और यदि ऋग्वेद में वर्णित सूक्तों के आधार पर माना जाये तो यह कहना ठीक होगा कि सबसे प्रमुख देवता इन्द्र थे जिनकी प्रशंसा में 250 सूक्तों की रचना की गई। इन्द्र को वर्षा का देवता, शत्रुहन्ता, शत्रु विनाशक, पुरंदर (दुर्ग को तोड़ने वाला), पुरमिद् (वृत्तासुर राक्षस का वध करके जल को मुक्त करने वाला), अन्सुजित अर्थात् पानी को जीतने वाला, ब्रजबाहु अर्थात् उनका प्रमुख अस्त्र ब्रज है, शत्केतु अर्थात् एक सौ लोगों की शक्ति ग्रहण करने वाला जैसे विभिन्न नामों से पुकारा गया है।

जैसा कि ऋग्वेद में इन्द्र के बारे में कहा गया है—

इन्द्र वयं महाधन इन्द्रम् मे हवामहे।

यजुर्वेदेषु वज्रिणम्॥ श्रृग्वेद 1/ 7/ 5 अर्थात्, इन्द्र हमारे सहायक हैं जो शत्रुओं के लिए ब्रज धारण करते हैं, अतः हम धन और प्रभूत धन के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं।

एक अन्य सूक्त में द्रष्टव्य है—

इन्द्र त्होतास आ वयं वज्र धना ददी मही।

जवेम संयुधि स्पृघः ऋग्वेद 1/ 8/ 3/

भावार्थः हे इन्द्र! तुमसे रक्षित होकर हम कठिन अस्त्र धारण कर द्वेष रखने वाले शत्रुओं को पराजित करेंगे।”

दूसरे प्रमुख देवता अग्नि थे जिनकी प्रशंसा में 200 सूक्तों की रचना की गई। यह माना गया कि अग्नि, देवता और

मनुष्य के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। अग्नि को पृथ्वी पर यज्ञ की वेदी में भृगुओं और अंगरिशों ने स्थापित किया था। अग्नि को ऋग्वेद में अतिथि के नाम से संबोधित किया गया है। ऋग्वेद 1/ 5/ 6/, 1/ 113/ 14/, 2/ 26/ 3 आदि।

सोम: ऋग्वेद के 9वें मंडल के 114 सूक्तों में इनकी स्तुति और प्रशंसा की गई है। ये चन्द्रमा और वनस्पति के देवता थे।

वरुण: ऋग्वेद के 7वें मंडल के 30 सूक्तों में वरुण की प्रशंसा की गई है। इन्हें 'ऋतस्य गोपा' कहा गया है यानी ये नैतिक व्यवस्था के संस्थापक थे। ये पृथ्वी पर स्थित जल के देवता थे और लोगों को 'दण्ड' देते थे।

द्यौ और पृथ्वी को ऋग्वेद के 1/ 143 /2 में जगत्माता-पिता की संज्ञा दी गई है।

पर्जन्य: वर्षा के देवता।

यम: परलोक के देवता।

ऋग्वेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूर्य की पूजा 5 अंशों में की जाती थी:-

1. सूर्य के वास्तविक रूप में
2. सवितृ:-इनकी प्रशंसा में गायत्री मंत्र है। (ऋग्वेद 3/ 62 /10)
3. पूषण:-यह सूर्य की संबद्धन शक्ति का प्रतीक है।
4. मित्र:-यह भी सूर्य का अंश था।
5. विष्णु:-विष्णु को भी सूर्य का एक अंश माना जा सकता है क्योंकि उसके बारे में यह कहा गया है कि वह तीन छलांग भरता है। इस तेज गति के कारण

उसे सूर्य संबद्ध माना जा सकता है।

मरुत:-ये आंधी-तूफान के देवता थे।

अश्विन:-इनका एक अन्य नाम नासत्य था। ये चिकित्सा के देवता थे।

रुद्र:-इनका स्वरूप उग्र था। ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनकी उत्पत्ति सभी देवताओं के उग्र अंशों से हुई थी।

लेकिन कालांतर में ऋग्वैदिक ऋषियों ने देवताओं की बहुलता को सीमित करने का निश्चय किया और इस क्रम में उन्होंने कुछ देवताओं को एक साथ जोड़ दिया।

जैसे:-पृथ्वी और आकाश को मिलाकर-द्यावापृथ्वी कहा जाने लगा। इसी क्रम में उन्होंने मित्र और वरुण, उषा-रात्रि तथा मरुत, अश्विन और आदित्य को एक साथ संयुक्त किया। इस प्रकार देवताओं की संख्या में कमी आ गई।

धीरे-धीरे ऋग्वैदिक ऋषियों ने परम तत्व के बारे में भी चिन्तन करना शुरू किया और चिंतन के क्रम में उन्होंने यह जान लिया कि परम तत्व एक ही है जिसे विद्वान और ज्ञानी यम्, अग्नि, मातरिशवा जैसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

इसी परम तत्व को हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, प्रजापति आदि नामों से व्यक्त किया गया है। इसी चिन्तन ने अंततः एकेश्वरवाद को जन्म दिया। ऋग्वेद:- 1/164/46 ऋग्वेद में परमतत्व के संबंध में दो प्रकार के विचार आते हैं:-

1. सर्वेश्वरवाद (Pantheism):

इसका उल्लेख ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में जिसमें वर्णित है कि:-सृष्टि के आरंभ में एक ही परम तत्व था और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

2. एकत्ववाद (Monism):

इसका उल्लेख ऋग्वेद के 10वें मंडल के पुरुष सूक्त में हुआ है, जिसमें कहा गया है कि सृष्टि का मूल तत्व विराट पुरुष है।

ऋग्वेद में अधिसंख्य देवता पुरुष हैं पर इसमें उषा, अदिति, सूर्य, आप और आख्याणी जैसी देवियों का भी उल्लेख मिलता है। पर इन देवियों में सबसे ज्यादा प्रशंसा उषा देवी की गई है जैसा कि ऋग्वेद 1/ 48 /1 में वर्णित है:-

सहवामन न उषो व्युच्छा दुहितार्दिवः।

सह युनेन वृहता विभापवरि राया देवी दास्वती॥

भावार्थ:-हे देवकन्ये उषा! धन सहित हमारे लिए प्रभात करो। विभावरी उषा काल देवता प्रभूत अन्न देकर प्रभात करो। देवी! दानशीला होकर पशु रूप धन के साथ प्रभात करो।

ऋग्वैदिक काल में देवताओं की उपासना के दो तरीके थे:-

1. स्तुति पाठ
2. यज्ञ में बलि-इसके अंतर्गत यज्ञ में आहुति के रूप में दूध, अन्न, घी, जौ और शाक दिये जाते थे।

इस अवधि में देवताओं की जो उपासना की जाती थी उसका मुख्य उद्देश्य भौतिक कल्याण था न कि परमार्थिक सुख। देवताओं की उपासना

इसलिए की जाती थी ताकि युद्ध में विजय प्राप्त हो सके या अच्छी खेती हो सके या संतान की प्राप्ति हो सके या पशुओं में वृद्धि हो सके।

ऋग्वैदिक धर्म में श्रुत यानी नैतिक आदर्शों पर भी विशेष बल दिया जाता था। उन्होंने सभी देवताओं का संबंध 'श्रुत' (विश्व की नैतिक और भौतिक व्यवस्था का संस्थापक) से ही माना था। ऋग्वेद के 7/ 66 /13 सूक्त में कहा गया है कि 'मित्र-वरुण अनृत को जीत कर श्रुत का पालन करते हैं।' इसी प्रकार ऋग्वेद में ही कहा गया है कि 'वरुण स्वभावतः अनृत से घृणा करते हैं और श्रुत की वृद्धि करते हैं' (ऋग्वेद 7/ 66 /10)। इस प्रकार श्रुत का अर्थ विश्वव्यापी भौतिक और नैतिक आदर्श से है। डा. राधाकृष्णन ने तो श्रुत को सदाचार के मार्ग तथा बुराइयों से रहित यथार्थ पथ के रूप में निरूपित किया है। चरित्र की शुद्धता पर भी ऋग्वैदिक काल में विशेष बल दिया जाता था। ऋग्वेद में उल्लिखित मंत्र 5/ 44 /3 तथा 5/ 63 /5 के आधार पर यह कहा जा सकता है कि:-'मनुष्यों के चरित्र निरीक्षण के लिये देवताओं ने निरीक्षक नियुक्त किया है।' ऋग्वेद के मंत्र 1/ 147/ 5 तथा 10/ 9 /5 के आधार पर यह कहा जा सकता है कि झूठ को अत्यधिक घृणित समझा जाता था।''

लेकिन ऋग्वैदिक आर्यों के परलोक संबंधी विचार ज्यादा स्पष्ट नहीं हैं। वे पुनर्जन्म, स्वर्ग और नरक में विश्वास करते थे। उन्होंने स्वर्ग कि कल्पना करते हुए कहा कि वहां दिन, रात और जल आनन्दायक होते हैं तथा वहां मनुष्य

बलिष्ठ और सुंदर शरीर को प्राप्त करता है जबकि नरक कि कल्पना इसलिए कि ताकि अच्छे कार्यों को कर सके और अपना नैतिक चरित्र उच्च बनाये। उनके विचार पूर्णतः आशावादी थे तथा उसमें कहीं भी निराशा नहीं थी।

लेकिन उत्तर वैदिक काल जिसमें अन्य तीन वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथ एवं उपनिषदों की रचना की गई तो धर्म के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। इन परिवर्तनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:-

1. विभिन्न प्रकार यज्ञों और आडंबरों का प्रचलन।
2. ज्ञानमार्गी विचारधारा का उदय।
3. देवताओं की प्रमुखता में परिवर्तन।

उत्तर वैदिक काल में आर्यों का धार्मिक जीवन आडंबरपूर्ण रुढ़िवादी और कर्मकाण्डीय हो गया है। धार्मिक अवसरों पर पुरोहितों का स्थान प्रमुख हो गया। ऐसा सिद्धांत स्थापित हुआ कि 'यदि यज्ञ विधिपूर्वक संपन्न होता है तो देवता फल देने के लिए बाध्य होगा।' ऐसी धारणा स्थापित होने से दक्षता प्राप्त पुरोहित वर्ग का उदय हुआ। जहां ऋग्वैदिक काल में केवल सात पुरोहित भाग लेते थे वहीं उत्तर वैदिक काल में इनकी संख्या बढ़कर 17 हो गई।

1. होतृ:-प्रार्थना कराने वाले पुरोहित थे और इनके तीन सहायक भी होते थे।
2. उद्गाता और उनके तीन सहायक।
3. अध्ययवर्युः और उनके तीन सहायक।
4. ब्रह्मा और उनके तीन सहायक। ये पुरोहित इस बात की जांच करते थे कि यज्ञ में मंत्रों का

उच्चारण ठीक ढंग से हो रहा है कि नहीं।

उपरोक्त 16 पुरोहितों के अलावा ऋत्विज का उल्लेख मिलता है जो मुख्य पुरोहित था और यह सभी यज्ञों का पर्यवेक्षण करता था। पुनः पुरोहितों ने अपनी महत्ता बढ़ाने के उद्देश्य से कई नये यज्ञों का सूत्रपात भी किया। जैसे:-अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ, वाजपेय यज्ञ आदि। लेकिन जे. सी. हेस्टरमैन ने लिखा है कि 'राजसूय, वाजपेय या अश्वमेघ यज्ञों का मुख्य उद्देश्य कृषि उत्पादन को बढ़ाना था। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ में भी संपूर्ण वर्ष के दौरान चलने वाले अनुष्ठानों का अंत ऐसे यज्ञ से होता था जिसकी अध्यक्षता "इन्द्रशुनासीर" अर्थात् फल युक्त इन्द्र करता था जिसका उद्देश्य पस्त प्रजनन शक्ति को पुनः जाग्रत करना होता था।'' वृहदारण्यक उपनिषद और वाजसनेयी संहिता में इस तथ्य को देखा जा सकता है।

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि बहुत-सी अनार्य जातियों को भी यज्ञों और कर्मकाण्डों के माध्यम से वैदिक समाज में शामिल किया गया था। अथर्ववेद और पंचविश ब्राह्मण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मगध के ब्राह्मण मुगधिया को वैदिक समाज में प्रवेश देने के लिये विशाल कर्मकाण्ड का आयोजन किया गया था। अतः यह कहना भी ठीक हो सकता है कि कर्मकाण्डों ने वृहत्तर समुदाय के संगठन में सहयोग दिया।

एक ओर जहां यज्ञ बलि और कर्मकाण्डों की प्रधानता बढ़ती जा रही थी वहीं दूसरी ओर एक ऐसी भी

विचारधारा का उदय हुआ जिसने इन आडंबरों को निरर्थक बताया और चिंतन तथा तप को प्रमुखता प्रदान की। ऋग्वेद के 10वें मंडल के 191वें सूक्त में तप की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि “ऋत और सत्य की उत्पत्ति तप से हुई।” इसी प्रकार की बातों को बाद के ग्रंथों में मजबूती के साथ दोहराया गया, जैसा कि अथर्ववेद के 12वें मंडल के प्रथम सूक्त (12/1/1) में कहा गया है कि:—‘तप, यज्ञ, श्रुत तथा ब्रह्म आदि के आधार पर ही विश्व स्थिर है।’ तैत्तिरीय संहिता (3/12, 3/1) मैत्रायणी संहिता में यहां तक कहा गया है कि तप के बिना तो ज्ञान कि प्राप्ति ही नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार उपनिषदों ने ज्ञान मार्ग का रास्ता दिखाया, जिसकी रचना 600 ई. पूर्व हुई। इस समय पुरोहितों कि प्रमुखतः यज्ञीय कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अनुष्ठानों के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होने लगी एवं तप, त्याग और संन्यास पर विशेष बल दिया जाने लगा। कठोपनिषद् में तो यज्ञ की तुलना ‘टूटी हुई नौका’ से की गई। उपनिषदों में तो एक मात्र “ब्रह्म” कि सत्ता को ही स्वीकार किया गया और उसे निराकार अद्वैत और निरपेक्ष बताया गया जो जगत् परे भी है और जगत् में भी विद्यमान है। उपनिषदों ने इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया कि आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है जो अज्ञानता की समाप्ति से ही प्राप्त होती है। लेकिन डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि उपनिषदों पर मुख्य रूप से अवैदिक विचारधाराओं विशेषकर बौद्ध धर्म से संबंधित विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था। वस्तुतः उपनिषदों ने यह स्पष्ट करने का प्रयास

किया ‘कि यज्ञ ब्राह्मणों की आजीविका का साधन मात्र है और इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वैदिक और अवैदिक विचारधाराओं और सिद्धांतों के मिलने से लोग निवृत्तिमार्गी होने लगे तथा वे मोक्ष प्राप्ति के लिए कायाक्लेश और संन्यास को महत्त्वपूर्ण मानने लगे। संन्यास कि अवधारणा निश्चय ही आर्येतर संस्कृति के प्रभाव का परिणाम थी।

धर्म के क्षेत्र में तीसरा और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि अग्नि, इन्द्र, सोम आदि देवताओं के स्थान पर विष्णु, प्रजापति और शिव की महत्ता स्थापित हो गई। विष्णु विश्व के पालनकर्ता, प्रजापति-यज्ञों के स्वामी और रूद्र-शंकर के नाम से जाने गये।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म एक क्रमबद्ध विकास का परिणाम था, जहां ऋग्वैदिक धर्म का उद्देश्य मुख्यतः लौकिक सुखों को प्राप्त करना था। प्रारंभ में उनके धार्मिक क्रियाकलाप सरल थे लेकिन धीरे-धीरे उनके धार्मिक क्रियाकलापों में जटिलता आने लगी और इस क्रम में कई नये-नये यज्ञों और कर्मकाण्डों का प्रचलन होने लगा। लेकिन धीरे-धीरे इनके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई और इस क्रम में एक ज्ञानमार्गी दृष्टिकोण उभरकर सामने आया जिसमें कहा गया कि ज्ञान, चिंतन, श्रुत आदि बातों के माध्यम से ही मनुष्य को मुक्ति या मोक्ष मिल सकता है। वस्तुतः उन्होंने अद्वैतवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया कि ईश्वर निराकार निरपेक्ष है और इसे आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को आधार बनाकर छठी सदी ई. पूर्व विभिन्न प्रकार के धार्मिक आंदोलनों की भारतवर्ष

में शुरुआत हुई जिसमें जहां एक ओर बहुदेववाद और कर्मकाण्ड की आलोचना की जाने लगी वहीं दूसरी ओर एकेश्वरवाद और निराकार ब्रह्म की कल्पना की जाने लगी। बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध ने जिसके दर्शन को प्रस्तुत किया था उसकी बहुत-सी बातों को उपनिषदों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए बुद्ध के पंचशील सिद्धांत को छन्दोग्य उपनिषद् में देखा जा सकता है। कालांतर में उपनिषदों में प्रस्तुत विचारों के आधार पर ही शंकराचार्य ने अद्वैतवाद, रामानुजम ने विशिष्टाद्वैतवाद और माधावाचार्य ने द्वैतवाद के सिद्धांतों को प्रस्तुत किया। इस्लाम के अंतर्गत सूफी संतों ने जिस रहस्यवादी दृष्टिकोणों को रखा था, उस पर भी उपनिषदों के प्रभाव को देखा जा सकता है, जिसकी रचना वैदिक धर्म के अंतर्गत की गई थी।

संदर्भ

- History of South India: Ancient, Medieval & Modern by P N Chopra, T. K. Ravindran, N. Subrahmanian.
- Vishnu's Crowded Temple by Maria Misra.
- Region, Nation, Heartland-Uttar Pradesh in India's Body Politic by Gyanesh Kudaisya.
- Cultural History of Modern India by Dilip M. Menon.
- The Blindness of Insight by Dilip M Menon.

इतिहास विभाग, जगदम कॉलेज,

छपरा

कर्णाटकालीन मिथिला समाज की धार्मिक विशेषता और उसका समन्वयवादी स्वरूप

अलका कुमारी

प्रस्तुत आलेख कर्णाटकालीन मिथिला समाज की धार्मिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। मिथिला में कर्णाट राजवंश की स्थापना नान्यदेव ने की। वह तथा उसके योग्य उत्तराधिकारियों ने तत्कालीन मिथिला में राजनीतिक एकता की स्थापना की थी, जिसके कारण साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि बातों के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई। कर्णाटकालीन धर्म में यद्यपि हिन्दू धर्म का प्रभुत्व था, लेकिन इस समय अन्य धर्मों विशेषकर बौद्ध धर्म और जैन धर्म का भी विकास हुआ। यह बात इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि कर्णाटकालीन धर्म सहिष्णुता और समन्वयवादी सोच को प्रदर्शित करता है तो गलत नहीं होगा। इन्हीं विशेषताओं के कारण कर्णाटकाल को मिथिला का स्वर्णकाल कहा जाता है।

कर्णाटकालीन समाज बहुदेववाद में विश्वास करता था जिसके अंतर्गत शिव, विष्णु, गणेश, दुर्गा सहित लोक साहित्य पर आधारित देवताओं जिनमें राजा सहलेश और लोरिक उल्लेखनीय हैं, की पूजा की जाती थी।

शिव, कर्णाटकालीन समाज के प्रमुख देवता थे। इस बात की पुष्टि साहित्यिक स्रोतों और मिथिला में विद्यमान शिव मंदिरों से होती है। 'कृत्यरत्नाकर' नामक ग्रंथ जिसकी रचना चण्डेश्वर ने की थी, से इस बात की पुष्टि हो जाती है।¹ इस ग्रंथ से यह ज्ञात होता है कि इस युग में शंकर-पार्वती (गौरीशंकर) की उपासना विशेष रूप से प्रचलित थी एवं भस्म द्वारा ललाट पर तीन रेखाओं से निर्मित त्रिपुंड भगवान

शिव की उपासना करने वालों को ही प्रदर्शित करता था। इसके अलावा मिथिला में जो विविध शिव मंदिर विद्यमान हैं उनसे भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। इन मंदिरों में बाबा गरीबनाथ मंदिर (मुजफ्फरपुर), कुशवेश्वर स्थान शिव मंदिर (दरभंगा), सोमेश्वर स्थान मंदिर (चम्पारण-गोविन्दगंज), वर्द्धमानेश्वर मंदिर (ढेकुली) आदि उल्लेखनीय हैं। पुनः मिथिला के कवियों द्वारा लिखित महेशवाणी और नचारी से उपरोक्त बातों की पुष्टि हो जाती है।² ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में शिव और विष्णु के एकात्मक स्वरूप की भी पूजा की जाती थी। चण्डेश्वर द्वारा रचित ग्रंथ 'शैवमनसोल्लास' से इस बात की पुष्टि हो जाती है।³

समाज में विष्णु पूजा का प्रचलन था।⁴ इस युग के प्राप्त अभिलेख और उत्खनन से प्राप्त मूर्तियों से विष्णु पूजा की व्यापकता भी सिद्ध हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कर्णाट राजाओं ने विष्णु की उपासना को विशेष महत्व और संरक्षण प्रदान किया था। प्रथम शासक नान्यदेव के मंत्री श्रीधर द्वारा निर्मित विष्णु मंदिर इस बात का प्रमाण है।⁵ अभिलेखीय साक्ष्यों में श्रीधर अभिलेख (अन्धराठाढी) और नौलागढ़ अभिलेख महत्वपूर्ण हैं। इस पूजा के संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि विष्णु के विभिन्न अवतारों की पूजा का प्रचलन था। विष्णु के बारह अवतार की मूर्ति जो बहेड़ा से प्राप्त हुई है, इसी बात की ओर संकेत करती है। मदन उत्सन नामक त्योहार तो विष्णु की उपासना से ही संबंधित था जो पूर्णिमा एवं चैत्र चतुर्दशी को मनाया जाता था। विष्णु और शिव की पूजा साथ-साथ होती थी।⁶ यह बात दोनों संप्रदायों (मतों) के बीच समन्वय की भावना को ही प्रदर्शित करती है।

इस समय मातृपूजा का प्रचलन था जो बाद में शक्ति पूजा का आधार स्तम्भ बना। इस प्रकार की पूजा (मातृ की पूजा) विभिन्न षोडस संस्कारों जैसे विवाह, चूड़ाकरण आदि के अवसर पर की जाती थी। सिन्धु सभ्यता से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मातृपूजा से ही शक्ति पूजा का विकास हुआ था। इस युग में शक्ति की उपासना दुर्गा, सरस्वती, काली सहित विभिन्न रूपों में की जाती थी। शक्ति की उपासना में बलि दिया जाना अनिवार्य माना जाता था। इस युग में शक्ति पूजा के अनेक उपासक भी हुए जिनमें वर्द्धमान उपाध्याय,

देवादित्य और मदन उपाध्याय उल्लेखनीय हैं।⁷

सूर्यपूजा भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थी। कर्णाट शासक नरसिंह देव द्वारा निर्मित भावादित्य का सूर्यमंदिर (कन्दाहा) इसका उदाहरण है।

इसके अलावा गणेश, दुर्गा, गंगा आदि देवताओं की भी उपासना की जाती थी। कर्णाट शासकों द्वारा निर्मित मंदिरों की दीवारों पर देवी-देवताओं के चित्र अंकित किये गए हैं। इन चित्रांकनों से उपरोक्त बातों की पुष्टि होती है। इन मंदिरों में कंकाली मंदिर (सिमराओत्रढ़), मलकेश्वरनाथ मंदिर, त्रिवेणी राम मंदिर (अहिल्यास्थान) आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग में निर्मित इन मंदिरों की शैली को इतिहासकार स्पूनर ने तिरहुत शैली की संज्ञा दी।⁸

कर्णाट युग में चित्रकला की जिस शैली का विकास हुआ उसमें उनके धार्मिक दृष्टिकोणों का उल्लेख मिलता है। विभिन्न धार्मिक अवसरों पर चित्र बनाये जाते थे। इन चित्रों में दुर्गा, राधा-कृष्ण, सीता-राम, शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी के चित्र उल्लेखनीय हैं।⁹ ये सभी चित्र महिलाओं द्वारा मुख्यतः घर की दीवारों पर बनाये जाते थे। यही चित्रकला वर्तमान समय में मधुबनी चित्रकला (मिथिला चित्रकला) का आधार बनी है।¹⁰

चित्रकला का एक अन्य रूप अरिपन के चित्रों में देखा जा सकता है। इन चित्रों से भी उनके विभिन्न धार्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाते हैं। चित्रों को ऊंगलियों से बनाया जाता था तथा चावल पीस कर उनमें रंग भरे जाते थे। अरिपन

चित्रों को 5 भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. मनुष्य और पक्षियों को प्रदर्शित करने वाले चित्र
2. फूल, पेड़ और फल के चित्र
3. तंत्रवादी प्रतीकों पर आधारित चित्र
4. देवी-देवताओं के चित्र
5. स्वास्तिक आकार के चित्र

अरिपन चित्रों से शक्ति पूजा और तंत्रवादी पूजा की भी पुष्टि हो जाती है।

इस युग में लोरिक पूजा और सहलेस पूजा का प्रचलन था जो संभवतः लोक देवता थे। सुख-समृद्धि के लिये इनकी उपासना की जाती थी।

कर्णाट युग में जिन नृत्यों का प्रचलन था, उसका आधार भी धर्म ही था। इनमें कीर्तनिया नृत्य तथा कीर्तनिया नाटक प्रमुख हैं। कीर्तनिया लोकनृत्य विष्णुपूजा से संबंधित है और इसमें समाज के सभी लोग शामिल होते थे। ज्योतिरीश्वर के ग्रंथ 'वर्णरत्नाकर' में इसका उल्लेख मिलता है।

बौद्ध धर्म का भी इस युग में विकास हुआ, विशेषकर बौद्ध धर्म की सहजयान शाखा। यह शाखा तंत्रवाद पर आधारित थी। कालांतर में बौद्ध तंत्रवाद पर शाक्त धर्म से संबद्ध तंत्रवाद का काफी व्यापक प्रभाव पड़ा। तंत्रवाद की इस विशेषता को इस युग की चित्रकला पर भी देखा जा सकता है। ज्योतिरीश्वर ने अपने ग्रंथ वर्णरत्नाकर में अनेक हिन्दू और बौद्ध तांत्रिकों का उल्लेख किया है।¹⁰

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कर्णाट युग में सामाजिक जीवन का प्रत्येक क्षेत्र धर्म से प्रभावित था

और सभी धर्मों का समान रूप से विकास हुआ। संभवतः इसका कारण यह था कि कर्णाटवंशी राजाओं ने सभी धर्मों या संप्रदायों को संरक्षण प्रदान किया। शासकों के इस वर्गों में समरसता की भावना का विकास हुआ। अतः यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि कर्णाटवंशीय शासनकाल मिथिला के सांस्कृतिक जीवन का एक स्वर्णिम काल था जिसमें धर्म, कला जैसे क्षेत्रों में समरसता और धार्मिक सहिष्णुता की भावना को स्थापित किया।¹¹

संदर्भ ग्रंथों की सूची

1. चण्डेश्वर—कृत्तरत्नाकर
2. JOURNAL OF BIHAR RESEARCH SOCIETY—PART-III&IV —P- 4-8
3. चण्डेश्वर—शैवमनसोल्लास
4. JOURNAL OF BIHAR RESEARCH SOCIETY—PART-III&IV P- 123-125
5. SELECT INSCRIPTIONS OF BIHAR RACTS BY RADHA KRISHNA CHOUDHARY
6. चण्डेश्वर—शैवमनसोल्लास
7. JOURNAL OF BIHAR RESEARCH SOCIETY—IV P- 4 -7
8. राजनीति — रत्नाकर P- 46, 47, 51, 98
9. MITHILA UNDER THE KRANATAS, PATNA C.N.P.SINHA P- 165
10. वर्णरत्नाकर—ज्योतिरीश्वर P-28
11. THE INSCRIPTIONS OF BIHAR — R A D H A KRISHNA CHOUDHARY P-125-127

सम्पर्क: गांधी चौक, हाजीपुर

दुष्यन्त कुमार के कथा साहित्य का सर्वेक्षण

कंचन कुमारी

दुष्यन्त कुमार की प्रसिद्धि कवि के रूप में रही है। उन्होंने काव्य के कई रूपों को अपना रचनात्मक समय-स्पर्श देकर महत्वपूर्ण बनाया है। गीत, गजल, मुक्त छंद, गीतिनाट्य सबमें उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके उपन्यासों के पहले उनका काव्य-नाटक 'एक कंठ विषपायी' प्रकाशित हो चुका था। इसमें उन्होंने अपनी कथा-शिल्प की प्रौढ़ता का प्रमाण दिया था।

दुष्यन्त कुमार ने 'छोटे-छोटे सवाल' और 'आंगन में एक वृक्ष' नामक दो सम्पूर्ण उपन्यास लिखे हैं। ये दोनों उपन्यास हिन्दी की दो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाशन संस्थाओं से प्रकाशित हैं। राजकमल और राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इन उपन्यासों के अनेक संस्करण हो चुके हैं। इसी से इन ग्रन्थों की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। 'छोटे-छोटे सवाल' 1964 में लिखा गया और उसी वर्ष प्रकाशित हुआ जबकि 'आंगन में एक वृक्ष' 1967-69 के मध्य लिखा गया और 1970 में प्रकाशित हुआ। 'छोटे-छोटे सवाल' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जो निम्नलिखित उपशीर्षकों में समायोजित है:- 'इंटरव्यू से पहले', 'सलेक्शन कमेटी', 'गूंगे की दुकान', 'कोठरी', 'कृषि योजना', 'लौटते हुए', 'प्रिंसिपल की कुर्सी', 'हॉस्टल', 'विमर्श और परामर्श', 'समझौता?', 'बजती हुई साँकलें', 'जाले', 'संरक्षक', 'टूटी हुई छत', 'तूफान', 'मोड़', 'अधिकार', 'धीरज का बांध', 'तालाब का पक्षी', 'दो सेक्रेटरी', 'मुख्य द्वार', 'हड़ताल', 'इज्जत का सवाल', 'बुझी हुई लालटेन', 'निर्णय', 'प्रश्नाहत जिंदगी'।

'आंगन में एक वृक्ष' अपेक्षाकृत छोटा उपन्यास है। पहले उपन्यास में नियुक्ति-प्रक्रिया को कथात्मक रूप दिया गया है तो दूसरे में चन्दन के माध्यम से जीवन की सार्थकता पर विचार किया गया है। उपन्यास का अंत एक पत्र के साथ होता है। पत्र इस प्रकार है:-

प्यारी गुलाबी भाभी,

तुम्हारा खत कल ही मुझे मिला। तुम्हारे रूपए पहले ही मिल गए थे। पांच नोट थे न! पांच ही लौटा रहा हूँ। अगर न रखे तो देखना, मेरे मरे का मुंह भी न देख पाओगी।

मेरी बीमारी से तुम दुखी हो, यह बड़ी अच्छी बात है। पर कहीं चन्दन पर भी विष व्याप्त सुना है। तुम इस वहम को तबीयत से निकाल दो कि शराब मुझे पी रही है। मैं मरूंगा तो शराब में नहीं, मुहब्बत के समुद्र में डूबकर मरूंगा। इति।

तुम्हारा चन्दन।

इस पत्र की प्रतिक्रिया के साथ उपन्यास समाप्त होता है। 'उस पत्र को पढ़ने के बाद मैं सहसा अपनी उम्र से बहुत बड़ा हो गया था। मुझे किसी तरह की दुविधा और किसी मार्ग या मार्गदर्शक की आवश्यकता अनुभव नहीं हो रही थी। मैंने अपना पुराना निश्चय खुद बदल दिया था।

एकदम दृढ़ और सधे हुए कदमों से भाभी के पास जाकर मैंने भाई साहब का वह खत और सौ-सौ रूपए के पांचों नोट उनके सामने फेंक दिए थे। मुझे ऐसा लगा था मानो मैं एक ऋण से उन्मत्त हो गया हूँ। आज उस भावुक अभद्रता पर थोड़ी ग्लानि भी होती है, क्योंकि भाभी ने मेरी ओर इस प्रकार देखा था जैसे मैं नहीं, कोई और मेरा लिबास पहनकर उनके सामने आ खड़ा हुआ हो। फिर भी, रूपए उन्होंने सहजकर रख लिए थे।²

'छोटे-छोटे सवाल' में कॉलेज परिसर में पनप रहे भ्रष्टाचार, अनियमितता, अनुशासनहीनता आदि चित्रण किया गया है। शिक्षण संस्थाओं के नाम पर घृणित व्यवसाय चलानेवाले सेठों और उन्हीं जैसे अन्य व्यक्तियों की कमीनी हरकतों का अंकन ही उपन्यासकार का लक्ष्य है। इस चक्रव्यूह में चरित्रवान और ईमानदार शिक्षक किस प्रकार दूध की मक्खी की तरह निकाल-बाहर किये जाते हैं, इसका यथार्थ चित्रण उपन्यास में किया गया है। 'आंगन में एक वृक्ष' में एक स्त्री के अपने सौतेले पुत्र के प्रति निश्छल प्रेम का चित्रण किया गया है। इसके साथ ही उपन्यास में जमींदार परिवार की ठसक, मुकदमेबाजी, घरजमाई की समस्या, निर्धन परिवार से आयी बहू पर होने वाले अत्याचार आदि का अंकन हुआ है।

‘एक अधूरी कवि-कथा’ भी औपन्यासिक संरचना की ही असमाप्त कृति है। महावीर जैसे कई नाम इस कृति को आत्मकथा के रूप में परिणत करते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि इस उपन्यास के संदर्भ दुष्यन्त के जीवन के हैं। इसका प्रारंभ इस प्रकार हुआ है-‘दिल में आज एक दर्द-सा उठ रहा है-पहले भी उठा करता था। ऐसा दर्द जो मुझे काफी प्रिय है। सोचता हूँ कि यह दर्द कभी खत्म न हो। पर दर्द तो दर्द है, आखिर कभी खत्म होगा ही। मैंने हमेशा कलम लेकर इस दर्द को अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है, पर हमेशा असफल रहा हूँ। आज सोचता हूँ कि अच्छा ही किया जो लिखने से हाथ खींच लिया। ऐसे लिखने से क्या लाभ, जो आत्माभिव्यक्ति तक न कर पाए?’

महावीर से जब-जब इस दर्द का जिक्र किया तो उसने गंभीरतापूर्वक बताया, ‘प्रतिभा की अकुलाहट है भाई, तुम देखना कि यही दर्द कभी सृजन बनकर फूटेगा।’ उस वक्त बड़ा अच्छा लगता था उसका यह कहना। पर आत्मप्रवचन थी। आज जब सब कुछ इतना स्पष्ट होकर सामने आ रहा है, तो यह खामख्याली और मिथ्या विश्वास मुझे ज्यादा छल नहीं सकता। क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि मैं बड़ा आदमी बन सकता हूँ- पैसेवाला-मगर बड़ा साहित्यकार नहीं।³

इसमें एक नवोदित रचनाकार का उत्साह भी है। ‘पुकार’ नामक उस पत्रिका का उल्लेख भी है जिसका संपादन दुष्यन्त ने रामकुमार राजपूत और महावीर सिंह के साथ मिलकर की थी। कथानायक ने अपनी रचना को प्रकाशन का संदर्भ

देते हुए कहा है-‘फिर तो कंचन और कामिनी के नशे से भी ज्यादा तेज बनकर कविता का नशा मुझ पर सवार हुआ। दिन में दो-दो तीन-तीन गीत लिखने लगा। सोते-जागते, उठते-बैठते हर वक्त कविता ही सूझती थी। कभी-कभी घंटों बैठकर यों ही आसमान की ओर ताकता रहता-क्योंकि सुना था कि कवि बड़े खोए-खोए से रहते हैं। मैं चाहता था कि मैं भी भावुक हो जाऊँ। कॉलेज में इतिहास के घंटे में नागरिकशास्त्र की किताबें खोलकर सहपाठियों की नजरों में भुलक्कड़ दिखना मुझे अच्छा लगता और जब वे कहते-‘कवि तो आधे पागल होते हैं भाई। और ये भी कवि हैं।’ तो मेरा सीना एक गज का हो जाता था।

उन्हीं दिनों मेरा एक गीत ‘पुकार’ नामक मासिक पत्रिका में स्वीकृत हुआ। संपादक ने स्वीकृति की सूचना देते हुए लिखा था-‘गीत की व्याख्या भेजने का कष्ट आगे से न उठाएं। यहां भी कुछ पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं।’ मुझे कितना हर्ष हुआ, मैं कह नहीं सकता। पत्र को जेब में डालकर कॉलेज ले गया। बीसियों साथियों को दिखाया और कक्षा में रघुवंश और ऐसे ही दो-चार साहित्य में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों के पास बैठकर मैंने बातों ही बातों में वह खत इस प्रकार उन्हें दिखा दिया। गोया मेरे लिए यह एक बहुत साधारण-सी बात है। व्याख्या वाली बात पर रघुवंश थोड़ा हंसा। बोला-‘तुम पर व्यंग्य किया है हजरत।’⁴

इस उपन्यास में काव्य-गोष्ठी का जीवन्त वर्णन भी है-‘संयोजिका ने घोषित किया, अब तुम्हारी सरोज अज्ञात कवि

के रूप में आपके सामने आएंगी। कुमारी सरोज।’

मैंने पुस्तक बंद कर मंच की ओर देखा। सरोज के रूप में वही लड़की वहां बैठी थी। हल्की-सी दृष्टि मेरी ओर डालकर उसने खंखारकर गला साफ किया और कविता प्रारंभ की-

चूमने को आ गया आकाश धरती का
किनारा

तुम नहीं आए तुम्हें हर बोल में मैंने
पुकारा

प्रथम पंक्तियां गाने के साथ ही उसकी भावपूर्ण आंखें बंद हो गईं और वह पूरी तन्मयता से गीत में खो गईं।

गीत की पहली पंक्तियां सुनकर मैंने और महावीर ने लगभग एक ही समय में एक-दूसरे की ओर देखा। दोनों के अधर थोड़ा फड़के और फिर जैसे सब कुछ कह-सुनकर चुप हो गए। वस्तुतः वह गीत मेरा ही था, जो उसी मास की ‘परिभाषा’ नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

हॉल में पूर्ण निस्तब्धता थी। लोग एकाग्र मन होकर वह गीत सुन रहे थे। सरोज की मधुर स्वर-लहरी वातावरण में गूँज रही थी। जब उसने अंतिम पद गाया तो जाने कैसा दर्द अपने स्वर में भर लिया जैसे उसी की व्यथा उन पंक्तियों में मुखर हो उठी हो:-

प्यार के संसार पर गहरा धुंधलका छा
रहा है

धूप के छल से उम्मीदों का कमल
मुरझा रहा है

प्यास मेरी सोख क्यों पाता नहीं सागर
तुम्हारा

तुम नहीं बोले तुम्हें हर बोल में मैंने
पुकारा।⁵

दुष्यन्त कुमार रचनावली के तीसरे खंड में एक अप्रकाशित उपन्यास का एक अंश प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास का कोई शीर्षक नहीं है और यह अंश महज पांच पृष्ठों का है। उपन्यास का प्रारंभ ही नाटकीयता के साथ होता है—भट्टाचार्य के बहुत आग्रह करने पर मैं नाटक का एक रिहर्सल देखने चला गया।

एक बड़े-से-हॉल कमरे में नाटक की तैयारियां हो रही थीं। एक बड़े पावर का बल्ब कमरे के बीचोबीच लटक रहा था और उसके नीचे घूमते-फिरते नाटक के पात्र पुतलों की तरह लगते थे। कमरे में चटाइयाँ बिछी थीं और जगह-जगह मेकअप का सामान, साड़ियाँ और कपड़े तथा नकली दाढ़ी-मूँछें बेतरतीब-सी पड़ी थीं।

अन्नी इस सबको देखकर बहुत खुश हुई।

भट्टाचार्य ने मुझे आया देखकर बड़े तपाक से मेरा स्वागत किया और कोने में पड़ी कुर्सी से साड़ियाँ हटाकर बैठने का विनम्र आग्रह करते हुए दूसरे कलाकारों से मेरा परिचय कराने लगा—आप हैं अर्पिता के भाई और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, राजीव लोचन अग्निहोत्री। इस नाटक की भाषा को बनाने में आपका बहुत बड़ा हाथ है।

‘भय्या तू!’ अर्पिता ने बड़े जोश से शीशे के सामने से गर्दन घुमाकर मेरी ओर देखा और फिर अन्नी को साथ पाकर इस तरह मेरी ओर झपटी जैसे बाज किसी चिड़िया पर झपटता है।⁶

उपन्यास अंश की समाप्ति कुछ इस प्रकार है—‘वह बिल्कुल खामोश बैठा रहा और पास की बंसबट पर चिड़ियों के झुंड चूँ-चूँ कर रहे थे। न जाने कब से जलती हुई सिगरेट का टुकड़ा अचानक ऐश-ट्रे के भीतर लुढ़का तो मैंने अचानक उसका कंधे पकड़कर उसे बुरी तरह झकझोर दिया और शायद ऊँची आवाज में बोला, ‘तू कुछ कह चाहे तो जूतों से मार! पर यों खामोश न बैठ! तेरी चुप्पी मुझे मारे डाल रही है।’

‘ठीक है’, अचानक बिल लेकर सामने आ खड़े हुए बैरे की ओर देखते हुए कमल ने मुझे भी वस्तुस्थिति का बोधा करा दिया। पेमेंट लेकर बैरा चला गया तो उसने कहा, ‘तुम अगर मेरे दोस्त न होते.....तो मैं तुम्हारी खाल खींचकर उसमें भुसा भर देता और इन बैसैली की सटियों से तब तक तुम्हें मारता रहता, जब तक भीतर का भुसा और बाहर की चमड़ी सलामत रहती।’

इसके बाद एक गहरी अर्थपूर्ण चुप्पी हमारे चेहरों की गंभीरता पर छा गई थी। पेड़ों से झरते हुए पत्ते, धूप-छाँह में खेलती हुई चिड़ियाँ और सूना नीरस आकाश, सब कुछ अपनी जगह छोड़कर अचानक हम दोनों उठ खड़े हुए। बिना कुछ बोले स्टैंड से साइकिल उठायी और धीरे-धीरे घर की ओर चल दिए।

परन्तु फर्क सिर्फ इतना था कि इस बार वह साइकिल चला रहा था और मैं पीछे कैरियर पर बैठा था।⁷

दुष्यन्त ने कहानियाँ अधिक नहीं लिखीं। उनकी प्रकाशित कहानियों की संख्या मात्र सात है। ‘आघात’ उनकी पहली कहानी है। दो पृष्ठों की इस कहानी में उन्होंने चौधारी साहब के

पुत्रमोह और मोहभंग का चित्रण किया है। उनकी दूसरी कहानी ‘कलयुग’ बोधकथा जैसी है। चार पृष्ठों की इस कहानी में पौराणिक संदर्भों की अनुकृति है। ‘मिस पीटर’ तीसरी कहानी है। 1949 में लिखी गई यह कहानी अपेक्षाकृत लम्बी कहानी है। कहानी का अंत इस प्रकार है—और फिर उसने बिल्कुल मिस पीटर जैसी आवाज में बड़ी खुली और फिर साफ अंग्रेजी बोली और फिर एक कागज पर कुछ लिखा भी, जिससे मैं उस पत्र की लिखावट भी पहचान लूँ। दोनों एक थीं।

फिर मैं एक क्षण भी वहाँ न रुका। साइकिल उठाकर फौरन लौट पड़ा। सुख स्वप्नों का जाल छिन्न-छिन्न होकर इधर-उधर जा पड़ा था। रास्ते-भर सोचता आया कि सब मित्र अपने मित्रों या जान-पहचान वालों के द्वारा बेवकूफ बनते हैं, बनते थे, बनते रहेंगे। पर शायद ऐसा कोई न बने।

कमरे पर पहुँचा तो सुना—कांता धर्मवीर से कह रहा था कि बेचारा कहीं फेल न हो जाए, इस भय से हमने यह ड्रामा समाप्त कर दिया। मैं नमित-सा, दुखिता-सा, चकित-सा जाकर बिस्तर में पड़ा रहा।⁸

‘छमिया’ उनकी एक कहानी है जिसमें छमिया के चरित्र को उभारा गया है। ‘मड़वा उर्फ माड़े’ कहानी ‘कल्पना’ के अगस्त 1957 के अंक में प्रकाशित हुई थी। छह पृष्ठों की इस कहानी में गँवई जीवन की सरलता और स्वाभिमान की चेतना देखी जा सकती है—लोग कहते हैं, जब डकैती हो रही थी, माड़े बीड़ी सुलगाए गाँव के पश्चिम की ओर खड़े एक ऊँचे-से दरख्त पर

चढ़ा हुआ अपने मधुर पर दर्द-भरे स्वर में आल्हा गा रहा था—

लुट गया सारा गाँव नवादा
पर जा खड़ी-खड़ी चिल्लाय
जुलम गुजर गए पर लो हो गई
अब कुछ रहा ठिकाना नाय
धुँआधार चल रही गोली
मच रहा भारी हाहाकार
जिन तिरियन के पग नहीं देखे
उन तिरियन के मुँह दिखाया।

दूसरे दिन सुबह होते ही लोगों ने देखा कि माड़े अपना सामान बाँध रहा है। गुलाबी ने पूछा, माड़े, क्या बात है? कहाँ को चल दिया?

माड़े ने बड़े कष्ट के साथ उत्तर दिया, 'अब ऐसे गाँव में रहने का धर्म नहीं जहाँ नामर्द बसते हों। मैंने तो सबकी पूँछ उठाकर देख लिया, मुझे सब मादा दिखाई दिए—नर कोई नहीं मिला।'⁹

'हाथी का प्रतिशोध' भी एक छोटी घटना है जिसमें एक घटना को रोमांचक प्रसंग देने का प्रयत्न किया गया है। 'वह मुसाफिर' अधूरी कहानी है जिसमें यात्रा के मनोविज्ञान को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। अपनी कहानियों में दुष्यन्त ने कोई क्रांति नहीं की है। कहानी के संबंध में उनकी अपनी अवधारणा रही है। छठे दशक में उन्होंने हिन्दी

कहानी के बदलते मिजाज को रेखांकित किया है। 'नयी कहानी' उन्हीं का दिया हुआ नाम है। नयी कहानी पर उनका लेख 'नयी कहानी : परम्परा और प्रयोग' 'कल्पना' के जनवरी 1953 अंक में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने हिन्दी कहानी के कथ्यगत और शिल्पगत परिवर्तनों की ओर संकेत किया। 'ज्ञानोदय' के अगस्त 1966 ई० के अंक में 'कथा-संचेतना का बदलता फोकस' शीर्षक आलेख में उन्होंने अपनी कथा-दृष्टि का परिचय दिया है। प्रसिद्ध आंचलिक कथाकार रेणु पर उनकी टिप्पणी है—'लगता है, अपने पहले उपन्यासों की सफलता से रेणु ने एक सूत्र बनाया है जो उपन्यास-लेखक को सरल व्यावसायिक आधार प्रदान करता है—एक अंचल लीजिए। वहाँ के पाँच-सात प्रमुख पात्र छॉट लीजिए। उनमें से एक को कंजूस, एक को बदमाश, एक को शोषक, एक को प्रेमी और एक को लठैत बनाइए। फिर एक अच्छी-सी लड़की ले आइए (अगर वह लड़की बंगाल की हो, जैसा कि इस उपन्यास में है, तो क्या कहने) और जरा सावधानी से आंचलिक भाषा का पुट देते हुए सबको उस लड़की की तरफ आकृष्ट करा दीजिए। इस बात का ख्याल रखिए कि लड़की आदर्शवादी हो। फिर दो-एक ऐसे शहरी चरित्रों को

लेकर चाशनी बनाइए जो या तो आदर्श की मशाल दिखाएँ या कोई और राजनीतिक रोल अदा करें। वार्तालाप पर विशेष ध्यान दीजिए और अंग्रेजी शब्दों को तोड़कर ग्रामीण हिन्दी में डाल लीजिए। आप पाएँगे कि एक कहानी बन गई है और उपन्यास की शक्ति लेती हुई आगे बढ़ रही है।

खुद 'जुलूस' रेणु के पिछले उपन्यासों की जूठन भर है। अंत केवल यह है कि 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' के बड़े कलेवर में जो दोष दिखाई नहीं देते थे, वे वहाँ खूब उजागर हैं।¹⁰

इस प्रकार दुष्यन्त की कथा-दृष्टि में व्यापकता थी किन्तु उनकी सृष्टि उस अनुपात में व्यापक नहीं हो सकी।

सन्दर्भ

1. दुष्यन्त कुमार रचनावली, खण्ड-3, पृष्ठ : 323
2. उपरिवत्
3. उपरिवत्, पृ० : 329
4. उपरिवत्, पृ० : 330-331
5. उपरिवत्, पृ० : 324
6. उपरिवत्, पृ० : 324
7. उपरिवत्, पृ० : 328
8. दुष्यन्त कुमार रचनावली, खण्ड-3, पृ० : 329
9. उपरिवत्, पृ० : 38-39
10. दुष्यन्त कुमार रचनावली, खण्ड-4, पृ० : 407

States of India Series

India is a federation of states and union territories. As of now, there are 28 states and 7 union territories in the country, all these states have made tremendous progress in almost every sphere since 1947, when the nation had attained freedom. People of one state have little authentic knowledge about other states. This situation, in some cases, creates problems and difficulties with no ready solution at hand. The books cover life and people under various heads—Land and the People, Education, History, Geography, Economy, Polity, Tourism, etc. This is the best example of 'knowledge in a nutshell'. (*Pushpanjali Prakashan*)

भगवत् प्रार्थना और महिमा

डॉ. के. की. कृष्ण

भगवत्प्राप्ति में प्रार्थना का बहुत बड़ा महत्त्व है। अध्यात्म-पथ पर भगवन्नाम ही आधार है। मानवता के पथ-प्रदर्शन के लिये संसार में बहुत से दीपक जले हैं, पर इनमें प्रार्थना और भगवन्नाम का दीपक अद्भुत एवं दिव्य है। इसकी मधुमय स्वर्ण-रश्मियां संपूर्ण भारतवर्ष को उद्भासित कर पाश्चात्य देशों में भी अपनी किरणें विकीर्ण कर रही हैं। आज का संसार भौतिक विज्ञान की ओर दौड़ा जा रहा है। प्रकृति के अन्तराल में जो शक्तियां अन्तर्निहित और सुषुप्त हैं, आज का मानव उन्हें जगाकर अपने अधिकार में करना चाहता है। फिर भी उसके अंतस्तल में विराट् पिपासा और विकराल ज्वाला वर्तमान है। इसी पिपासा एवं ज्वाला की शांति के लिये भगवन्नाम तथा प्रार्थना की अतीव आवश्यकता है। आज के युग में लोगों का ध्यान राजनीति, अर्थशास्त्र तथा विज्ञान के अध्ययन की ओर लगा हुआ है। लोग धर्म और नीति से उदासीन हो चले हैं। नवीन आविष्कारों की चकाचौंध में हमारी आंखें झुक जाती हैं। परंतु यह चीत्कार तब तक शांत नहीं हो सकता, जब तक मानवता भगवन्नाम और प्रार्थना के मार्ग पर चलना नहीं सीख लेती।

कभी-कभी प्रलोभनों के बीच में वासना-सर्पिणी मोहिनी रूप धारण कर हमें अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करती है। तिमिरमयी रजनी में मानवता पिच्छल-पथ पर (फिसलन युक्त रास्ते पर) जा रही है। दोनों ओर खाइयां हैं। फिर भी दूर अंतरिक्ष में भगवन्नाम मार्ग-प्रदर्शक तारा चमक रहा है। हमारे प्राचीन ऋषि और आचार्य हाथ उठाकर इस मधुमय ज्योति की ओर संकेत करते हुए कह रहे हैं—‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।’

वस्तुतः भगवन्नाम को छोड़कर उस ज्योति तक पहुंचने का दूसरा मार्ग नहीं है। विज्ञान तो केवल हमारे हाथ में एक शक्ति देता है, पर शक्ति के अभिमान में हमें भगवान को नहीं भूल जाना चाहिए। आज का मानव बाह्य प्रकृति पर विजय

प्राप्त कर गर्व से इठलाता हुआ प्रकृति के अंतराल में छिपी अनन्त शक्तियों को दास बनाना चाहता है, पर वही मानव अपनी अंतःप्रकृति पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा नहीं कर रहा है। वह अपनी इंद्रियों और वासना का दास बन गया है। अपनी अंतःप्रकृति पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन भगवन्नाम-जप तथा प्रार्थना है। भगवान का स्मरण और चिन्तन, भगवान की प्राप्ति में भगवान को ही उपाय समझना तथा भगवान के श्रीचरणों पर आत्म समर्पण कर देना अपनी वासना पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। शरणागत की रक्षा प्रभु का कर्तव्य है। हमारा आधार है भगवत्कृपा।

मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति। पर यह होगा कैसे? अन्धकार में मानवता भटक रही है, उसे प्रकाश और बल की आवश्यकता है। भयभीत, बद्ध, व्याकुल मानवता के पथ-प्रदर्शन के लिये भगवान की शरणागति एक प्रकाश-स्तंभ है और जीवन के कंटकाकीर्ण पथ पर यही उसका संबल है। केवल एकमात्र दिव्यज्योतिः स्वरूप भगवान ही आश्रयणीय हैं। विभिन्न मार्गों की ओर भटकना नहीं है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता 18/66)

मानव जीवन में दुःख की समस्या का समाधान करने के लिये असंख्य महामानव इस भूतल पर अवतीर्ण हुए और उन्होंने जीवन को सुखी, समुन्नत और परिष्कृत बनाने की भरपूर चेष्टा की। सृष्टि के आरंभ में ही लोगों ने देखा कि जीवन की सबसे बड़ी यातना मृत्यु है, अतः जीवन को सुखी बनाने के लिये मृत्यु पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विद्वान लोग अमरत्व के अन्वेषण में लग गये। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का या भव-सागर का मन्थन हुआ। इस विराट् विश्व में विष के रूप में तम, मदिरा के रूप में रज और अमृत के रूप में सत्व दृष्टिगोचर हुआ। भव-सागर के मन्थन से असंख्य रत्न निकले। अमृत का घड़ा भी निकला। भौतिकवादी और अध्यात्मवादी असुर और सुर, दोनों के सहयोग से अमृत का पता लगा था। दोनों के दो दृष्टिकोण थे। एक अपने इसी शरीर

को (भौतिक शरीर को) अमर करना चाहता था। दूसरे ने देखा कि मानव जड़ और चेतन, दोनों का समन्वय है। जड़ तो विकारी और परिणामवादी है। प्रत्येक क्षण वह बदलता रहता है। उसके रूप में आमूल परिवर्तन का ही नाम तो मृत्यु है। चेतन को जड़ के संपर्क से सर्वथा अलग कर देना ही अमरत्व की प्राप्ति है।

भौतिकवादियों ने स्थूल शरीर और अन्नमय कोश को अमर रखने की भरपूर चेष्टा की। इन्होंने सोचा—मनुष्य मरता ही क्यों है? इन्होंने देखा—मानव शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के जीर्ण होने से, मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, पक्वाशय आदि के घिस जाने से, समुचित भोजन और व्यायाम न मिलने से, असंख्य जीवाणुओं के टूटने से, रोग-कीटाणुओं के आक्रमण से, दुर्घटनाओं से तथा शरीर में जो कई ग्रंथियां हैं, उनमें समुचित स्राव नहीं होने से शरीर-यंत्र बिगड़ जाता है और मनुष्य मर जाता है। इन्होंने शरीर को नीरोग और दीर्घायु रखने के बहुत से उपाय सोचे। रसायनशास्त्र ने कई प्रकार के रसों का, आयुर्वेद ने कई औषधियों का और हठयोग ने कई व्यायामों का आविष्कार किया, जिनसे मनुष्य दीर्घजीवी बनकर अपने सौन्दर्य और यौवन को अक्षुण्ण रख सकते थे। किंतु अध्यात्मवादियों ने देखा कि नीरोग शरीर ही सब कुछ नहीं है, जीवन की सफलता के लिए मस्तिष्क और चरित्र का विकास भी आवश्यक है। ये असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना चाहते थे। इन्होंने देखा कि जीवन की पूर्ण सफलता भगवत्कृपा पर निर्भर है और

भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए भगवन्नाम-जप तथा प्रार्थना आवश्यक है।

पूर्वाचार्यों ने वेद-शास्त्र रूपी क्षीर सागर का मंथन कर भगवन्नाम तथा प्रार्थना का अमृत निकाला है। समुद्र के गर्भ में तो विष भी था, मदिरा भी और अमृत भी। भव-सागर के अंतस्तल में तम है, रज है और सत्व भी है। चाहे कोई देश या धर्म रज और तम का भले ही अन्वेषण कर रहा हो, पर हमने तो केवल सत्व को अपनाया है। हम जानते हैं कि 'यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।' हमारा हिन्दू धर्म सत्य के आधार पर खड़ा है। भगवान हमारे साथ हैं। अतः हमारी विजय निश्चित है, हमारा कभी नाश नहीं हो सकता। भगवान कहते हैं—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

आज संसार भोग-लालसा के शिखर पर चढ़ने के लिये तेजी से दौड़ रहा है। विज्ञान नये-नये चमत्कार दिखा रहा है। राजनीति और अर्थशास्त्र भौतिक तथा सामाजिक जीवन का विश्लेषण कर रहे हैं, किंतु उस दीपक की ओर किसका ध्यान है जो मानव-शरीर के अंतर्गत जल रहा है? भोग-लालसा के शिखर पर जब वासना जोरों से चीत्कार करेगी—'मुझे नवीन भोजन दो, संसार के सारे भौतिक पदार्थों का रस मैं चख चुकी। वे अब फीके पड़ गये, उस समय मानवता सोचेगी—'ततः किम्?' वह संभलेगी और अनुभव करेगी कि वह अनुचित मार्ग पर थी। जीवन में त्याग और तपस्या, स्नेह और बलिदान की जितनी बड़ी आवश्यकता है, उतनी भोग-वासना की नहीं। उस समय

पददलित मानवता के पथ-प्रदर्शन के लिये भगवत्प्रार्थना प्रकाश और शक्ति को प्रदान करेगी। सावन-भादों की रातों में काले-काले बादल उमड़-धुमड़ कर कुछ काल के लिये भले ही आकाश को आच्छन्न कर लें, पर इससे सूर्य का नाश नहीं हो सकता। शीघ्र ही प्राची के प्रांगण में उषा-देवी अरुण-राग रंजित नवीन परिधान धारण कर हेमकुंभ ले इस शिथिल भूतल पर अमृत धारा उड़ेल देती है।

भगवान का नाम वह सुधा की धारा है, जो मृतकों में भी नव-जीवन का संचार करती है। पर प्रश्न तो यह है कि इस अमृत से जितने मानवों का उपकार होना चाहिए, वह होता क्यों नहीं है? हमें क्या अधिकार है कि इस अमृत की एक आध बूंद अपने-आप पीकर फिर इसे बक्स में बंद कर दें और तृषित मानवता इस अमृत के अन्वेषण में इधर-उधर भटकती फिरे तथा मदिरा और जहर पीकर ही संतुष्ट हो जाए? भगवन्नाम में जो सुंदरता है, जो माधुर्य है, जो आकर्षण है, संसार उससे वंचित नहीं रह जाए।

कर्म-संस्कार अविद्या को जन्म देता है। अनादिकाल से कर्म करता हुआ अविद्या से ढका जीवात्मा प्रकृति में लटपटाया रहता है। पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति में कंपन होता है और प्राकृतिक तीनों गुण सत्व-रज-तम की साम्यावस्था टूट जाती है और प्राकृतिक तत्वों में विकार उत्पन्न होने लगता है। परिणामवाद के अनुसार प्रकृति सदैव बदलती रहती है। पुरुष-जीवन का प्रधान लक्ष्य है—प्रकृति के विकारों से अपने-आपको मुक्त करना। जब तक वह प्राकृतिक

विकारों से मुक्त नहीं होता, तब तक जन्म-मरण के चक्र से या चंगुल से छूट नहीं सकता। जब तक जीवात्मा में कर्म-संस्कार चिपका रहेगा, तब तक वह अविद्या से या प्रकृति से छुटकारा नहीं पा सकता। भगवन्नाम के स्मरण से, प्रार्थना से तथा भगवान की शरणागति से कर्म-संस्कार छूट जाता है तथा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

मानवता की सबसे बड़ी देन है प्रवृत्ति के ऊपर विवेक की विजया। मानवता जब अपना कर्तव्य-ज्ञान भूलकर भोग-वासना की ओर झुक जाती है, तब वह अपने स्वरूप से च्युत हो जाती है। इससे मुक्त होने का प्रधान साधन प्रार्थना, भगवन्नाम-संकीर्तन और भगवान की शरणागति है। प्रार्थना और आत्म-समर्पण की भावना से द्रवित होकर भगवान अपने शरणागत की रक्षा स्वयं कर देते हैं।

इच्छा एवं वासना का सर्वथा दमन सहज संभव नहीं है। प्रवृत्ति तो प्रकृति का सूक्ष्म रूप है। उसकी कुचेष्टा प्रकृति के साथ एक भीषण संग्राम है।

कर्मयोग से केवल क्रियमाण कर्म क्षीण हो सकता है, प्रारब्ध और संचित कर्मों पर कर्मयोग का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी कर्मयोग के लिये अनासक्त और निर्लिप्त होना आवश्यक है, जो एक कठिन समस्या है। स्थूल शरीर से कर्म करने पर अंतःकरण में एक तरंग उठती है, मन में एक विकार उत्पन्न होता है। यही तरंग-यही विकार सूक्ष्म शरीर का पोषक और वासना का विकास करने वाला है। कर्म का प्रतिबिम्ब सूक्ष्म शरीर पर अंकित हो जाता है और कर्म-संस्कार के रूप में संचित कोष में

चला जाता है। वासना अनेक जन्मों के कर्मों का रस पीकर बलवती हो जाती है। वासना संचित कर्मों की पुत्री और क्रियमाण कर्मों की जननी है। यही वासना आगामी कर्मों का पथ-प्रदर्शन करती है। हमारे व्यतीत जीवन के कर्मों के अनुसार वासना तथा प्रवृत्ति की रूपरेखा निर्मित होती है। वासना के हनन में ज्ञानयोग भी बहुत अधिक सहायता नहीं करता। ज्ञानयोग की सफलता के लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है और जब तक अन्तःकरण में वासना जीवित है, तब तक बुद्धि सर्वथा स्थिर नहीं हो सकती। संसार-चक्र की परिधि में कर्मों के पीछे वासना और वासना के पीछे कर्म चलते रहते हैं। बाह्य इन्द्रियों के दमन मात्र से वासना नहीं मरती। इस प्रकार कर्मयोग या ज्ञानयोग बिना प्रार्थना की सहायता से-बिना परमात्मा की दया से, वासना के दमन में सहज ही सफल नहीं हो सकता।

यह सच है कि परब्रह्म की झलक मिलते ही वासना अपने-आप मिट जाती है। यदि आसक्ति नहीं मिटी तो बरजोरी बाह्य इन्द्रियों के दमन में कोई विशेष लाभ नहीं। पर यह आसक्ति बिना परमात्मा की दया के मिटेगी कैसे? जब तक हम प्रार्थना के रूप में परमात्मा को पुकारेंगे नहीं, तब तक परमात्मा की दया मिलेगी कैसे? अंतःकरण की मलिनता तो तब मिटती है, जब भगवन्नाम-जप से हृदय पवित्र हो उठता है और प्रार्थना करते-करते ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है।

मानव सृष्टि का शृंगार है। उसके अंतर में परमात्मा की एक दिव्य ज्योति जल रही है, जो उसे निम्नस्तर से ऊपर उठाकर सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती

है और जीवन-यात्रा में उसका पथ-प्रदर्शन करती है। जब जीवन की आंधी उठती है और तूफानी हवा में उताल-तरंग-माला-संकुल विश्व-पयोधि लहराने लगता है, तब भव-सागर के ज्वार में एवं धूलि कणों के वातावरण में यह प्रकाश क्षीण और मटमैला हो जाता है। मानव-जीवन में यह प्रकाश जितना ही जाज्वल्यमान रहेगा, मानवता उतनी ही प्रचुर मात्रा में उसके अंतर्गत वर्तमान रहेगी। जब पशुता झांकने लगती है, तब मनुष्य कर्तव्य निष्ठा और ज्ञान को भूलकर अपनी इन्द्रियों का दास बन जाता है और भोग-वासना की ओर पागल की तरह दौड़ने लगता है। हमारे अंतर्गत सदैव देवासुर-संग्राम हो रहा है। हमारे अंदर जो देवता है, वह हमें ऊपर उठाने की चेष्टा करता है और एक अलौकिक दिव्य रश्मि से हमें ओत-प्रोत करना चाहता है। पर हमारे जीवन में जो दानव घुस गया है, वह देवता के साथ संघर्ष करके हमें नीचे की ओर घसीट रहा है। ऐसे समय में हमें भगवान की उस मोहिनी मूर्ति की आवश्यकता है, जो दानवों को मदिरा पिलाकर सुला दे और देवताओं को अमृत पिलाकर अमर कर दे। भगवत्प्रार्थना से देवता को बल मिलता है और दानवता मूर्च्छित हो जाती है।

जब तक कामना नष्ट नहीं होती, तब तक अंतरात्मा में ज्ञान-रश्मि नहीं छिटक सकती। कामना को नष्ट करने का एकमात्र साधन है भगवत्कृपा, भगवत्प्रार्थना, आर्त, निःसहाय, दीन और अकिंचन होकर अपने-आपको भगवान के श्रीचरणों पर न्योछावर कर देना।

प्रार्थना से मानव-मस्तिष्क की सोयी हुई अनन्त शक्तियां जग जाती हैं-अविद्या

की राख से ढकी प्रकाश की चिनगारी (प्रकाश-कण या जीवात्मा) प्रकाश के समूह (परमात्मा) से साक्षात्कार करने लगती है। अन्यथा हमारे मनोमय कोश में छिपा हुआ कामना-कीट लाखों प्रयत्न करने पर भी नहीं मरता।

माधव! मोह फांस क्यों टूटै।

बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै॥

घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै॥

ईधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै॥

तरु-कोटर महं बस बिहंग, तरु काटे मरै न जैसै।

साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥

(विनय पत्रिका 115)

इच्छा या वासनारूपी नदी शुभ एवं अशुभ दोनों तटों को स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है। इस प्रवृत्ति-प्रवाह का सर्वथा अवरोध शक्य नहीं है। किंतु इसका प्रवाह अशुभ वासनामयी प्रवृत्ति से अर्थात् लोभ, क्रोध, राग, मोहादि से हटाकर दूसरे तट अर्थात् स्वाध्याय, सत्संग, भक्ति, ज्ञान, योग की ओर प्रवाहित कर उस वासना को शुद्ध एवं शुभेच्छामयी बनाकर तीव्र नामजप, ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा भगवत प्राप्ति, पराशान्ति या ब्रह्मनिर्वाण अथवा कैवल्य को प्राप्त किया जा सकता है। इससे समस्त काम-वासना-जालरूपी हृदयग्रन्थियों का तथा अज्ञान जनित संशयों का सर्वथा उच्छेदन हो जाता है। इसके साथ ही अनादि काल से हुए सभी जन्मों में एकत्र संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और परावर-परब्रह्म परमात्मा भी सदा के लिये विज्ञात एवं दृष्ट हो जाता है। यहीं प्राणी की कृतकृत्यता हो जाती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डको. 2-2-8)

‘अपने विरोधी को अनुकूल बनाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि उसके साथ सरल और सच्चा प्रेम करो। वह तुमसे द्वेष करे, तुम्हारा अनिष्ट करे तब भी तुम तो प्रेम ही करो। प्रतिहिंसा को स्थान दिया तो अवश्य गिर जाओगे।’ अपने हृदय को सदा टटोलते रहना ही साधक का कर्तव्य है। उसमें घृणा, द्वेष, हिंसा, वैर, मान, अहंकार, कामना आदि अपना डेरा न जमा ले। बुरा कहलाना अच्छा है, परंतु अच्छा कहलाकर बुरा बने रहना बहुत ही बुरा है।’

अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करने का नाम ही कर्मयोग है, पर यह हो कैसे? हमारे अंतःकरण में छिपी वासना फल की कामना से सदा ग्रस्त रहती है। उपदेश देने के लिये तो प्रायः सभी कह देते हैं कि ‘वासना का हनन करो, प्रवृत्ति को कुचलो, अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करो।’ पर इन उपदेशों से कर्मयोग की समस्या हल नहीं होती।

वासना अनादि काल से जीव के हृदय में जाल बिछाये है। हम उसे केवल वाक्य-ज्ञान से नष्ट नहीं कर सकते। यह सत्य है कि अनासक्त होकर किया गया कर्म आत्मा का स्पर्श नहीं कर पाता, पर अनासक्त होना ही तो जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। प्रार्थना कर्मयोग की सहायता करती है। अकेले कर्मयोग जिस समस्या का समाधान नहीं कर सका, प्रार्थना उसे सरल कर देती है। भगवन्नाम-जप से तथा प्रार्थना से भक्ति का उदय होता है और भक्ति कहती है—‘जीवन के सारे कर्म कर्तव्य की प्रेरणा से भगवन्निमित्त, भगवत्कैर्य समझकर करो’ फिर कर्मों में आसक्ति कैसी? हमें भोग-वासना से प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिए।

अनवरत प्रार्थना से जब तक हमारे अन्तःकरण में भगवान का साक्षात्कार नहीं होता, जब तक हमारे मन-मंदिर में प्रेम-सिंहासन पर श्रीमन्नारायण भगवान विराजमान नहीं होते, तब तक लाख चेष्टाएं करने पर भी मोह-पाश नहीं टूट सकता।

भगवान की प्रार्थना से तथा उनके ध्यान, चिंतन और स्मरण से हृदय के सारे विकार स्वतः नष्ट हो जाते हैं। भगवान के चिन्मय, ज्ञानमय, आनन्दमय रूप का प्रकाश हृदय में आते ही अंतःकरण का अंधकार स्वतः मिट जाता है।

ज्ञानयोग की सफलता भी प्रार्थना पर ही निर्भर है। वाक्य-ज्ञान तो केवल शास्त्रार्थ का विषय होता है।

अनवरत प्रार्थना से परमात्मा का साक्षात्कार होता है और परमात्मा के साक्षात्कार से माया का बंधन टूट जाता है। हृदय की गांठ खुल जाती है और कर्म-संस्कार नष्ट हो जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

भक्ति से पृथक् ज्ञान का मार्ग दुर्गम और कठिन है, पर प्रार्थना पर अवलम्बित भक्ति-पथ अत्यंत सुलभ है।

भगवन्नाम का स्मरण, प्रार्थना, सदैव भगवान का चिन्तन और ध्यान, भगवान में अखण्ड विश्वास, अनवरत उनकी स्मृति का नाम ही उपासना है।

उपासना में सबसे अधिक आवश्यकता है प्रार्थना और भगवत्प्रेम की; क्योंकि जो जिसका अत्यंत प्रिय होता है, दिन-रात वह उसी का ध्यान करता रहता है, उसके स्मरण और चिन्तन में ही उसे आनन्द की अनुभूति होती रहती है। भगवान को यदि हम हृदय से प्यार करेंगे तो उनका ध्यान सदैव हमें लगा रहेगा।

भोग-रस-पान करने वाले चंचल मन को सर्वप्रथम भगवान में लगाने के लिये दो साधनों की आवश्यकता है—भगवन्नाम-जप और अनवरत प्रार्थना। इससे मन को भगवान में टिकने की तथा भगवान से प्रेम करने की आदत लग जाती है। प्रार्थना भगवान से मिलने का सर्वोत्तम साधन है। भगवान के प्रति अनन्य और अकिंचन-भाव से शरणागत होकर तथा भगवान के चरणों में अपने आपको समर्पित कर प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान से कहना चाहिए—

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत् ।

त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिच्यासि जगताम् ॥

प्रपन्न का आधार, अवलम्ब और उपाय एकमात्र भगवान् हैं और उसका साधन है भगवन्नाम जप और प्रार्थना। भगवान् उसे जिस अवस्था में रखें, वह उसी में संतुष्ट रहता है। चाहे सुख में या दुःख में, वह भगवान् को नहीं भूलता। विपत्ति पड़ने पर भी वह भगवान् को नहीं कोसता। प्रपन्न के लिये नीचानुसंधान आवश्यक है। भगवान् के सम्मुख वह सदैव अपने को अपराधी समझता है। और भगवान् के पदरज की कामना करते हुए कह उठता है—

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवारणवोदरे ।

अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात कुरु॥

(आलवन्दारस्तोत्र)

जब तक हम अपने को अनन्त अपराधी, निराधार और आर्त नहीं समझेंगे, तब तक प्रार्थना की भावना हमारे अन्तःकरण में नहीं आ सकती। प्रपन्न प्रार्थना के द्वारा अपनी रक्षा का भार भगवान् को देकर स्वयं निश्चिन्त हो जाता है। जैसे पत्नी को विश्वास रहता है कि स्वामी बिना कहे भी मेरी रक्षा करेंगे ही, उसी प्रकार प्रपन्न भी समझता है कि भगवान् बिना कहे भी

माया के बंधन से मुझे मुक्त करेंगे ही। जिस प्रकार पत्नी अपनी रक्षा के निमित्त पति को छोड़कर अन्य किसी उपाय का अवलम्बन नहीं करती, उसी प्रकार प्रपन्न भी अपने मोक्ष के लिए भगवान् को छोड़कर अन्य किसी उपाय को ग्रहण नहीं करता।

भगवान् की प्राप्ति में भगवान् ही उपाय हैं, भगवान् की प्राप्ति अपने बल पर नहीं हो सकती; क्योंकि वह सदैव भूल करता रहता है, वह कमजोरी का पुतला है, उसके अंतःकरण में तृष्णा का हाहाकार है—भोग-वासना का विष भरा मधुर नर्तन है। वासना प्रारब्ध और क्रियमाण, दोनों कर्मों को बांधने वाली कड़ी है। न्याय के बल पर मोक्ष की आशा करना व्यर्थ है। वासना कर्म-संस्कार या कृत-कर्मों की पुत्री एवं प्रवृत्ति तथा भावी कर्मों की जननी है। यह असंख्य जन्मों के कर्मों का रस पीकर भविष्य जीवन की पथ-प्रदर्शिका बन गयी है। वासना के विराट् अन्धकार में विवेक का टिमटिमाता हुआ प्रकाश क्षीण, क्षणिक और चंचल रहता है। प्रलोभनों के निकट भोग-सामग्रियों के बीच हमारा संकल्प स्थिर नहीं रह पाता। विषयों के प्रबल झंझावात में ज्ञान की कमजोर दीप-शिखा कांपने लगती है और कभी-कभी बुझ भी जाती है। हमारा बाह्य रूप तो सुंदर, पवित्र और आकर्षक रहता है, पर हमारे अंतर्जगत् में तृष्णा, स्वार्थ और भोग-विलास का ताण्डव नृत्य होता रहता है। संसार हमें महात्मा, साधु, नेता या समाज-सुधारक भले ही समझ ले, पर भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे हमारे छिपे अपराधों को देख लेते हैं।

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके

सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।

सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द

क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥

(आलवन्दारस्तोत्र)

इसलिये भगवत्कृपा का आधार प्रार्थना है। न्याय के अधिकार से नहीं, भगवत्कृपा के बल पर हम मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। अपने बल पर निष्काम कर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि हमारे कर्मों का सर्वथा निष्काम होना सरल नहीं। इसलिए जब तक हम अनन्य, अकिंचन होकर दीन अपराधी की तरह कांपते हुए भगवान् के श्रीचरणों में आत्म-समर्पण नहीं कर देंगे और प्रार्थना द्वारा

भगवान की प्राप्ति में भगवान को ही उपाय नहीं समझ लेंगे, तब तक उद्धार होना असंभव-सा है। श्रीयामुनाचार्य की तरह हमें भगवान से कहना है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी

न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।

अकिचेनोऽन्नयगतिः शरण्य

त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥

(आलवन्दारस्तोल)

हे भगवन्! धर्म में या कर्मयोग में मेरी निष्ठा नहीं है, क्योंकि कर्मयोग के लिए अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करना आवश्यक है, जो मुझसे नहीं हो सकता। ज्ञानयोग भी मुझसे नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा मन चंचल है और मैं स्थितप्रज्ञ नहीं हूँ। भक्तियोग के लिये भी मैं असमर्थ हूँ, क्योंकि भोग-वासना मेरे चंचल मन को आपके चरणों में टिकने नहीं देती। मेरे पास मोक्ष का कोई साधन नहीं है। मैं दीन, अकिंचन, निःसहाय हूँ। मेरे पास कुछ भी नहीं है। दूसरा कोई मार्ग या उपाय भी नहीं है। अतः मैं आपके ही श्रीचरणों को अपना उपाय, अपना साधन और अपनी रक्षा का स्थान समझता हूँ, आपका शरणागत हूँ और आपके ही श्रीचरणों पर आत्म-समर्पण कर देता हूँ।

जिस प्रकार पत्नी पति की सेवा प्रेम से करती है, भार समझकर नहीं, उसी प्रकार प्रपन्न भी भगवत्कैकर्य बड़े प्रेम से और प्रसन्नता से करता है, भार समझकर नहीं। भगवान ने जिसको जिस परिस्थिति में रखा है, उसके अनुकूल आचरण भगवत्कैकर्य है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' गीता के इस वचन के अनुसार किसानों के लिए हल जोतना, छात्रों के लिये अध्ययन और अनुशासन, माताओं के लिये बच्चों का लालन-पालन और मल-मूत्र धोना, सब कुछ भगवत्कैकर्य है। प्रत्येक नर-नारी का शरीर परमात्मा का मंदिर है, अतः मानव की सेवा भगवत्कैकर्य है। दूसरों की निंदा करना, दूसरों का अनिष्ट, दूसरों का दिल दुखाना परमात्मा की अवहेलना है। प्रार्थना से प्रपत्ति की भावना परिपक्व होती है और आत्म-समर्पण का भाव आता है। जीवन के सारे कर्मों को, भोग-वासना से प्रेरित होकर नहीं, कर्तव्य की प्रेरणा से भगवन्निमित्त भगवान की प्रसन्नता के लिये भगवत्कैकर्य समझकर करना है, इसमें आसक्ति कैसी? जब हमने अपने

आपको भगवान के श्रीचरणों में सौंप दिया, तो फिर अपने लिये-भोग-वासना की तृप्ति के लिये कोई कर्म ही नहीं करना है। सब कुछ भगवान की प्रीति और प्रसन्नता के लिये, उन्हीं के आज्ञानुसार करना है। प्रपन्न का सारा जीवन ही भगवत्कैकर्य है। उसका व्रत है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम् ।

जो काम भगवान को रुचिकर लगे, उनकी इच्छा के अनुकूल हो, उसे करना और जो काम उनकी आज्ञा के विरुद्ध हो, उनकी इच्छा के प्रतिकूल हो, उसे नहीं करना। प्रपन्न अपने समय, शक्ति और धन का दुरुपयोग नहीं करता। वह समझता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है, अतः किसी से द्वेष रखना, किसी की बुराई सोचना अनुचित है। शुक्लयजुर्वेद के उत्तर नारायणीय सूक्त के द्रष्टा नारायण ऋषि ने परमात्मा का साक्षात्कार किया था—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

(शु. यजु. 31-18)

और उनके मुख से गायत्री के रूप में प्रथम प्रार्थना निकल पड़ी, जो सगुण साकार परब्रह्मा परमेश्वर की प्रार्थना है।

उपनिषद्-ग्रंथों में हम प्रार्थना का कितना सुंदर रूप देखते हैं—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं

यो वै वेदां श्च प्रहिणोति तस्मै ।

तंह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेताश्वतर. 6-18)

एक और वैदिक प्रार्थना है—

असतो मा सद्गमय,

तमसो मा ज्योतिर्गमय,

मृत्योर्माऽमृतं गमय

'हे प्रभो! आप मुझे असत्-प्रपञ्च से हटाकर सत्-तत्त्व की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलिये।' असत् और बुरे कामों से सत्कर्म और भलाई की ओर जाना, अविद्या के अन्धकार से ज्ञान और विद्या के प्रकाश में जाना तथा मृत्यु से स्वस्थ जीवन एवं अमरत्व की ओर जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

अन्तर्यामी भगवान् प्रत्येक नर-नारी के शरीर में वर्तमान हैं, अतः मानव की सेवा परमात्मा की सेवा है, केवल इस सेवा के अन्तस्तल में स्वार्थ और भोग-वासना छिपी हुई न हो। भगवन्नाम की महिमा अकथनीय है। यह भवसागर का पोत है और मोक्ष-पथ का प्रधान संबल। प्रार्थना का प्रभाव अद्भुत है और प्रार्थना का फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है।

आर्ता विषण्णाः शिथिला श्य्य भीता

घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः ।

संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं

विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति ॥

(श्री कूरेशस्वामिविरचित नारायणाष्टक-8)

अज्ञान से परे प्रकाश रूप परम पुरुष परमात्मा को पहचानते हैं, वे मृत्यु को लांघ जाते हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस परमात्मा के पहचानने के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है। —उपनिषद्।

उस परम पुरुष परमात्मा को कुछ मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान द्वारा हृदय में देखते हैं, कुछ ज्ञान योग के द्वारा और कुछ निष्काम-कर्मयोग के द्वारा उसके दर्शन करते हैं।
—श्रीमद्भगवद्गीता

**विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
सत्येन्द्र ना. सिंह कॉलेज, हाजीपुर**

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय साहित्य

Devdas	150.00	बिराज बहू	100.00
विप्रदास	200.00	गृहदाह	225.00
चरित्रहीन	200.00	नारी का मूल्य	100.00
पथ के दावेदार	250.00	अरक्षणीया	100.00
परिणीता	100.00	शुभदा	100.00
लेन-देन	200.00	ग्रामीण समाज	125.00
आखिरी परिचय	250.00	दत्ता	150.00
श्रीकांत	250.00	वैकुण्ठ का दान-पत्र	100.00
शरत्चन्द्र की श्रेष्ठ कहानियां	200.00	जागरण	100.00
शरत्चन्द्र की अमर कहानियां	200.00	चन्द्रनाथ	80.00
शेष प्रश्न	250.00	षोडशी-रमा	175.00
कमला	150.00	विजया	150.00
शारदा	150.00	देवदास	100.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग,
करतार नगर, दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

ऋग्वेद में व्रत विमर्श

डॉ. रूबी

वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति में व्रतोपवास की परम्परा का प्रचुर प्रचलन रहा है। इस 'व्रत' शब्द की सामान्य रूप से यही अर्थवत्ता समझ में आती है कि यजमान अपनी इष्ट कामनाओं की पूर्ति की इच्छा से किसी देव विशेष के प्रसन्नार्थ 'व्रत' करने का संकल्प लेता है। 'व्रत' शब्द की गणना संस्कृत के उन शब्दों में होती है जिनका प्रचलन सहस्रों वर्ष पुराना है। किन्तु इस 'व्रत' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ संबंधी विकास के विषय में विद्वानों के बीच गम्भीर मतभेद भी परिलक्षित होता है।

हिवटनी, मैक्समूलर, आप्टे ने 'व्रत' शब्द के अलग-अलग अर्थ किए हैं। ऋग्वेद में 'व्रत' शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है उसके अर्थ को प्रायः उपर्युक्त विद्वानों द्वारा किए गए 'व्रत' शब्द के अर्थ के साथ संगति बैठ जाती है।

'सेंट पीटर्स वर्ग कोश' में व्रत को उत्पत्ति 'वृ' (वृज्, वरणे, वरण करना, चुनना) से मानी गई है तथा उस कोश में इस शब्द के महत्वपूर्ण अर्थ इस प्रकार हैं—1. संकल्प, आदेश, विधि, निर्दिष्ट व्यवस्था 2. वशता, आज्ञापरता, सेवा, 3. स्वामित्व अथवा रिक्थ 4. व्यवस्था, निर्धारित उत्तराधिकार क्षेत्र 5. वृत्ति, व्यापार, आचारिक कर्म, प्रवृत्ति में संलग्नता, आचार अथवा रीति 6. धार्मिक कार्य, उपासना, कर्तव्यता 7. कोई अनुष्ठान, धार्मिक या तपस्या संबंधी कर्म या आचरण, सेवन, संकल्प पुनीत कर्म 8. सामान्य रूप से संकल्प, निश्चित हेतु 9. अन्य विशिष्ट अर्थ।

वैदिक साहित्य के अध्ययन में मैक्समूलर ने 'व्रत' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' से की है, जिसका अर्थ है 'रक्षण करना' और प्रतिपादित किया है कि उसका प्रारम्भिक अर्थ इस भाव में था जिसे हम आवेष्टित रक्षित, पृथक रूप रक्षित के अर्थ में ले लेते हैं, आगे चलकर इसका अर्थ हुआ निर्णित निश्चित, विधि (कानून) विधान और पुनः कालान्तर में अर्थ विकास हुआ 'अधिपत्य या सत्ता'।

हिवटनी ने मैक्समूलर की व्युत्पत्ति को असन्तोषजनक मानकर उसे सेंट पीटर्सवर्ग के कोश से निकाल दिया और घोषित किया कि उन्हें 'वृ' (वरण करना) से इसकी व्युत्पत्ति करना अमान्य है। उन्होंने यह भी कहा है कि 'वृ' से संकल्प अनुशासन (आदेश) अर्थ नहीं निकलता, केवल वरण करना या अधिक मान देना उपयुक्त ठहरता है। किन्तु उन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'वरण करने' एवं 'अनुशासन' में सम्बन्ध अवश्य है। उन्होंने विरोध उपस्थित किया कि 'त' का आगम या प्रत्यय के रूप में प्रयोग बहुत ही कम होता है और कहा कि यदि कोई तुल्यार्थक शब्द है तो वह है 'मर्त' जो 'मृ' (मरना) से बना है। उन्होंने व्रत का 'वृत्' (वृत्तु वर्तने, प्रवृत्त रहना या प्रारम्भ करना या आगे बढ़ना) से व्युत्पादन अधिक अच्छा माना है। यद्यपि उन्होंने यह माना है कि वृत् से 'अ' प्रत्यय के साथ व्रत की व्युत्पत्ति अपवाद रूप में ही है। उन्होंने सोचा कि 'व्रज' एवं 'व्रद' शब्द उनकी व्युत्पत्ति को संभाल लेते हैं और कहा कि व्रत शब्द-ऋग्वेद में गति सम्बन्ध क्रिया पदों, यथा 'चर' 'सश्च्' या 'सच्' के साथ बहुधा आता है।

प्रो. पी. एम. आप्टे² ने हिवटनी की बात मानी है और कहा है कि 'वृत्' से ही व्रत व्युत्पन्न हुआ है। उन्होंने बलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि 'वृ' का वरण करना या चुनना या रक्षण करना या आवेष्टित करना अर्थ असंभव है। उन्होंने कहा कि ऋग्वेद में कोई व्रत शब्द ऐसा नहीं है जिससे संकल्प या इच्छा, आदेश आज्ञाकारिता अथवा निर्दिष्ट हेतु का अर्थ प्रकट हो सके। उनका मत है कि 'वृत्' का अर्थ न केवल आगे बढ़ना या प्रवृत्त रहना या आरम्भ करना है (जैसा कि हिवटनी ने प्रतिपादित किया है) प्रत्युत इसका अर्थ अभिमुख होना अर्थात् घूम जाना, अपनी ओर अभिमुख होना, चतुर्दिक घूम जाना, एक ही स्थान पर परिभ्रमण करना या आगे बढ़ना भी है। अतः 'व्रत' शब्द का अर्थ न केवल विधि, कर्म या क्रम या विधि, आचार विधि है, प्रत्युत इसका अर्थ है चक्राकार गति या परिभ्रमण तथा वृत्ताकार मार्ग भी।

किन्तु हिवटनी एवं प्रो. आप्टे के मत त्रुटिपूर्ण हैं। 'वृत्' से व्रत की व्युत्पत्ति अमान्य है। उन पदों में जहाँ धातु 'वृत्' 'अभि', 'आ', 'नि', 'परि', 'वश', यावि नामक उपसर्गों के साथ प्रयुक्त हुई है उनमें 'वृत्' के मौलिक अर्थ को निकालने में हमें सहायता नहीं मिलती है क्योंकि उपसर्ग बहुधा धातु का

अर्थ ही परिवर्तित कर देते हैं और यह सन्देहास्पद है कि 'वृत्' धातु अपने वास्तविक रूप में ही ऋग्वेद में 'आगे बढ़ना' (हिवटनी के मतानुसार) के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।³ यह भी नहीं माना जा सकता है बिना उपसर्गों के प्रयुक्त 'वृत्' धातु ऋग्वेद में चक्राकार या वृत्ताकार घूमना या आगे बढ़ना (प्रो. आप्टे के मतानुसार) के अर्थ में आई है। ऋग्वेद में वृत् का प्रयोग इसके आगे या पीछे बिना उपसर्ग के बहुत कम हुआ है।

श्री आप्टे ने आरोप लगाया है कि विद्वानों ने बहुधा व्रत के अर्थों के लिए अपने को केवल विधि-विधान आदेश, यज्ञ, संकल्प, निर्दिष्ट हेतु कर्तव्य तक ही सीमित रखा है। उन्होंने ऋग्वेद में प्रयुक्त अर्थमार्ग या वृत्ताकार मार्ग की ओर अपना ध्यान नहीं दिया है। उनके मतानुसार ऋग्वेद में वर्णित दिव्य व्रतों का अर्थ है स्वर्गिक पथ, दिव्य फेरे, समय-समय पर स्वयं देवों द्वारा आकाश के चारों ओर फेरा लगाना, न कि किसी विविष्ट देवता द्वारा निर्धारित पुनीत विधियां या कानून।

आप्टे के मतानुसार व्रत शब्द के अर्थ संबंधी विकास के दो सामान्तर स्वरूप हैं-यथादिव्य स्वरूप तथा मानवीय स्वरूप। किन्तु व्रत शब्द के अर्थ में इस प्रकार का अन्तर नहीं स्वीकृत किया जा सकता। प्रो. आप्टे ने दिव्य स्वरूप के लिए छः तथा मानवीय स्वरूप के लिए चार अर्थात् व्रत के अर्थों को कुल मिलाकर दस दलों में बाँटा है। उन्होंने व्रत के लिए कुल मिलाकर 60 अंग्रेजी अर्थ दिये हैं जबकि ऋग्वेद में कुल 220 बार व्रत शब्द आया है। ऋग्वेद में प्रयुक्त व्रत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार

मिलती है-यह शब्द 'वृ' (वरण करना) धातु से बना है। इस धातु से 'वर' (दूल्हा जो किसी कन्या या उसके अभिभावक द्वारा कई व्यक्तियों में से चुना जाता है) शब्द निकला है।

वरण करना, वरण करने वाले व्यक्ति की इच्छा या संकल्प पर निर्भर रहता है। अतः 'वृ' का तात्पर्य इच्छा करना भी है। इस प्रकार जब व्रत शब्द 'वृ' से निकला है और उसके साथ 'त' लगा हुआ है तो व्रत का अर्थ हुआ जो संकल्पित है या केवल संकल्प या इच्छा। जो व्यक्ति शक्ति सम्पन्न या अधिकारी होता है उसकी इच्छा अन्य लोगों के लिए आदेश या कानून (विधि) होती है। भक्तजन विश्वास करते हैं कि देवों ने कुछ अनुशासन अथवा आदेश निर्धारित किये हैं जिनका वे स्वयं तथा अन्य जीवगण अनुसरण करते हैं। इससे विधि-विधान जीवगण अनुसरण करते हैं। इससे विधि-विधान या कानून का भाव स्पष्ट हो जाता है। किसी उच्चाधिकारी का आदेश आरोपित होता है और उसका अर्थ होता है आज्ञापालन करने की कर्तव्यता या अनुग्रह बन्धन अर्थात् परम्परानुगत आचारों या व्यवहारों का रूप पकड़ लेते हैं। जब लोग ऐसा विश्वास करते हैं या अनुभव करते हैं कि उन्हें कुछ कर्म देवों द्वारा निर्धारित समझ कर करने चाहिए तब धार्मिक उपासना एवं कर्तव्य के भाव की सृष्टि होती है। जब कोई व्यक्ति देवों के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए अपने आचरण या भोजन पर विशिष्ट रोक लगाता है तो वह पुनीत संकल्प या धार्मिक आचार-कर्म का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार 'वृ' से व्युत्पन्न 'व्रत' शब्द के कतिपय अर्थ हैं-

आदेश या विधि (कानून), आज्ञापालन या कर्तव्यता धार्मिक या नैतिक व्यवहार, धार्मिक उपासना या आचरण, पुनीत या गम्भीर संकल्प या स्वीकरण तथा आचरण संबंधी कोई भी संकल्प। ऋग्वेद में जहाँ भी 'व्रत' शब्द आया है, उसका अर्थ उपर्युक्त अर्थों में ही बैठ जाता है।

संदर्भ

1. JBBRAS,-29 (1954), पृ 1 स. 28
2. देखिये-डकन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना का बुलेटिन, तृतीय खण्ड, पृष्ठ 407-488.
3. स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अयो दिवो वर्त्तमान आह्वान्। ऋ. 05/40/6, रथं वामनुगायसं य इषा वर्त्तते सह। न चक्रमभि बाधते। ऋ. 08/5/34, नीचा वर्त्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। ऋ. 010/34/9
4. Ecclesia Divina or A Selection of Hymns from the Four Vedas/Bhuvananda Sarasvati.
6. Fundamental Teaching of Vedas/Maurice Phillips.
7. Geographical Aspect of the Vedas/Bidyut Lata Ray.
8. The Holy Vedas : Rig Veda, Yajur Veda, Sama Veda, Atharva Veda/Bibek Debroy and Dipavali Debroy.
9. The Holy Vedas for All/P.D. Mishra.
10. Human Ecology in the Vedas/ M. Vannucci.

एम. ए. (संस्कृत), पी.एच. डी.
ललित नारायण मिथिला
विश्वविद्यालय, दरभंगा

लोक-कल्याणकारी राज्य

डॉ. किरण कुमारी

साधारणतया लोक-कल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से होता है, जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग-विशेष के कल्याण हेतु नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिये किया जाता है। मानव-कल्याण के साधन के रूप में राज्य का विचार नवीन नहीं है, प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों ओर की अति प्राचीनकालीन राजनैतिक विचारधाराओं में यह पाया जाता है। महाभारत के शांति पर्व में यह कहा गया है कि राज्य को निरन्तर राज्य की रक्षा, व्यक्तियों के नैतिक जीवन का पथ-प्रदर्शन, शुद्धि तथा नियंत्रण तथा पृथ्वी को मनुष्य के लिये निवास-योग्य एवं सुखदायिनी बनाना चाहिये। पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र का जनक अरस्तू के इस कथन में भी लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार निहित है कि राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया तथा उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिये है। मध्य युग में इसके विचार को महत्त्व नहीं दिया गया परन्तु 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में थॉमस पेन (Thomas Paine), थॉमस जेफरसन (Thomas Jefferson), कान्ट (Kant), ग्रीन (Green), बेन्थम (Bentham), की विचारधाराओं में पुनः इसके आदर्श का प्रतिपादन मिलता है।

अपने मूल रूप में लोक-कल्याणकारी राज्य की भावना सदैव ही विद्यमान रही है लेकिन आधुनिक युग में इस धारणा का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, वह अत्याधुनिक काल की देन है। लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा का उदय वस्तुतः आधुनिक युग की कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का परिणाम है जो अग्रलिखित है—

1. व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा व्यक्तिवादी यद्भाव्यम् नीति

लेसेज फेयर (Laissez Faire) की नीति को अपना लिया गया और उस नीति के अनुसार राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित कर दिया गया था। उसके अन्तर्गत राज्य द्वारा व्यक्ति को अछूता छोड़ दिया गया था। उस नीति के प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपतियों का बोलबाला हो गया परिणामतः उन्होंने निर्धन श्रमिकों का शोषण किया। सम्पत्ति का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण होने लगा। एक तरफ अति सम्पत्तिशाली वर्ग उत्पन्न हुआ और दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जो अति परिश्रम के पश्चात् भी अपने जीवन के लिए पर्याप्त साधन नहीं जुटा पाते थे। ऐसी स्थिति में विद्यमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति जॉन रस्किन (John Ruskin), कार्लायल (Carlyl), एवं विलियम गॉडविन (William Godwin) आदि विद्वानों द्वारा की गयी। बुद्धिजीवियों के एक बड़े भाग द्वारा यह मांग की गयी कि जनता के बहुसंख्यक वर्ग की दुर्दशा का मूकदर्शक बने रहने की बजाए राज्य इस स्थिति के सुधार के लिये सक्रिय कदम उठा सके, इसके लिए उसे केवल पुलिस राज्य होने की बजाए लोक-कल्याणकारी राज्य होना होगा।

2. पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया एवं मार्क्सवाद का उदय

पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण के विरुद्ध उठी आवाज बढ़ती गयी और यह विचारधारा प्रबल होने लगी कि कला, व्यापार एवं कृषि आदि सभी प्रकार के उत्पादन का श्रेय उन व्यक्तियों को है जो कारखानों एवं खेतों में काम करते हैं। यह श्रेय उन थोड़े से पूंजीपतियों को नहीं है जो कारखानों या खेतों के मालिक हैं। इस व्यवस्था को नष्ट करने के उद्देश्य से ही 1848 में कार्लमार्क्स एवं एंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) प्रकाशित किया। इस विचारधारा का क्रियात्मक रूप सर्वप्रथम रूस में देखने को मिला जहाँ 1996 में महान क्रान्ति ने जार के अत्याचारी शासन को समाप्त कर दिया। तमाम आन्तरिक एवं बाहरी विरोधों के बावजूद सोवियत रूस में सुव्यवस्थित रूप से साम्यवादी शासन-व्यवस्था स्थापित हो गयी। यह साम्यवादी व्यवस्था निश्चित रूप से पाश्चात्य देशों में प्रचलित पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एवं उनके लिये भय का एक कारण थी। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी देशों में विचार होना प्रारंभ हुआ। तत्पश्चात्

वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विद्यमान व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इसमें कुछ मौलिक परिवर्तन किया जाना आवश्यक है तथा उस व्यवस्था को बदलने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि राज्य के तत्कालीन पूंजीवादी स्वरूप को बदला जाय और उसे लोक-कल्याणकारी राज्य बनाया जाए।

3. विकासवादी समाजवाद का उदय

19वीं एवं 20वीं शताब्दी में समाजवाद का एक अन्य रूप 'विकासवादी समाजवाद' का प्रभाव बढ़ने लगा। वर्ग-संघर्ष एवं हिंसक क्रांति के स्थान पर वर्ग-सहयोग, लोकतंत्र एवं संवैधानिक विकास के माध्यम से भी समाजवादी उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है, मार्क्सवाद के विरोध में इस विचारधारा का उदय उन देशों में हुआ जो लोकतांत्रिक व्यवस्था के पोषक थे। विकासवादी समाजवाद के समर्थकों ने इस बात को विधिवत प्रतिपादित किया कि राज्य की लोकतंत्रीय व्यवस्था का प्रयोग उन वर्गों की दशा सुधारने के लिए किया जा सकता है, जो पिछड़े हुए हैं तथा यह कार्य राज्य को लोक-कल्याणकारी बनाकर किया जा सकता है।

4. मताधिकार एवं लोकतंत्र का विस्तार

18वीं शताब्दी के अन्त तक लोकतंत्रीय राज्यों में भी मताधिकार सीमित था। सम्पूर्ण जन-समूह शासन में सहभागी नहीं था, जिससे राज्य के पिछड़े वर्गों के हितों की रक्षा नहीं हो पाती थी। लेकिन 1832 के सुधार कानून से ब्रिटेन

में मताधिकार का विस्तार होने लगा और 20वीं शताब्दी में भारत आदि राज्यों में वयस्क मताधिकार को अपना लिया। परिणामस्वरूप अधिकांश जनता शासन में सहभागी हुई, जिससे उनके हितों की उपेक्षा करना संभव नहीं रहा। राज्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि पिछड़े वर्गों की स्थिति सुधारने के लिये अपने को लोक-कल्याणकारी बनाये, जिससे जनता को राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें और लोकतंत्र का महत्व बढ़े।

लोक-कल्याणकारी राज्य क्या है?

लोक-कल्याणकारी राज्य के स्वरूप को समझने के लिए लोक-कल्याण का राजनीतिशास्त्र में क्या अर्थ है, लोक-कल्याण क्यों तथा किसका होना चाहिये अथवा उसका सम्पादन किस प्रकार तथा कैसी राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जा सकता है। राजनीतिशास्त्र में जब लोक-कल्याण की बात करते हैं तो उसका अर्थ व्यक्ति का कल्याण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के हित अलग-अलग होते हैं। व्यक्तियों के हित अनेक प्रकार के होते हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य में लोक-कल्याण का अर्थ है कि राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति की असमानता को दूर कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी समुदाय-विशेष, वर्ग विशेष अथवा समाज के किसी भाग-विशेष का हित-साधन नहीं होता बल्कि उसका उद्देश्य जनता के सभी अंगों के कुछ आवश्यक हितों की साधना है। टी.

डब्ल्यू. कान्ट (T.W. Kant) ने लोक-कल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा है— लोक-कल्याणकारी वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिये व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है। (Welfare state is a state that provides for its citizens, a wide range of social service.) इन समाज-सेवाओं के अनेक रूप होते हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, वृद्धावस्था पेंशन आदि की व्यवस्था होती है। उनका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है। डॉ. अब्राहम (Dr. Abraham) ने लोक-कल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है। (A welfare state is a community, where state's power is deliberately used to modify the normal play of economic forces, so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen.)

पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि लोक-कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों एवं गरीबों के मध्य अन्तर समाप्त करना और जीवन-स्तर को ऊपर उठाने का प्रयत्न करना है। न्यायमूर्ति छागला ने लोक-कल्याणकारी राज्य के सम्बन्ध में कहा है कि लोक-कल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे पुल का निर्माण करना है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सकें, जो

उत्थानकारी एवं उद्देश्यपूर्ण हो। लोक-कल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिक द्वारा सच्ची स्वतंत्रता के उपयोग को संभव बनाना है।

लोक-कल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार। राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बन्धन माना जाता है, परन्तु लोक-कल्याणकारी राज्य का अर्थ होता है राज्य के कार्यक्षेत्र का ऐसा विस्तार जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बन्धन नहीं लगे तथा राज्य के कार्य-क्षेत्र के साथ ही साथ व्यक्ति का भी अपना स्वतंत्र कार्य-क्षेत्र हो। विशेषतः लोक-कल्याण से तात्पर्य है मनुष्य का सर्वांगीण कल्याण, जिसमें उसके सामाजिक, नैतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी प्रकार के हितों की साधना आ जाती है तथा जिसकी प्राप्ति केवल राजकीय प्रयत्नों द्वारा ही नहीं हो सकती, अपितु उसके लिये मनुष्यों में सामाजिकता की उस भावना का उत्पन्न होना भी आवश्यक होता है जिससे लोग एक-दूसरे के लिये कार्य करना अपना कर्तव्य समझने लगते हैं।

लोक-कल्याणकारी राज्य के लक्षण

लोक-कल्याणकारी राज्य मनुष्य के सर्वांगीण कल्याण का कार्य करता है। मुख्यतया प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली इसके लिये उपयुक्त मानी जाती है। परन्तु हमारे प्राचीन 'राम राज्य' के विचार के अनुसार राजतंत्र में भी लोक-कल्याण होता था, जिसमें राजा को प्रजा पिता के समान समझती थी तथा राजा के लिये प्रजा का कल्याण ही सर्वोपरि था।

अठारहवीं शताब्दी के यूरोप में राजा अपने को प्रजा का प्रथम सेवक मानता था। वर्तमान में समाजवादी या प्रजातंत्रात्मक सरकार का सच्चा स्वरूप वह माना जाता है, जिसमें व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, बौद्धिक तथा नैतिक आदि सब प्रकार के हितों की साधना हो सके और साथ ही साथ जिसमें वह किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह-विशेष की कृपा से कुछ प्राप्त करनेवाला व्यक्ति न हो, अपितु उसे स्वयं अपने परिश्रम तथा प्रयत्न से स्वतंत्रतापूर्वक लोकहित के संदर्भ में निजी हित की साधना का अवसर प्राप्त हो। इस धारणा को ध्यान में रखते हुए लोक-कल्याणकारी राज्य के अग्रलिखित लक्षण माने जाते हैं:-

1. आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था

नागरिकों को स्वस्थ बनाये रखने के लिए उनके अधिकार के रूप में उनके लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। आवास, वस्त्र आदि के न्यूनतम स्तर की ओर से उन्हें चिन्तामुक्त होना चाहिए। शिक्षा का उन्हें पूर्ण एवं समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। उन्हें जीवन का आनन्द भोगने के लिये आकाश एवं समुचित साधन मिलने चाहिए। बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दुख से उनकी रक्षा होनी चाहिए। सर्वोपरि बात यह है कि बच्चों का जन्म माता-पिता के लिए दुखों का, बच्चों के लिए कष्टों का तथा सबके लिए निर्धनता का कारण नहीं बनने दिया जाना चाहिए। नागरिकता के अधिकार द्वारा व्यक्ति को ही इन सभी वस्तुओं की प्राप्ति होनी चाहिए। यदि किसी राज्य में इसकी व्यवस्था है तो वह कल्याणकारी राज्य है।

यह सर्वमान्य है कि शासन का रूप चाहे जो भी हो, व्यवहार में राजनीतिक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में केन्द्रित रहती है, जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होते हैं, अतः राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में निहित करने और जनसाधारण के हित में इसका प्रयोग करने के लिये आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है।

लोक-कल्याणकारी राज्य में आर्थिक सुरक्षा का तीन बातों से गहरा सम्बन्ध है-

(क) सभी व्यक्तियों को रोजगार

लोक-कल्याणकारी राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को जो समाज में जन्म लेते हैं जीवन-सम्बन्धी सुख प्राप्त करने का समान अधिकार होता है और किसी व्यक्ति के सुख का अन्य किसी व्यक्ति के सुख के लिए हानन नहीं किया जा सकता और न किसी व्यक्ति को दूसरे से कम महत्व ही दिया जा सकता है। ऐसे सभी व्यक्तियों जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, को राज्य के द्वारा उनकी योग्यतानुसार उन्हें किसी-न-किसी प्रकार का कार्य अवश्य दिया जाना चाहिये। जो व्यक्ति किसी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य प्रदान नहीं कर सकता उनके जीवन-यापन के लिए राज्य द्वारा बेकारी भत्ता या वृद्धावस्था पेन्शन की योजना गारंटी चलायी जानी चाहिए।

(ख) न्यूनतम जीवन-स्तर की गारंटी

लोक-कल्याणकारी राज्य में किसी व्यक्ति के लिए आर्थिक साधनों की

अधिकता होने से पूर्व सभी व्यक्तियों के लिये न्यूनतम जीवन-यापन का स्रोत होना आवश्यक है। इस राज्य में आर्थिक समन्वय का आधार किसी के लिये अधिक होने से पहले सबके लिये पर्याप्त होना आवश्यक है। 'आर्थिक न्यूनतम' के पश्चात् समाज में मनुष्य की सेवा के बल पर उसे जीवन-यापन की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बताया जा सकता, तथापि न्यूनतम तथा अधिकतम में अन्तर कम होना चाहिये। इसमें निरंकुश आर्थिक स्वतंत्रता के स्थान पर इसके सदस्य (लोक-कल्याणकारी राज्य के) एक नियंत्रित आर्थिक स्वतंत्रता का जीवन बिताने का अभ्यस्त बनें।

(ग) अधिकतम समानता की स्थापना

सम्पत्ति एवं आय के स्रोत की समानता न तो संभव है और न वांछनीय तथापि आर्थिक न्यूनतम के पश्चात् होने वाली व्यक्ति की आय उसके समाज-सेवा-सम्बन्धी कार्य में उचित अनुपात होना चाहिये। जहाँ तक संभव हो, व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में अत्यधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कोई भी मनुष्य अपनी सम्पत्ति के माध्यम से दूसरे का शोषण न कर सके। अर्थ के आधार पर मनुष्य को महत्व नहीं दिया जाना चाहिये। आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए राज्य की ओर से कार्यक्रम चलाया जाना चाहिये। राज्य उन योजनाओं पर ज्यादा व्यय करें जो दलितों एवं गरीबों के लिये बनी हैं।

2. राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था

लोक-कल्याणकारी राज्य के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति की राजनैतिक सुरक्षा की व्यवस्था करे, व्यक्ति को योजनाओं में सहभागी बनाये जिससे राज्य के विकास में व्यक्ति स्वयं भाग ले सके। अपनी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि पड़ोसी की सुरक्षा की जाय। यदि पड़ोसी की सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी, तो अपनी सुरक्षा भी डगमगाने लगेगी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अग्रलिखित मुद्दों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(क) लोकतंत्रीय शासन

लोक-कल्याण की साधना किसी अधिनायकवादी, फासीवादी या साम्यवादी राज्य में भी हो सकती है जैसा कि रूस एवं चीन जैसे साम्यवादी राज्यों में व्यापक लोक-कल्याण हो भी रहा है परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वहाँ आर्थिक सुरक्षा की बेदी पर व्यक्ति को अपनी राजनीतिक सुरक्षा का, उसके व्यक्तित्व के महत्व का व्यापक बलिदान करना पड़ता है। लोक-कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के राजनीतिक हितों की साधना को भी आर्थिक हितों की साधना के समान ही समझा जाता है। अतः एक लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था वाला राज्य ही लोक-कल्याणकारी राज्य हो सकता है, क्योंकि प्रजातंत्र समाज तथा शासन-सम्बन्धी सामान्य नीतियों पर आधारित होता है।

(ख) नागरिक स्वतंत्रता

लोक-कल्याणकारी राज्य का यह दायित्व होता है कि व्यक्ति स्वयं राज्य

के लोकहित के कार्य करे और सामान्य हित पर अपनी व्यक्तिगत योग्यता में वृद्धि करने योग्य हो, इसकी व्यवस्था करे। संविधान द्वारा लोकतंत्रीय शासन की स्थापना कर देने से ही राजनीतिक सुरक्षा नहीं प्राप्त हो जाती। व्यवहार में राजनीतिक सुरक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक स्वतंत्रता का वातावरण होना चाहिये अर्थात् नागरिकों को विचार-अभिव्यक्ति और राजनीतिक दलों के संगठन का अधिकार होना चाहिये। इन स्वतंत्रताओं के अभाव में लोक-कल्याण की साधना नहीं हो सकती। लोक-कल्याण की साधना के अभाव में लोक-कल्याणकारी राज्य प्रभावशाली नहीं हो सकता।

3. सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक सुरक्षा की दिशा में लोक-कल्याणकारी राज्यों को चाहिये कि वह उन सभी प्रकार के व्यक्तिगत भेदों को दूर करे, जो जाति, वंश अथवा रंग आदि पर आधारित होते हैं। इसके माध्यम से सामाजिक समानता उत्पन्न करे। लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जो समाज में जन्म लेता है उसे जीवन-सम्बन्धी सुख प्राप्त करने का समान अधिकार होता है। किसी के सुख का हनन अन्य के सुख के लिये नहीं किया जा सकता तथा किसी भी व्यक्ति को दूसरे से कम महत्व का नहीं समझा जा सकता। यथासंभव लोक-कल्याणकारी राज्य अपनी संस्थाओं तथा कानूनों द्वारा व्यक्ति के लिए कानून-सम्बन्धी समानता तथा अपनी उन्नति की अवसर-सम्बन्धी समानता की व्यवस्था करे।

4. अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की भावना

लोक-कल्याणकारिता का विचार मात्र राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी होना चाहिये। यदि कोई राज्य-विशेष यह समझे कि वह विश्व के अन्य राज्यों में दरिद्रता का साम्राज्य होते हुए भी अपने यहाँ समाज-सेवाओं की उच्च व्यवस्था रख सकता है अथवा अन्य राजाओं के हित के बलिदान पर अपना हित-साधन कर सकता है, तो वह उसकी सबसे बड़ी भूल होगी। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि एक स्थान की दरिद्रता से प्रत्येक स्थान की समृद्धि के लिये भय बना रहता है। राष्ट्रीय लोक-कल्याण की साधना को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी राज्य-विशेष के कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण का भी ध्यान रखा जाए। विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं सह-अस्तित्व से काम लिया जाय। केवल राष्ट्रीय स्तर पर कल्याण की बात करना लोक-कल्याणकारी राज्य के लिये पर्याप्त नहीं है।

आज अफ्रीका एवं एशिया के जहाँ तक नये लोकतंत्र का सम्बन्ध है लोक-कल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति एकमात्र जीवनदायिनी शक्ति कही जा सकती है। वर्तमान समय में राज्यों के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा योजना, कृषि उत्पादक वस्तुओं की कीमत में सहायता, निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा की व्यवस्था, आवास की व्यवस्था, श्रम-कल्याण योजना, प्राकृतिक साधनों के विकास, बेकारी भत्ता, वृद्धावस्था-पेंशन आदि कार्य किये जाते हैं। बदलती हुई परिस्थिति में लोक-कल्याण की

प्रवृत्ति ने लोकतंत्र के रक्षक के रूप में कार्य किया है।

संदर्भ

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, जे. सी. जौहरी।
2. राजनीति विज्ञान का सिद्धान्त, शैलेन्द्र सेंगर।
3. भारतीय प्रशासन, डा. होशियार सिंह।
4. भारतीय शासन एवं राजनीति, डा. सी. पी. शर्मा
5. प्रशासनिक शब्दावली, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग।
6. Gardner W.: *Massachusetts Privateers of the Revolution*, Boston, Massachusetts Historical Society, 1927.
7. Geoffrey Edwards and Helen Wallace: *The Council of Ministers of the European Community and the President-in-Office*, London, Federal Trust for Education and Research, 1977.
8. Ghabbour, E. A.: *Humic Substances: Structures, Properties and Uses*, Royal Society of Chemistry, Cambridge, 1998.
9. Harris, H. S.: *Hegel's Development: Towards the Sunlight 1770-1801*, Oxford, Clarendon Press, 1972
10. Harvey C. Mansfield: *Statesmanship and Party Government: A Study of Burke and Bolingbroke*, Chicago, U of Chicago P, 1965.
11. Adas, Michael : *Machines as the Measure of Men: Science, Technology, and Ideologies of Western Dominance*, Ithaca,

Cornell University Press, 1989.

12. Agnew, John and James Duncan, eds. *The Power of Place: Bringing Together Geographical and Sociological Imaginations*. Boston: Unwin Hyman, 1989.
13. Ahmad, Imtiaz : *Caste and Social Stratification Among Muslims in India*, New Delhi, Manohar, 1978.
14. Cooper, Barry: *Eric Voegelin and the Foundations of Modern Political Science*, University of Missouri Press, 1999.
15. Das, Kamal Kishore : *Economic History of Moghul India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*, Calcutta, Santiniketan, 1991.
16. Desai, A.R. : *Social Background of Indian Nationalism*, Bombay, Popular Prakashan, 1966.
17. Donaldson, Gordon A. : *Cultivating Leadership in Schools*, New York, College Press, 2001.
18. Doniger, Wendy : *Textual Sources for the Study of Hinduism*, New Jersey, Barnes and Noble, 1988.
19. Duignan, P.A. : *The Ideal and the Ethics of Authenticity in Leadership*, Orlando, Florida, 1997.
20. Erickson, Erik H.P. : *Gandhi's Truth: On the Origins of Militant Nonviolence*, New York, Norton, 1970.

प्रभारी प्राचार्या, पवनधारी सिंह
महिला इंटर कॉलेज, मुजफ्फरपुर

नागार्जुन और प्रगतिशील हिन्दी कविता

शशांक शेखर

नागार्जुन की रचनाशीलता से गुजरते हुए हम जब 'प्रगतिशील हिन्दी कविता' में उनकी अहमियत को परखने का प्रयास करते हैं तो प्रेमचंद का कथन याद आता है कि लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है। नागार्जुन का व्यक्तित्व एक विवादास्पद व्यक्तित्व रहा है। उनकी रचनाधार्मिता पर तीव्र आघात हुए हैं (वे बौ) थे या हिन्दू (कापालिक थे या अवधूत) वामपंथी थे या नक्सलवादी और यहाँ तक कि उन्हें प्रतिक्रियावादी और अवसरवादी भी कहा गया है। बाबा नागार्जुन को हमेशा अपनी बेबाकी के चलते जोखिम का सामना करना पड़ा। नागार्जुन की प्रगतिशीलता का एक महत्वपूर्ण पहलू उनका अपना व्यक्तित्व है जिसके चलते नागार्जुन अपने समान-धर्म कवियों में विशिष्ट हैं। खासतौर से आत्म-व्यंग्य मुझे प्रिय है जिसमें नागार्जुन अपनी सूरत-शक्ल और वेशभूषा पर हंसते हैं, बाबा नागार्जुन जब पैसठ साल के हैं तो अपने को 'सत्तर साला' बताते हैं। "यह बनमानुस/यह सत्तर साला उजबक। उमंग में भरकर सिर के बाल नोचने लग जाता है यह व्यक्ति अपने ही सिर के बाल/अकेले में बजाने लग जाता है सिटियाँ आए दिन।"

'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' शीर्षक कविता में बहुत दिनों के बाद गाँव में उगते सूरज को देखकर कहते हैं (सोते ही बिता देता हूँ शत-षट प्रभात/छूट -सा गया है जनपदों को स्पर्श/ (हाय रे आंचलिक कथाकार!) नागार्जुन ही यह कहने का साहस रखते हैं कि (मैं ऊब गया हूँ इस अतिरिक्त यश सें। जी करता है, कभी-कभी कि कोई ऐसा तगड़ा कुकर्म करूँ जिससे पिछली सारी शोहरत धुल-पुंछ जाए।"²

ठीक इसी तरह अपने ऊपर व्यंग्य केदारनाथ अग्रवाल करते हैं : वह सावन है बाहर से, भीतर से पतझड़। (गुल मेंहदी, पृ0 176) एक कविता में कहते हैं "अब तक अकेला

में अकेला हूँ विरिक्त के मुँह में/त्रिकाल को भोगता दिन के साथ उड़ता/शाम के साथ ढलता/रात के साथ रोता।³

डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है "नागार्जुन और केदार के नुकीले व्यंग्य कितने प्रभावशाली हैं। इसे जनता के दुश्मन भी जानते हैं। हिन्दी कविता में व्यंग्य या तो निराला ने लिखे या फिर नागार्जुन और केदार ने।"⁴

नामवर जी का ऐसा मानना स्वभाविक है, क्योंकि निराला की परम्परा केदार और नागार्जुन की रचनाओं में विकसित हुई है। निराला ने जो कलात्मक गद्य-पद्य लिखा है उस पर वामपंथी विचारधारा का गहरा असर है। प्रगतिशील हिन्दी कविता में 'नये पत्ते' की कविताओं का विशेष महत्व और योगदान रहा है और अब भी है।

प्रभाकर माचवे ने बेला और नये पत्ते की समीक्षा में लिखा है कि 'महँगू महँगू रहा' आदि "ये सब कविताएँ") मार्क्सवादी विवेचना कविता के पुट में हैं। इनमें व्यंग्य बहुत तीक्ष्ण और कचोट भरा है। प्रगतिशील कविताओं की ये सब कविताएँ बहुत उत्तम उदाहरण हैं.. निराला के नये दो काव्य ग्रंथ टालने की वस्तुएँ नहीं... वे बहुत सप्राण रचनाएँ हैं। उनका युगमूल्य है।⁵

नागार्जुन और प्रगतिशील कवियों का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू प्रतीत होता है जनपदीयता और जनपदीय भाषा का प्रयोग। नागार्जुन की कविता जन-जीवन में रची-बसी है। लोक चेतना से जुड़कर नागार्जुन जीवनधर्मी बिम्ब तलाशते हैं। जनपदीय भाषा के माध्यम से ग्राम की प्रकृति और लोक-संस्कृति, उत्सवधर्मिता का सूक्ष्मता से चित्रण करते हैं।

'बहुत दिनों के बाद' शीर्षक कविता में कवि लिखता है-
बहुत दिनों के बाद

अब की मैं जी-भर छू पाया

अपनी गँवई पगडण्डी की चंदन वर्णी धूल। गाँव-संबन्धी चेतना का एक ठोस मजबूत वैचारिक आधार है:- "सुबह-सुबह/तालाब के दो फरे लगाए/सुबह-सुबह अद्य सूखी पतइयों का कौड़ा तापा/सुबह-सुबह/आम के कच्चे पत्तों का/जलता, कसैला सौरभ लिया/घेरे में बैठने-बतियाने का सुख-लूटा/गवई अलाव के निकट।"

‘सिन्दूर तिलकित भाल’, ‘तु सन्धि’ ‘एक मित्र को पत्र’ आदि कविताओं में गाँव से बिछुड़ने की पीड़ा उन्हें सालती रहती है। अतिशयोक्ति नहीं है कि नागार्जुन लोक-जीवन के कवि हैं। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है “हिन्दी में नागार्जुन से पहले और पीछे ग्राम प्रकृति के प्रति उत्सव और उल्लास का यह स्वर सुनने को नहीं मिलता। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उत्सवधर्मिता जनकवि नागार्जुन की वर्ग चेतना का आधार कोई अमूर्त विचार प्रणाली या राजनीति का फौरी कार्यक्रम नहीं, बल्कि ठेठ जन जीवन है-जीवन्त ‘लोकधर्म’।⁶

केदार नाथ अग्रवाल की कविताएँ लोक-संस्कृति की उपज हैं, वे लोक-संस्कृति को समृद्ध करती हैं। केदार अपने अंचल के किसान से सीधे अवधी में बात करते हुए ओसौनी का गीत में कहा, दौरी साधौ अन्न ओसावौ अडर उड़ावौ पैरा ताल ठोंकि कै मारि भगावौ जेते ऐरा गैरा।⁷

केदार नाथ अग्रवाल की एक प्रसिद्ध कविता है ‘चित्रकूट के बोड़म यात्री’ इस कविता में उन्होंने गठरी में सतुआ-गुड़ बांधे हुए, तेलही काली बंडी पहने, गठरी को लाठी पर साधे हुए ढेर के ढेर यात्रियों को स्वर्ग पहुँचने की इच्छा से लंबे-लंबे कदम धरते चित्रित किया है। लोकगीतों की अनगूँज केदार के गीतों में देखने को मिलती है ‘काटो, काटो, ‘करबी’ मारो, मारो हँसिया, किसानों का गाना, जुताई का गाना’, ‘आग लगे इस राम-राज में’ आदि कविताओं ने कलात्मक प्रतिभा का उत्कर्ष दिखलायी पड़ता है।

केदार की ग्राम संवेदना नागार्जुन से भिन्न है खासतौर से ग्राम्य जीवन के

परिदृश्य को राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य से जोड़कर पूरी तलखी के साथ निर्भमता पूर्वक व्यक्त करने में।

त्रिलोचन की जनपदीयता गहरे अर्थों में ‘स्थानीयता’ और परिवेश के भूगोल का आख्यान है। त्रिलोचन पूरे आत्मविश्वास से कहते हैं कि पृथ्वी मेरा घर है। अपने इस घर को अच्छी तरह मैं ही नहीं जानता इस घर में दुब्बी, पाँचू, टिक्कुल बाबा आदि सब रसे-बसे हैं। त्रिलोचन उस जनपद के कवि हैं जो ‘भूखा-दूखा है,’ गंगा है इसलिए वैचारिक स्तर पर उस व्यवस्था को बदलने के लिए संघर्ष करते हैं। नगई महारा, फेरू कहार, भारई केवट सरीखे दर्जनों लोक चरित्रों के भीतर रमकर वे उनकी विशिष्टता को रेखांकित करते हैं।

इस प्रसंग में कवि राजेश जोशी का वक्तव्य काफी महत्वपूर्ण है- “त्रिलोचन की कविता की संरचना हिन्दी भाषा अंचल के लोक साहित्य, उसकी बातचीत और भाषा से इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ी है कि उससे अलग करके रूढ़ साहित्यिक मानदण्डों पर नहीं परखा जा सकता। जीवन की समग्रता और संघर्षों के वह कंचन दर्शक नहीं, उसके हिस्सेदार भी नहीं हैं।”⁸

डा० विश्वनाथ त्रिपाठी मानते हैं कि “नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन तीनों का काव्य जनपदीयता पर टिका है, टिका क्या है, काव्य के रेशे-रेशे में मिला है।”⁸

चकल्लस के प्रसिद्ध कवि बलभद्र दीक्षित ‘पढ़ीस’ का मानना था कि साहित्य आम जनता के लिए होना चाहिए इसी उद्देश्य के कारण संभवतः उन्होंने अवधी में ही अपनी कविताएँ लिखी और अवध

के निर्धन किसानों और दलित जनो से तादात्म्य स्थापित किया। इस चेतना का विकास नागार्जुन में दिखायी पड़ता है। कवि नागार्जुन से एक साक्षात्कार में कहा था-मेरा कवि कर्म आम जनता के लिए है, इसका मतलब बौद्धिक स्तर पर दर्जा चार तक पढ़ी हुई जनता से है।⁹

नामवर सिंह लिखते हैं इस दशक की कविता के भाव और रूप निर्माण में जन बोलियों के साहित्य ने बड़ा काम किया। बलभद्र दीक्षित ‘पढ़ीस’, चन्द्र भूषण त्रिवेदी, बिसराम, रामकर, वंशीधर शुक्ल आदि बोली के कवियों ने इस युग के श्रेष्ठ कवियों को लोकतत्व की अक्षय सामग्री दी।¹⁰

नागार्जुन और प्रगतिशील हिन्दी कविता की तीसरी खासियत सामाजिक यथार्थ दृष्टि रही है। ‘ग्राम्य’ की रचना करते समय पन्त जी कहते हैं।

देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन-मन से मैं शोध र्थी के रूप में महसूस करता हूँ कि ऐसी सामाजिक यथार्थ-दृष्टि का सबसे ऊँचा स्वर पहली बार सुनने को मिला। आधुनिक हिन्दी कविता के यथार्थवाद की ओर पहला सजीव प्रयत्न था। ‘ग्राम्या’ में नागरिक जीवन का चित्रण है और मध्यवर्गीय ढाँगों पर तेज रोशनी डाली गई है। इसी तरह की निराला की एक लम्बी कविता ‘देवी सरस्वती’ बेजोड़ कविता है। ‘राजे ने अपनी रखवाली की, झींगुर डटकर बोला, महँगू महँगा रहा, कुत्ता भोंकने लगा/कुकुर-मुत्ता, आदि कविताएँ देश की क्रूर प्रशासनिक व्यवस्था पर ही नहीं वरन् स्वाधीनता आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्तियों पर भी खुलकर

आक्षेप करती हैं। सामाजिक यथार्थ की परम्परा को राम विलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन तथा त्रिलोचन ने आगे बढ़ाया। यद्यपि अनेक कवियों ने इस युग में प्रसिद्ध कविताएँ लिखी हैं जिनका युगांतकारी महत्व है। डॉ. राम विलास शर्मा अपनी कविता 'सिलहार' में श्रमिकों की दयनीय स्थिति का चित्र खींचते हैं:

फटे अँगोछों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते,
खेत कटाई की मजदूरी, इन्हीं ने
जोता बोया सींचा भी था खेत को!¹¹

डा. राम विलास शर्मा ने केदार नाथ अग्रवाल को श्रम का सूरज माना है। केदार ने श्रम करते हुए मनुष्यों पर जितना लिखा है उतना हिन्दी के बहुत कम कवियों ने लिखा होगा। गंगा के किनारे मछुआरे मगर को घेरे हैं, कुल्हाड़ी से/माँस काटकर रींघते हैं। और गरम ही गरम चबाके/भूख पेट की मिटा रहे हैं!¹²

एक कविता में कवि श्रम प्रक्रिया का वर्णन करता है।

मेरे खेत में हल चलता है। फाड़
कलेजा गड़ जाता है।

तड़-तड़ धरती तड़काता है। राह
बनाता बढ़ जाता है!¹³

त्रिलोचन में सामाजिक चेतना का उभार केदार और नागार्जुन का-सा तो नहीं मिलता लेकिन परम्परा वही है जिसमें मूलतः एक किसान कवि का हृदय बोलता है। त्रिलोचन एक कविता में बताते हैं कि-

जो लुटे हैं
वह भीतर हाय को
भीतर-भीतर माँजते जाएँगे।

त्रिलोचन की कविता की जड़ों की शिनाख्त करते हुए युवा कवि बद्रीनारायण ने लिखा है: "लोक में भरी अनवरत ऊर्जा, प्रतिरोधी के तत्व, दैनंदिन जीवन की गतिमयता को त्रिलोचन की कविताओं की रैडिकल व्याख्याओं में देखा जा सकता है। नन्दी ग्राम एवं दादरी के प्रतिरोध को आत्महत्या कर रहे किसानों की निराशा के साथ रखकर अगर हम देखें तो त्रिलोचन की कविता का एक नया अर्थ हमारे लिए खुलता है।"¹⁴

नागार्जुन की सामाजिक चेतना पहाड़ पर भी जगी रहती है, तभी 'वे सुन रहा हूँ' और 'मैंने देखा' जैसी कविताएँ लिख पाते हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि "नागार्जुन ने ऐसी कविता लिखी है जिसमें भारतीय जन-जीवन के सुख-दुख, पीड़ा और संघर्ष की ऐसी भाषा में अभिव्यक्ति है, जो जनता के मन-मस्तिष्क तक सीधे पहुँचने में सक्षम है। इसीलिए नागार्जुन की कविता जन-जीवन में रची बसी कविता है। "वे जन-आन्दोलन के कवि हैं। इसलिए वे जनता के कवि भी हैं।"¹⁵

'देखना ओ देखना मईया, शाल वनों के निबिड़ टापू में, लाल भवानी, खुरदरे पैर, पछाड़ दिया मेरे अस्तिक ने, प्रतिबद्ध हूँ आदि कालजयी कविताओं की गूँज जन मानस में मौजूद रहेगी।

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी में दलित साहित्य, स्त्री-स्वतंत्रता, आदिवासी जीवन पर जो बहस हो रही है। प्रगतिशील कविता के बीज निहित है। उपर्युक्त विवेचन विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रगतिशील कविता में समाज में व्याप्त रूढ़िवाद की तीखी आलोचना थी, तो सांप्रदायिकता और

जातिवाद के जहर की भर्त्सना का भाव था। नागार्जुन की कविताओं में मनुष्य के शोषण के तीनों रूपों साम्राज्यवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध तीव्र रोष का भाव दिखायी देता है।

एक तथ्य, जिसकी ओर सहसा ध्यान नहीं जाता, यह है कि तात्कालिक विषय पर कविता लिखना एक खतरनाक काम है। अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता इसलिए प्रगतिशील कविता और नागार्जुन की चौथी खासियत है सामयिक समस्याओं पर कविता।

विष्णु खरे ने लिखा है "एक दृष्टि से नागार्जुन तात्कालिकता के कवि हैं किन्तु उनकी तात्कालिकता ठण्डी बेजान, रोषहीन, तात्कालिकता नहीं है।"¹⁶

गांधी की हत्या पर नागार्जुन ने 'तर्पण' और 'शपथ' जैसी कविताएँ लिखी तो नेहरू की मृत्यु 'झुकती स्वराज की डाल और/तुम रह जाते दस साल और जैसी कविता लिखी। सन् 54 में झण्डा गीत लिखा 'दस हजार, दस लाख मरें, पर झण्डा ऊँचा रहे हमारा!/कुछ हो कांग्रेसी शासन का झण्डा ऊँचा रहे हमारा। नामवर सिंह ने लिखा है "व्यंग्य की इस विदग्धता ने ही नागार्जुन की अनेक तात्कालिक कविताओं को कालजयी बना दिया है, जिसके कारण वे कभी बासी नहीं हुईं और अब भी तात्कालिक बनी हुई हैं।"¹⁷

नागार्जुन लिखते हैं कवि हूँ सच है। किन्तु क्षणिक तथ्यों को यों अवहेलित करके शाश्वत की सीमान्त/कभी क्या छू पाऊँगा? नागार्जुन की अनेक राजनीतिक कविताएँ घोर समसामयिकता या एक तरह की तात्कालिकता का

आभास देती है। कवि राजेश जोशी लिखते हैं “उनकी कविता एक घटना का बयान भर लग सकती है लेकिन उनका रचनालोक जीवन की विविधताओं से भरा विराट संसार हमारे सामने खोलता है। वह हमें महज अपने विस्तार से विस्मित नहीं करता, केले के तने की तरह उसमें हमारी वास्तविकता परत-दर-परत उद्यड़ती प्रकट होती है।¹⁸

जहाँ तक मैं समझता हूँ नागार्जुन की कविता में अनगढ़ता तथा बेतरतीबी के पीछे अनुभूति का और विचारों का पैनापन छिपा है इसीलिए उनकी प्रत्येक कविता नयी और ताजी है और अमूलतः दूसरी कविता से भिन्न है। शिवकुमार मिश्र की पंक्ति से अपनी सहमति जाहिर कर रहा हूँ “नागार्जुन की, ऊपर से सरल और सपाट दिखायी पड़ने वाली रचनाएँ हीं, अपनी व्यंजना में, और अपने रचाव में, सबसे अधिक सक्षम और तकलीफ देह हैं।”¹⁹

मेरी दृष्टि में सबसे मूल्यवान प्रगतिशील कवियों का दाम्पत्य प्रेम है जिसकी चर्चा बिना मेरी कोशिश रस्म-अदायगी होगी। डा0 नामवर सिंह का मानना है कि “प्रगतिशील कविता में जो स्वस्थ सामाजिक पारिवारिक प्रेम व्यक्त हुआ है, वह प्रयोगवाद के स्वैराचार और कुण्ठा भरे काव्य में नहीं मिल सकता। इसके आगे लिखते हैं प्रगतिशील कवि का प्रेम इतना स्वस्थ और स्फूर्तिदायक इसलिए है कि वह प्रेम को सम्पूर्ण जीवन का अंग समझकर अनुभव करता है।”²⁰

नागार्जुन की दाम्पत्य प्रेम की कविताओं में दम्पति का एकालाप नहीं है, सब कुछ को परे हटाकर, दीन-दुखिया से बेखबर, अपना एक अलग संसार बसाने की रोमानी मानसिकता नहीं, यहाँ

भी अपनी धरती, घर-द्वार, गाँव-जवार के आत्मीयों का स्नेहपूर्ण स्मरण और उनके साथ भी मार्मिक संवाद है। आचार्य शुक्ल मानते थे कि प्रेम साहचर्य का प्रतिफल होता है, और साहचर्य जितना लम्बा होगा प्रेम उतना ही परिपुष्ट और प्रगाढ़ होगा। ठीक इसी तरह नागार्जुन का प्रेम वृद्धावस्था का घनीभूत, केन्द्रित और प्रगाढ़ हुआ दाम्पत्य प्रेम है। ‘यह तुम थी कविता में नागार्जुन कहते हैं:

कर गई चाक
तिमिर का सीना
जोत की फाँक
यह तुम थीं

‘सिन्दूर तिलकित भाल’ कविता दाम्पत्य प्रेम पर सारगर्भित कविता है जिसमें प्रवास के दिनों में कवि को अपनी प्रियतमा पत्नी और ‘सिन्दूर तिलकित भाल’ की याद आती है और उसके साथ याद आता है अपना प्यारा अंचल, प्यारी धरती, उसके लोग और उसकी प्रकृति, कमल-कुमुदिनि-तालम खान सब। शायद इसलिए नागार्जुन को धरती का जन का, जन की आशाओं-आकांक्षाओं और उसके श्रम का कवि कहा गया है।

त्रिलोचन अनुभव करते हैं कि मुझे जगत जीवन का प्रेमी बना सका है प्यार तुम्हारा। एक कविता में कवि कहता है-

“जड़ता है जीवन की पीड़ा!
निस्तरंग पाषाणी क्रीड़ा तुमने अनजाने
वह पीड़ा।

कवि के सर से दूर भगा दी।”
एक प्रेम कविता ‘मेरा घर’ संग्रह से देखें,

सारा दिन घूमा मैं/तुम्हारे साथ/बातें
की/तुमने जो देखा वह मैंने भी
देखा/सराहा उसे जो तुम्हें अच्छा लगा
लगातार²¹

केदारनाथ अग्रवाल को आस्था और संघर्ष के साथ प्रेम और सौन्दर्य का कवि माना गया है। एक कविता में कवि देश, प्रकृति, जी रहा है।

“जिन्दगी अपनी/और तुम्हारी
एक साथ हाथ में लिये हाथ”²²
“दहका खड़ा है (सेमल का
पुरनिया पेड़)”

इस पंक्ति में जनता अप्रत्यक्ष दिखाई देती है। केदार की दाम्पत्य प्रेम की कविताएं काल को भी चुनौती दे डालती हैं-

“प्यार तुम्हारा/प्रबल/प्रवर
है मिला मुझे/कर रहा अमर है।
नहीं मिलेगी/विजय काल को
जिसमें व्यापित/हार-हरर हैं।”

एक कविता बहुत प्रसिद्ध है जिसमें केदार कहते हैं।

“हे मेरी तुम/हम जीते हैं।
बिना जिये ही/जीने के एहसास में
जैसे फल के भीतर/फल के पके
स्वाद में।”²³

इस विवेचन से यह स्पष्ट है प्रगतिशील कवियों का प्रेम स्फूर्ति दायक, ठोस एवं वास्तविक है। प्रगतिशील कविता का यही यथार्थवाद है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रगतिशील कविता के विकास और प्रचार-प्रसार में शिवमंगल सिंह ‘सुमन’ नरेन्द्र शर्मा और बच्चन आदि का कमोबेश महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मैथलीशरण गुप्त की ‘जयनी’, भगवती चरण वर्मा की ‘भैसा गाड़ी’ और ‘मानव’ संग्रह की अनेक कविताएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। दिनकर की ‘कुरुक्षेत्र’, ‘हँकार’, सामधोनी इस युग की विशेष उपलब्धियाँ हैं।

मुक्तिबोध, शमशेर, प्रभाकर माचवे, नेमिचंद जैन, जैसे कवियों ने भी प्रगतिशील हिन्दी कविता को लोकख्याति प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इन सृजनकर्मियों की कविताओं को भुलाया नहीं जा सकता।

डॉ. अजय तिवारी ने लिखा है कि “अपनी परम्परा, संस्कृति और जन-जीवन के संघर्षों में रची-बसी होने के नाते प्रगतिशील कविता अपनी जातीय सांस्कृतिक परम्परा का स्वस्थ और स्वाभाविक विकास है। वह केवल मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों का साहित्य नहीं है, यह इस बात से प्रमाणित होता है कि उसके निर्माण में अनेक गैर मार्क्सवादियों का मूल्यवान योगदान है जिनमें वैचारिक विसंगतियों के बावजूद अपनी जनता और संस्कृति से गहरी सहानुभूति है।”²⁴

निष्कर्ष: प्रगतिशील कविता जीवन की समग्रता की कविता है। वह एक मुकम्मल कविता है जिसके दायरे में मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन रूपायित हुआ है और लोक से संपृक्त होकर यथार्थधर्मी रचनाशीलता का रूप निखरा है।

प्रगतिशील कविता में नागार्जुन का जो अवदान है, इतना व्यापक है कि हर पहलू को छू पाने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। नामवर जी के शब्दों में कहें तो “उनकी काव्यभूमि विपुल है और विषम भी”। नामवर सिंह नागार्जुन की कविता का वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं “जो वस्तु औरों की संवेदना को अछूती छोड़ जाती है। वही नागार्जुन के कवित्व की काव्य भूमि है। इस दृष्टि से काव्यात्मक साहस में नागार्जुन अप्रतिम हैं।”²⁵

कभी बाबा नागार्जुन मादा सूअर को मादरे हिन्द की बेटी कहते हैं तो कभी ‘नेवला’ से अपनी आत्मीयता जताते हैं कभी रिक्शा चालक की फटी बिवाईयाँ भूल नहीं पाते तो कभी कटहल देखकर पिहक उठते हैं, कभी बाबा जाँघों पर ताल देकर गा रहे होते हैं दमकिपा, दमकिमा, दमकिया, यानी दलित, मजदूर, किसान पार्टी। इस तरह नागार्जुन ने हिन्दी कविता की भूमि का विस्तार किया है। नागार्जुन की कविता की विविधता ही अन्य समानधर्म कवियों से अपनी-अलग पहचान बनाती है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी की बात से अपनी बात जाहिर करूंगा “नागार्जुन दलितों, शोषितों के उद्धार के लिए राजनीति करते हैं तो उनकी कविता भी उन्हीं को समर्पित है”, जैसी जनवादी राजनीति वैसे ही नागार्जुन जैसे प्रगतिशील कवियों की रचना धर्मिता।”²⁶

संदर्भ

1. नागार्जुन की प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 114, सं० नामवर सिंह राजकमल प्र०, पाँचवा सं०- 2001
2. आजकल पत्रिका, जून 1996 पृ०11
3. पंख और पतवार, पृ० 117
4. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० 81, नामवर सिंह लोकभारती प्र० 1999
5. रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचरिक फ़ूट भूमि, पृ० 229 वाणी प्र० 1990

6. आलोचना, जनवरी-मार्च अप्रैल-जून 81 संपादकीय, फ़ूट 4, मायवर सिंह
7. एक कवि की नोट बुक, राजेश जोशी, पृ० 60, राजकमल प्र०, 2004
8. हंस, दिसम्बर 1998
9. आजकल, जून 1996 पृ० 20
10. आलोचना अंक - 4 (1952) हिन्दी कविता के पिछले दस वर्ष, नामवर सिंह
11. तार-सप्तक स० अज्ञेय ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० 197 आठवाँ सं० 2003
12. गुलमेंहदी पृ० 62
13. पूर्वाद्भूत, पृ० 67
14. आलोचना, अंक छब्बीस, जुलाई-सितम्बर 2007
15. आलोचना की सामाजिकता पृ० 211 मैनेजर पान्डेय वाणी प्र० प्रथम सं० 2005
16. आलोचना जनवरी-मार्च अप्रैल-जून 81
17. नागार्जुन की प्रतिनिधि कविताएँ, संपादकीय नामवर सिंह, राजकमल प्र० पाँचवा सं० 2001
18. एक कवि की नोटबुक, पृ० 32, राजेश जोशी राजकमल प्र०, पहला सं० 2004
19. आलोचना, पृ० 29, जुलाई-सितम्बर, अक्टूबर-दिसम्बर 80
20. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह पृ० 78 1999
21. मेरा घर, पृ० 40, कवि त्रिलोचन राजकमल प्र०
22. हे मेरी तुम, पृ० 67, कवि केंदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्र० इलाहाबाद
23. उपरोक्त
24. प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य, पृ० 315, शब्द पीठ प्र०, प्रथम सं०, 1995
25. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ, भूमिका नामवर सिंह, राजकमल प्र० सं० 2001
26. जनयुग, 11 जून, 1978

कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

01. शताब्दी के अंत की कविता	- नंद किशोर नवल	प्रकाशन संस्थान
02. नागार्जुन की कविता	- अजय तिवारी	वाणी प्र०
03. शष्ट और मनुष्य	- परमानंद श्रीवास्तव	राजकमल
04. समकालीन हिन्दी कविता	- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	राजकमल प्र०
05. हिन्दी की प्रगतिशील कविता	- ललन राय	हरियाणा साहित्य अकादमी
06. नयी कविता और अस्तित्वाद	- राम विलास शर्मा	राजकमल प्र०
07. सापेक्ष (स० महावीर अग्रवाल)	- नागार्जुन विशेषांक	

शोध छात्र, हिन्दी विभाग
वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

अंग्रेजी भूमिकर व्यवस्था तथा प्रशासन

अमित कुमार

1757 ई. में बंगाल पर अधिकार जमाने के बाद अंग्रेजों ने बंगाल के नवाबों द्वारा स्थापित प्रशासन को बने रहने दिया, इसका उपयोग उन्होंने अधिक-से-अधिक धन कमाने के लिए किया। भारत के प्रशासन से अंग्रेज विजेताओं ने अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। कम्पनी चूँकि एक व्यापारी कम्पनी थी इसलिए उसने आयात तथा निर्यात कर से अधिक राजस्व प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी तथा राजस्व का मुख्य स्रोत भूमि कर ही रहा और उसी पर मुख्य बल तथा ध्यान दिया। अंग्रेज भारत को एक बड़ी जागीर मानते थे अर्थात् उद्देश्य यह था कि अधिकाधिक आय के हेतु आर्थिक बँटवाई लेने का प्रयत्न किया जाए। फलस्वरूप किसान के पास केवल कृषि का व्यय तथा उसके श्रम की मजदूरी ही रह जाती थी। इसमें ग्राम पंचायतों की पूर्णतया अवहेलना की गयी। भूमि कर की उन्होंने नीलामी की तथा अधिकाधिक कर देने वाले को भूमि दी। अत्यधिक भूमि कर प्राप्त करना प्रति-उत्पादक सिद्ध होने लगा। बहुत-सी भूमि रिक्त पड़ी रहने लगी तथा कृषि उत्पादन कम होने लगा।

इससे देश में अकाल पड़ने लगे। भारत तथा इंग्लैण्ड की सरकारों ने भूमि-कर प्रणाली पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया तथा अन्त में इसके कुछ परिणाम सामने आए। अंग्रेजों ने भारत में भिन्न-भिन्न भू-राजस्व पद्धतियाँ अपनाईं। अंग्रेजों ने भारत में मुख्यतया तीन प्रकार की भू-राजस्व पद्धतियाँ अपनाईं अर्थात् ज़मींदारी, महालावाड़ी तथा रैयतवाड़ी। इसमें स्थाई ज़मींदारी पद्धति, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, यू.पी. के बनारस खण्ड, उत्तरी कर्नाटक में अपनाई गयी तथा लगभग समस्त अंग्रेजी भारत की 19% भूमि इसके अधीन आई। इधर महालावाड़ी

राजस्व पद्धति यू.पी., मध्य प्रान्त, पंजाब में (कुछ परिवर्तनों के साथ) लागू की गयी जिसके अन्तर्गत 30% भूमि आई जबकि रैयतवाड़ी पद्धति बम्बई तथा मद्रास के अधिकतर भागों में, असाम तथा अन्य भागों में लागू की गयी। और इसके अन्तर्गत लगभग 51% भूमि आई।

स्थाई ज़मींदारी व्यवस्था

इस व्यवस्था में अलग-अलग किसानों और सम्पूर्ण किसान वर्ग की समस्याओं के निपटारे का काम अब ज़मींदार पर छोड़ दिया गया। ज़मींदारी व्यवस्था अंग्रेजों की देन थी तथा इसमें कई उद्देश्य निहित थे। इस पद्धति को जागीरदारी, मालगुजारी, बीसवेदारी, इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से भी स्मरण किया जाता था। इसके अन्तर्गत राज्यों की माँग सदैव के लिए निश्चित कर दी जाती थी। 10 वर्ष से 40 वर्ष के पश्चात अन्य पद्धतियों में भूमि कर में परिवर्तन किए जाते थे। ज़मींदारी पद्धति के अनुसार ज़मींदार को भूमि का स्वामी स्वीकार कर लिया जाता था। वह भूमि को बेच, रेहन अथवा दान में दे सकता था। केवल ज़मींदार को ही राज्य भूमि कर देने के लिए उत्तरदायी समझता था तथा उसके कर न देने पर उसकी भूमि जब्त की जा सकती थी। भूमि कर की माँग बहुत ऊँची निश्चित की गयी। उदाहरण के लिए बंगाल में यह बँटवाई का 89% निश्चित की गयी अर्थात् ज़मींदार के पास 11% बच जाता था। सब से धिनौना पक्ष इस स्थाई व्यवस्था का यह था कि सरकार की माँग तो स्थिर थी परन्तु जो बँटवाई ज़मींदार कृषक से लेता था वह परिवर्तनशील था अतएव कालान्तर में बँटवाई बढ़ा दिया गया। बँटवाई न देने पर कृषकों को बहुधा बेदखल कर दिया जाता था। 1859, 1868 तथा 1885 में पारित किए गये बंगाल बँटवाई अधिनियमों के द्वारा कृषकों को कुछ लाभ अवश्य हुआ परन्तु बहुत नहीं। इस विषय में कुछ इतिहासकारों का विश्वास है कि यह कानून ग्रामीण को केवल शान्त रखने के लिए पारित किया गया।

महालावाड़ी पद्धति

उत्तर प्रदेश के अधिकांश भागों तथा पंजाब और मध्य प्रदेश में महालावाड़ी या ग्रामानुसार भू-व्यवस्था की नई प्रणाली शुरू की गयी। इस पद्धति के अनुसार भूमि कर की इकाई कृषक का खेत नहीं अपितु ग्राम अथवा महल (जागीर का एक भाग) होता था। भूमि समस्त ग्राम सभा की सम्मिलित

रूप से होती थी जिसको भागीदारों का समूह कहते थे। भूमिकर देने के लिए ये लोग सम्मिलित रूप से उत्तरदायी होते थे, यद्यपि व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भी होता था। अपनी भूमि यदि कोई व्यक्ति छोड़ देता था तो ग्राम समाज इस भूमि को सँभाल लेता था। यह ग्राम समाज ही सम्मिलित भूमि (शामलात) तथा अन्य भूमि का स्वामी होता था।

उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा अवध (यूपी) में भूमि कर व्यवस्था— उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा अवध जिसे आज उत्तर प्रदेश कहते हैं, अंग्रेजों के अधीन भिन्न-भिन्न समय पर आया। 1801 में अवध के नवाब ने कम्पनी को इलाहाबाद तथा उसके आसपास के प्रदेश जिन्हें अभ्यर्पित जिले कहते थे, दे दिए। कम्पनी ने द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के पश्चात यमुना तथा गंगा के मध्य का प्रदेश जीत लिया। इन जिलों को विजित प्रान्त कहते थे। लार्ड हेस्टिंग्स ने अन्तिम आंग्ल-मराठा युद्ध (1817-18) के पश्चात उत्तरी भारत में और अधिक क्षेत्र प्राप्त कर लिए। हेनरी वैल्जली ने जो अभ्यर्पित प्रदेश के प्रथम लेफ्टिनेंट-गवर्नर थे, ज़मींदारों तथा कृषकों से ही सीधे भूमि कर निश्चित कर लिया तथा यह माँग नवाबों की माँग से प्रथम वर्ष में ही 20 लाख रुपया अधिक थी। इसमें तीन वर्ष पूरा होते-होते दस लाख रुपया वार्षिक और बढ़ा दिया गया। इसमें यह भी था कि नवाब की माँग कमी वाले वर्षों में वास्तविक उपज के अनुसार घट जाती थी परन्तु कम्पनी की माँग ऐसी दृढ़ता से निश्चित की गयी थी जो कि भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं हुयी थी।

1822 के रेग्यूलेशन-1819 के पत्र में आयुक्तों के बोर्ड के सचिव होल्ट मैकेन्जी ने उत्तरी भारत में ग्राम समाजों की ओर ध्यान आकर्षित किया तथा यह सुझाव दिया था कि भूमि का सर्वेक्षण किया जाए, भूमि में लोगों के अधिकारों का लेखा तैयार किया जाए, प्रत्येक ग्राम अथवा महल से कितना भूमि कर लेना है, यह निश्चित किया जाए तथा प्रत्येक ग्राम से भूमि कर प्रधान अथवा लम्बरदार द्वारा संग्रह करने की व्यवस्था की जाए। इस सुझाव को 1822 के रेग्यूलेशन-7 द्वारा कानूनी रूप दे दिया गया। भूमिकर भूभाटक का 30% निश्चित किया गया जो ज़मींदारों को देना पड़ता था। उन प्रदेशों में जहाँ ज़मींदार नहीं होते थे तथा भूमि ग्राम समाज की सम्मिलित रूप से होती थी, भूमिकर बटाई का 95% निश्चित किया गया। यह व्यवस्था सरकार की माँग अत्यधिक होने के कारण तथा संग्रहण में अत्यधिक दृढ़ता होने के कारण छिन्न-भिन्न हो गयी।

1833 का रेग्यूलेशन तथा मार्टिन बर्ड की भूमि कर-व्यवस्था—विलियम बैटिक की सरकार ने 1822 की योजना की पूर्ण रूपेण समीक्षा की तथा इस परिणाम पर पहुँची कि इस योजना से लोगों को बहुत कठिनाई हुयी है तथा यह अपनी कठोरता के कारण ही टूट गयी है। 1833 के रेग्यूलेशन बहुत सोच-विचार के पश्चात पारित किए गये जिसके द्वारा भूमि की उपज तथा बँटाई का अनुमान लगाने की पद्धति सरल बना दी गयी। भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि के लिए भिन्न-भिन्न औसत बँटाई निश्चित की गयी। प्रथम बार

खेतों के मानचित्रों तथा पंजियों का प्रयोग किया गया। मार्टिन बर्ड की देखरेख में यह नई योजना लागू की गयी। उन्हें उत्तरी भारत में भूमि कर व्यवस्था का प्रवर्तक के नाम से स्मरण किया जाता है। एक भाग की भूमि का सर्वेक्षण इसके अनुसार किया जाता था जिसमें खेतों की परिधियाँ निश्चित की जाती थीं और बंजर तथा उपजाऊ भूमि स्पष्ट की जाती थी। इसके पश्चात समस्त भाग का और फिर समस्त ग्राम का भूमिकर निश्चित किया जाता था। प्रत्येक ग्राम अथवा महल के अधिकारियों को स्थानीय आवश्यकता के अनुसार समायोजन करने का अधिकार होता था। राज्य सरकार का भाग भूमि कर का 66% भाग निश्चित किया गया और यह व्यवस्था 30 वर्ष के लिए की गयी।

इस योजना के अन्तर्गत भूमि व्यवस्था कार्य 1833 में आरम्भ किया गया जेम्स टॉमसन जो 1843 से 1853 तक लेफ्टिनेंट-गवर्नर रहे, के काल में समाप्त किया गया। 66% भूमि कर के रूप में प्राप्त करना भी बँटाई का बहुत अधिक था तथा चल नहीं सका। इसलिए लार्ड डलहौजी ने इसका पुनरीक्षण कर 1855 में सहारनपुर नियम के अनुसार 50% भाग का सुझाव दिया। भूव्यवस्था अधिकारियों ने दुर्भाग्यवश इस नियम को स्थगित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इस 50% के अर्थ प्रदेश के बँटाई के 'वास्तविक बँटाई' के स्थान पर 'सम्भावित तथा शक्य' बँटाई लिया जिसके फलस्वरूप कृषक की अवस्था और भी बुरी हो गयी जिस कारण इन में से बहुत से लोग 1857 के विद्रोह में सम्मिलित हो गए।

रैयतवाड़ी पद्धति

रैयतवाड़ी भू-व्यवस्था मुख्यतः मद्रास, बम्बई और सिन्ध में लागू की गयी थी। इस पद्धति के अनुसार पंजीकृत भूमिदार को भूमि का स्वामी स्वीकार किया गया। वह ही राज्य सरकार को भूमि कर देने के लिए उत्तरदायी था। उसे अपनी भूमि का अनुबँटाई, गिरवी रखने तथा बेचने की अनुमति थी। वह अपनी भूमि से उस समय तक वंचित नहीं किया जा सकता था जब तक कि वह समय पर भूमि कर देता रहे।

मद्रास की व्यवस्था—बारामहल जिला प्राप्त करने के पश्चात 1792 में मद्रास प्रेसीडेंसी में प्रथम भूमि व्यवस्था की गयी। कैप्टेन रीड ने टॉमस मुनरो की सहायता से खेत की अनुमानित आय का लगभग आधा भाग भूमि कर के रूप में निश्चित किया। यह तो पूरे आर्थिक बँटाई से भी अधिक था। यही व्यवस्था अन्य भागों में भी लागू कर दी गयी। टॉमस मुनरो जो मद्रास के 1820 से 1827 तक गवर्नर रहे, उन्होंने पुरानी कर व्यवस्था को अनुचित माना। उन्होंने कुल उपज का तीसरा भाग भूमि कर को आधार मान कर रैयतवाड़ी पद्धति को, स्थाई भूमि व्यवस्था के प्रदेशों को छोड़ कर, शेष समस्त प्रान्त में लागू कर दिया। यह भी दुर्भाग्यवश लगभग समस्त आर्थिक बँटाई जितना ही था। दूसरे, भूमिकर क्योंकि धन के रूप में देना पड़ता था तथा इसका वास्तविक उपज अथवा मंडी में प्रचलित भावों से कोई सम्बन्ध नहीं था, इसलिए कृषक पर अत्यधिक बोझ पड़ा। मुनरो की भूमि कर व्यवस्था लगभग 30 वर्ष तक चलती रही तथा इसी से विस्तृत उत्पीड़न तथा

कृषकों की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई। कृषक लोग भूमि कर देने के लिए चेट्टियों (साहूकारों) के पंजों में फँस गए। भूमि कर संग्रहण करने के प्रबंध बहुत कड़े थे और इसके लिए प्रायः यातनाएँ दी जाती थीं। अंग्रेजी संसद में इन यातनाओं के विषय में प्रश्न पूछे गए। भूमि कर संग्रहण के लिए इन यातनाओं में भूखों मारना, शौच आदि के लिए न जाने देना, मनुष्यों को कुबड़े बना कर बाँध देना, घुटनों को पीछे ईटें रख कर बैठा देना, अस्थियों तथा अन्य अपमानजनक वस्तुओं को गले में हार की तरह डाल देना, इत्यादि सम्मिलित थे। 1855 में कुल उपज का 30% के आधार पर, विस्तृत सर्वेक्षण तथा भू-व्यवस्था की योजना लागू की गयी। वास्तविक कार्य 1861 में आरम्भ हुआ। राज्य सरकार का भाग 1864 के नियमों के अनुसार भू-बँटाई का 50% निश्चित किया गया परन्तु यह नियम केवल कागजी कार्यवाही ही रहा तथा प्रशासन का अंग नहीं बना। 1877-78 के भीषण अकाल में ही मद्रासी कृषकों की वास्तविक स्थिति सामने आई।

बम्बई में भूमि कर व्यवस्था—रैयतवाड़ी पद्धति बम्बई में लागू की गयी ताकि ज़मींदार अथवा ग्राम सभाएँ उनके लाभ को स्वयं न हड़प कर जाएँ।

चैप्लिन तथा एल्फिंसटन की रिपोर्ट—एल्फिंसटन 1819-27 तक बम्बई के गवर्नर थे। उन्होंने 1819 में पेशवा से विजय किए प्रदेशों पर एक सविस्तार रिपोर्ट प्रस्तुत की। उन्होंने मराठा प्रशासन की दो मुख्य बातों की ओर ध्यान दिलाया। (1) स्थानीय प्रशासन की इकाई के

रूप में ग्राम सभाओं का अस्तित्व (2) मिरास भू-कर का अस्तित्व (मिरासदार वंशानुगत भूमिदार कृषक होते थे जो स्वयं अपनी भूमि जोतते थे तथा राज्य सरकार को निश्चित भूमि कर देते थे)। वहाँ चैप्लिन जो उस समय आयुक्त था, ने 1821 तथा 1822 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उसने भूमिकर की पुरानी पद्धति का वर्णन किया तथा कुछ मूल्यवान सुझाव दिए। प्रिंगल ने 1824-28 तक भूमि का भलीभाँति सर्वेक्षण किया तथा राज्य के कुल भाग में शुद्ध उपज का 55% निश्चित किया। दुर्भाग्यवश अधिकतर सर्वेक्षण दोषपूर्ण थे तथा उपज के अनुमान ठीक नहीं थे। फलस्वरूप भूमि कर अधिक निश्चित किया गया तथा कृषकों को बहुत दुःख हुआ। बहुत से कृषकों ने भूमि जोतनी बन्द कर दी तथा बहुत-सा क्षेत्र बंजर हो गया।

बम्बई में रैयतवाड़ी भूव्यवस्था तथा विनगेट का सर्वेक्षण—1835 में लैफ्टिनेंट विनगेट जो इंजीनियरिंग कोर के पदाधिकारी थे, उन्हें भूमि सर्वेक्षण का अधीक्षक नियुक्त किया गया। 1847 में उन्होंने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिस पर ई. गोल्डस्मिथ, कैप्टन डेविडसन तथा कैप्टन विगनेट के हस्ताक्षर थे। जिले के भूमि कर की माँग मुख्य रूप से उस जिले के इतिहास तथा उस जिले के लोगों की अवस्था अर्थात् जनता की देने की शक्ति पर निर्भर थी। तत्पश्चात समस्त जिले की माँग को व्यक्तिगत खेतों पर बाँटा गया। प्राचीन समानता पर आधारित पद्धति के स्थान पर माँग भूमि की भूगर्भ अवस्था पर निर्धारित की गयी। कर इसके अतिरिक्त भूखण्डों पर

निश्चित किया गया न कि उस कृषक की समस्त भूमि पर जिससे कोई भी कृषक जिस खेत को चाहे छोड़ सकता था और जिस खेत को चाहे जोत सकता था। यह व्यवस्था 30 वर्ष के लिए की गयी। परन्तु यह भी अधिकतर अनुमानों पर आधारित थी और यह कठोरता की ओर ही झुकी थी। पुनः भू-व्यवस्था का कार्य 30 वर्ष के पश्चात 1868 में किया गया। अमेरिका के गृहयुद्ध (1861-65) के कारण कपास के मूल्य बहुत बढ़ गए। सर्वेक्षण अधिकारियों को इस अस्थाई अभिवृद्धि के कारण भूमिकर 66% से 100% तक बढ़ाने का अवसर मिल गया। न्यायालय में अपील करने का अधिकार कृषकों को नहीं था। इस कठोरता के कारण दक्कन में 1875 में कृषि उपद्रव हुए जिससे प्रेरित होकर सरकार ने 1879 में दक्कन कृषि राहत अधिनियम पारित किया जिससे कृषकों को साहूकारों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया गया परन्तु सब कष्टों के मूल अर्थात् सरकार की अधिक भूमिकर की माँग के विषय में कुछ नहीं किया गया। रैयतवाड़ी पद्धति के दो प्रमुख दोष बम्बई में थे—अत्यधिक भूमिकर तथा उसकी अनिश्चितता।

इसमें अधिक भूमिकर के लिए न्यायालय में अपील करने की अनुमति नहीं थी। इसके अतिरिक्त कलेक्टर को अधिकार था कि वह कृषक को भविष्य के लिए भूमि कर की दर बता दे और यह भी कह दे कि यदि उसे यह नई दर स्वीकार नहीं तो वह भूमि छोड़ दे। बम्बई प्रेसीडेंसी के अन्तर्गत गुजरात में भी रैयतवाड़ी पद्धति अपनाई गयी थी।

संदर्भ

- Tracing an India Diaspora by Parvati Raghuram.
- A Concise History of Modern India by Barbara D. Metcalf, Thomas R. Metcalf.
- The Future of India - Politics, Economics and Governance by Bimal Jalan.
- The Spirit of India by Ramin Jahanbegloo.
- The Men Who Killed Gandhi-Illustrated with Unpublished Documents and Photographs by Manohar Malgonkar.
- Political and Incorrect-The Real India, Warts and All by Tavleen Singh.
- Archaeology after Excavation by D. Mandal, Shereen Ratnagar.
- Modern Indian History-From 1707 to the Present Day by V. D. Mahajan.
- History of South India: Ancient, Medieval & Modern by PN Chopra, T. K. Ravindran, N. Subrahmanian.
- Vishnu's Crowded Temple by Maria Misra.
- Region, Nation, Heartland-Uttar Pradesh in India's Body Politic by Gyanesh Kudaisya.
- Cultural History of Modern Indiaby Dilip M. Menon.
- The Blindness of Insight by Dilip M Menon.
- India Since 1947 - The Independent Years by Gopa Sabharwal.
- A New Look at Modern Indian History by B.L. Grover, S. Grover.
- The Eighteenth Century in India-Debates in Indian History and Society by Seema Alavi, Eminent Contributors.
- Spectres of Mother India - The Global Restructuring of an Empire y Mrinalini Sinha.
- India's Foreign Policyby Jawaharlal Nehru.
- From Untouchable to Dalit - Essays on the Ambedkar Movement by Eleanor Zilliot.
- In Spite of the Gods - The Strange Rise of India by Edward Luce.
- Mumbai Vision 2015 - Agenda for Urban Renewal by R Swaminathan, Jaya Goyal.
- The People versus Emergency : A Saga of Struggle by P G sahasrabuddhe, Manik Chandra Vajpayee.
- India Through the Ages by Bharat Bhushan Gupta.
- Communal Identity in India - Its Construction and Articulation in the Twentieth Century by Bidyut Chakrabarty.

रिसर्च स्कॉलर, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय

ब्रिटिश भारत में रेलवे का विकास

शैलेश कुमार दुबे

अंग्रेजी शासन के अधीन रेलवे का विकास भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण आयाम है। अंग्रेजों ने रेलवे का विकास अपनी व्यापारिक सुविधाओं तथा सुचारु शासन संचालन के लिए किया था किन्तु कालान्तर में इसने अखिल भारतीय राष्ट्रीयता को जन्म दिया। मुख्यतः पाँच चरणों में भारतीय रेल के विकास को बाँटा जा सकता है—(क) प्राचीन गारंटी प्रणाली, 1849-69; (ख) राज्य निर्माण एवं स्वामित्व, 1869-82; (ग) विकसित गारंटी प्रणाली, 1882-1924; (घ) राष्ट्रीयकरण, 1924-48; तथा (ङ) एकीकरण एवं वर्गीकरण, 1948-52

प्रथम चरण (1849-69)

1845 में प्रारम्भ में तीन प्रयोगिक रेल लाइनें डाली गईं। पूर्वी रेल, कलकत्ता से रानीगंज (120 मील); विशाल भारतीय प्रायद्वीपीय रेल, बंबई से कल्याण (32 मील); तथा मद्रास रेल, मद्रास से अकोणम (30 मील)। सही अर्थों में भारतीय रेल का निर्माण इस विषय पर 1853 में लॉर्ड डलहौजी के मेमो के बाद हुआ। 1857 के विद्रोह के बाद इस प्रक्रिया में तेजी आयी जब ब्रिटिश सरकार को तीव्र यातायात एवं संचार के साधनों की आवश्यकता महसूस हुई। बड़े स्तर पर इस दिशा में निजी पूँजी का निवेश नहीं हो रहा था। अतः कंपनी ने इसमें अंग्रेज कंपनियों की पूँजी निवेश का फैसला किया जिनकी पूँजी पर सरकार द्वारा ब्याज की गारंटी दी गयी। 5000 मील रेल लाइन बिछाने के लिए 1859 के अंत तक इस प्रकार की आठ कंपनियों से अनुबंध पर हस्ताक्षर किए गए। इन परिस्थितियों में सरकार ने पूँजी की स्वीकृति दी तथा इस पर 5 प्रतिशत ब्याज की गारंटी दी। इस कार्य के लिए मुफ्त भूमि उपलब्ध करवाई गयी। कंपनियों को इसके एवज में आय की

अधिशेष सरकार के साथ बाँटने का अधिकार दिया गया। शर्तों के मुताबिक 25 साल के बाद ये रेल लाइनें सरकार को बेची जानी थीं। इस बीच इसके कार्यों एवं खर्चों पर सरकार का नियंत्रण रहना था। दो अत्यंत विवादास्पद पहलू इस व्यवस्था के थे। पहला प्राइवेट कंपनियों का इन रेल लाइनों पर स्वामित्व, तथा दूसरा इनकी पूँजी पर सरकार द्वारा एक न्यूनतम आय की गारंटी।

द्वितीय चरण (1869-82)

गृह एवं भारतीय सरकारों ने द्वितीय चरण में राज्य द्वारा निर्माण की योजना स्वीकार की। अपने 1869 के मेमो में जान लौरेंस ने राज्य द्वारा रेलों के निर्माण तथा स्वामित्व पर बल दिया। इस दिशा में हालांकि प्रगति तीव्र नहीं थी। इस प्रकार 1869-91 के बीच सरकारी एजेंसियों द्वारा कुल 3297 मील लाइन और जोड़ी गयी। लेकिन निर्माण एवं प्रशासन में सरकारी एजेंसियाँ कंपनियों से बेहतर सिद्ध हुईं। रेलों में सबसे पहले प्राचीन गारंटी प्रणाली 1879 में, पूर्वी रेल को खरीदा गया। जहाँ तक नई लाइनों का प्रश्न है, 1869 के बाद तक भी वादे पूरे नहीं किए जा सके। कई कंपनियों द्वारा 1879 के अंत तक 6128 मील रेल लाइन बिछाई जा चुकी थी जबकि राज्य द्वारा मात्र 2175 मील लाइन बिछाई गयी थी।

तृतीय चरण (1882-1924)

आवश्यक रेलवे लाइन बिछाने के लिए वर्तमान कंपनियों द्वारा आवश्यक पूँजी देने से इंकार करने के बाद केंद्रीय सरकार को अन्य स्रोतों से धन इकट्ठा करना पड़ा। इसके लिए छोटे-छोटे टुकड़ों में लाइनें बिछानी पड़ी जिसका नुकसान प्रांतीय सरकारों को उठाना पड़ा। 1882-1924 ई. के बीच एक विकसित गारंटी प्रणाली चलाई गयी। सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों एजेंसियों ने निर्माण का कार्यभार सँभाला, सरकार ने केवल सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण लाइनों या सूखा राहत कार्यों तथा अन्य अत्यावश्यक कार्यों के लिए जरूरी लाइनों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। भारतीय राज्यों, जिला बोर्डों तथा अन्य स्थानीय प्राधिकारों का इसके अतिरिक्त अपने क्षेत्रों में रेलवे लाइनें बिछाने तथा उसका संचालन करने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु प्रोत्साहित किया गया। भारत में मार्च 1923 तक रेल लाइनों की लम्बाई 37,168 मील थी जिसके 66 प्रतिशत से अधिक पर सरकार, सरकारी

एजेंसियों तथा भारतीय राज्यों का स्वामित्व था, हालाँकि अधिकतर रेलवे लाइनों की व्यवस्था प्राइवेट कंपनियों के हाथ में थी। सिर्फ तीन मुख्य रेलवे उत्तर-पश्चिम, पूर्वी बंगाल तथा अवध एवं रोहिलखंड और दो छोटी लाइनें, जोरहाट तथा अदन रेलवे, सरकार के सीधे नियंत्रण तथा व्यवस्था के अंतर्गत थीं, बाकी कंपनियों के अधीन थीं। पहली बार रेलवे से सन् 1900 ई. में कुछ मुनाफा हुआ। बाद के वर्षों में यह काफी तेजी से बढ़ा। सन् 1918-19 में रेलवे की कुल आमदनी 10 मिलियन पाँड थी। रेलवे वित्त को सन् 1924-25 में पहली बार सामान्य बजट से अलग कर दिया गया।

थॉमस राबर्टसन को रेलवे के संपूर्ण संगठन तथा कार्य की परीक्षा के लिए 1901 में विशेष आयुक्त बनाया गया। उसने 1903 में बड़े पैमाने पर परिवर्तन की सिफारिश की तथा एक रेलवे बोर्ड बनाए जाने का सुझाव दिया जिसका एक अध्यक्ष, दो सदस्य तथा एक सचिव होगा। मार्च 1905 में औपचारिक तौर पर इस बोर्ड का गठन किया गया तथा इसे सरकार के अधीनस्थ बनाया गया। राज्य सचिव जॉन मार्ले ने सन् 1907 में रेलवे के वित्तीय तथा प्रशासनिक ढांचे की जांच-पड़ताल के लिए सर जेम्स मैके के नेतृत्व में एक समिति का गठन किया। मैके ने महसूस किया कि रेलवे बोर्ड का गठन जिस उद्देश्य से किया गया था, उसे यह ठीक से पूरा नहीं कर रहा है; बोर्ड तथा सरकार के बीच तनाव था; तथा बोर्ड के गठन में ही गड़बड़ी थी। रेलवे बोर्ड, जिसका गठन 1905 में हुआ, 1909 में तथा फिर 1914 में सुधार किया गया, यह ठीक

तरह से काम नहीं कर रहा था। रेलवे क्षेत्र के अनुभव और ज्ञान वाले व्यक्ति शुरू में इसके अध्यक्ष तथा सदस्य थे। 1914 में इसमें पुनः सुधार किया गया जब वित्तीय एवं वाणिज्यीय अनुभव का एक व्यक्ति इसका सदस्य बनाया गया। 1920 में यह स्थिति बदल दी गयी जब यह फैसल किया गया कि सभी तीनों सदस्यों को रेलवे क्षेत्र का अनुभव होना चाहिए। जब सरकार ने सन् 1921 के बाद राज्यों के रेलवे पर प्रत्यक्ष नियंत्रण कर लिया, इसने सभी अधिकार रेलवे बोर्ड को सौंप दिए। 1920 में रेलवे की नीतियों, वित्त तथा प्रशासन के सभी प्रश्नों पर गौर करने के लिए राज्य सचिव ने सर विलियम आर्कवर्थ की अध्यक्षता में ईस्ट इंडिया रेलवे कमेटी की स्थापना की।

इसे आर्कवर्थ कमेटी के नाम से भी जाना जाता है, जिसके 10 सदस्य थे तथा इनमें से तीन भारतीय थे—बी.एस. श्रीनिवास शास्त्री (राज्य परिषद के सदस्य), सर राजेंद्र नाथ मुखर्जी (कलकत्ता के उद्योगपति) तथा पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास (बंबई के उद्योगपति)। राज्य द्वारा व्यवस्था का सुझाव समिति ने दिया तथा इस समिति के सुझाव बाद के रेलवे विकास के आधार बने। इस समिति के सुझावों में से एक था—रेलवे मुख्य आयुक्त की नियुक्ति। रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष का स्थान उसने लिया तथा वह रेलवे की नीतियों एवं तकनीकी पहलुओं के लिए अकेला जिम्मेदार था। वह रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष की तरह अपने सहयोगियों द्वारा किसी मसले पर अलग-थलग नहीं किया जा सकता था। 1923 में इस पद पर पहली नियुक्ति सी.डी.एम. हिंडले की हुई। रेल वित्त

को आर्कवर्थ समिति ने सामान्य वित्त से अलग करने पर भी विचार किया। इसने सुझाव दिया कि पहले इसकी जांच रेलवे वित्त समिति तथा केंद्रीय विधायी सभा द्वारा की जानी चाहिए। दोनों ने बाद में इसे अलग किए जाने के पक्ष में फैसला लिया तथा 1924-25 से रेलवे बजट सामान्य बजट से अलग कर दिया गया।

चौथा चरण (1924-48)

रेलवे संचालन के सभी पहलुओं की जांच के लिए सन् 1932-33 में पी.ए. पोप की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इंजनों का व्यापक प्रयोग, गैर-लाभकारी बोगियों को हटा देना, अलग-अलग रेलवे के स्रोतों को एक साथ जोड़ना, बिना टिकट यात्रा, आय बढ़ाने के तरीके आदि के सुझाव इस रिपोर्ट के मुख्य सुझाव थे। 1936 में रेलवे की आय बढ़ाने तथा रेलवे वित्त को सुगठित करने के उद्देश्य से सर रॉल्फ वेजवुड के अधीन इंडियन रेलवे इनक्वायरी कमेटी का गठन किया गया। जून 1937 में रेलवे बोर्ड की जमा की गयी जिसने इसके कुछ सुझावों को लागू करने का फैसला किया। सरकार ने अंततः 1947 में के.सी. नियोगी की अध्यक्षता में एक रेलवे इनक्वायरी कमेटी का गठन किया। देश की तत्कालीन अस्त-व्यस्त तथा अनिश्चित स्थिति के कारण यह कमेटी जल्द ही समाप्त कर दी गयी। इस तरह मोटे तौर पर सन् 1944 के पूर्व भारतीय रेलवे की निम्न श्रेणियाँ थीं : (क) राज्यों के सरकारी स्वामित्व तथा व्यवस्था वाली लाइनें; (ख) राज्यों के सरकारी स्वामित्व तथा निजी कंपनियों द्वारा व्यवस्थित लाइनें;

(ग) कंपनी स्वामित्व तथा व्यवस्था वाली लाइनें; (घ) भारत सरकार की लाइनें; तथा (ङ) विविध लाइनें, कंपनी लाइनें तथा जिला बोर्डों की लाइनें। पूर्णतया सन् 1944 तक दूसरी और तीसरी श्रेणी की लाइनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया; लगभग 533 मील छोड़कर बाकी सभी लाइनें सरकार अथवा इसकी एजेंसियों के अधीन थी। 1944 तक इस प्रकार व्यावहारिक तौर पर, सभी रेल लाइनों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था। सन् 1946 में रेलवे लाइनों की स्थिति इस प्रकार थी : बड़ी लाइन 20,686.60 मील; मीटर लाइन 16,004.23 मील; तथा छोटी लाइन 3827.08 मील।

पाँचवा चरण (1948-52)

पश्चिम में देश के विभाजन के कारण उत्तर-पश्चिम रेलवे के भाग तथा पूर्व में बंगाल और असम रेलवे पाकिस्तान में चले गए। पाकिस्तान को जोधपुर रेलवे के सिंध खंड के साथ 6958 मील रेलवे लाइन सौंप दी गयी। उत्तर-पश्चिम रेलवे का भारत में बचा हुआ भाग पूर्वी पंजाब रेलवे कहलाया। पूर्वी भारतीय रेलवे के साथ बंगाल-असम रेलवे की बड़ी लाइन जोड़ दी गयी, जबकि इसकी छोटी लाइन अलग असम रेलवे कहलाई।

संदर्भ

- India Since 1947 - The Independent Years by Gopa Sabharwal.
- A New Look at Modern Indian History by B. L. Grover, S Grover.

- The Eighteenth Century in India - Debates in Indian History and Society by Seema Alavi , Eminent Contributors.
- Tracing an India Diaspora by Parvati Raghuram.
- A Concise History of Modern India by Barbara D. Metcalf, Thomas R. Metcalf.
- India After Gandhi by Ramachandra Guha.
- Spectres of Mother India - The Global Restructuring of an Empire y Mrinalini Sinha.
- India's Foreign Policy by Jawaharlal Nehru.
- The Future of India - Politics, Economics and Governance by Bimal Jalan.
- Political and Incorrect-The Real India, Warts and All by Tavleen Singh.
- Archaeology after Excavation by D. Mandal, Shereen Ratnagar.
- The Spirit of India by Ramin Jahanbegloo.
- The Men Who Killed Gandhi-Illustrated with Unpublished Documents and Photographs by Manohar Malgonkar.
- Modern Indian History-From 1707 to the Present Day by V. D. Mahajan.
- History of South India: Ancient, Medieval & Modern by PN Chopra , T.

- K. Ravindran, N. Subrahmanian.
- Cultural History of Modern India by Dilip M. Menon.
- The Blindness of Insight by Dilip M Menon.
- Vishnu's Crowded Temple by Maria Misra.
- Region, Nation, Heartland-Uttar Pradesh in India's Body Politic by Gyanesh Kudaisya.
- In Spite of the Gods - The Strange Rise of India by Edward Luce.
- Mumbai Vision 2015 - Agenda for Urban Renewal by R Swaminathan , Jaya Goyal.
- The People versus Emergency : A Saga of Struggle by P. G. sahasrabuddhe , Manik Chandra Vajpayee.
- India Through the Ages by Bharat Bhushan Gupta.
- From Untouchable to Dalit - Essays on the Ambedkar Movement by Eleanor Zilliot.
- Strategic Consequences of India's Economic Performance by Sanjaya Baru.
- Communal Identity in India-Its Construction and Articulation in the Twentieth Century by Bidyut Chakrabarty.

रिसर्च स्कॉलर, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय

ब्रिटिश राज के दौरान निम्न जातीय आन्दोलन

अलका रानी

19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे निम्न जातियों में जातीय चेतना जगी और उन्होंने जातीय समानता प्राप्त करने का भार अपने ऊपर ले लिया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में भिन्न-भिन्न जातीय आन्दोलन आरम्भ हुए। अंग्रेजों की 'बांटो और राज करो' की नीति के फलस्वरूप, पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के प्रसार के कारण, एक समान दण्ड संहिता (1861) तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता (1872) के लागू होने से, रेलों के विस्तार से (जिनमें प्रत्येक व्यक्ति टिकट खरीद कर किसी भी उपलब्ध स्थान पर बैठ सकता था), राष्ट्रीय जागरण के विकसित होने से, समानता तथा सामाजिक समतावाद पर आधारित आधुनिक राजनैतिक विचारों के प्रसार, सभी ने एक ऐसा सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण बना दिया, जिसमें जाति-पाँति प्रथा को न्यायसंगत कहना असम्भव हो गया। इसीलिए निम्न जातियों में ऐसे नेता उभरे, जिन्होंने स्वयं इन समानता के आन्दोलनों का नेतृत्व किया। दक्षिणी भारत में निम्न जातीय आन्दोलन मद्रास प्रान्त में स्पष्टः ब्राह्मणीय प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह था। 1916 में निम्न जातियों के एक प्रवक्ता ने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में भेजे मद्रास प्रान्त के 15 सदस्यों में से केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था, जो ब्राह्मण नहीं था। यह प्रचार भी निम्न जातियों के कुछ नेताओं ने किया कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ थे और आर्य लोग बाहर से आये और अपने साथ वर्ण-व्यवस्था जैसी बुरी प्रथा लाए।

न्याय दल (जस्टिस पार्टी)—1917 में श्री पी. त्यागराय तथा डॉक्टर टी.एम. नैयर ने प्रथम इत्तर-ब्राह्मण संस्था गठित की, जिसका नाम था **दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ**, जिसे कालान्तर में प्रायः 'न्याय दल' कहने लगे। **रामास्वामी नैकर**

(1879-1973) 1937 में इस न्याय दल के सभापति चुने गए। नैकर सामाजिक समानता के लिए एक धर्मयोद्धा थे, उन्होंने अस्पृश्यता जैसे अन्याय के विरुद्ध अभियान चलाया। नैकर ने हिन्दू धर्म की भर्त्सना की और कहा कि यह ब्राह्मणों के नियन्त्रण का एक साधन है और मनु के विधान को 'अमानुषी' और पुराणों को 'परियों की कथाएँ' की संज्ञा दी। नैकर ने हिन्दू देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाई और यह कहा कि कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं, जिनका सुधार नहीं हो सकता, उनका केवल अन्त ही करना होता है ब्राह्मणीय हिन्दू धर्म एक ऐसा ही तत्त्व है।" धर्म को नैकर ने बेकार माना और हिन्दी भाषा को द्रविड़ों पर थोपने का विरोध किया। क्रोधी स्वभाव का तो वह था ही, नैकर ने होटलों के नाम पट्टों पर जातिवाचक शब्दों को तारकोल से मिटाने का प्रयत्न किया, ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत को तोड़ा, तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों को चप्पलों से पीटा। इस तरह नैकर का कार्य काफी प्रतिक्रियावादी था।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम. के.)—नैकर के अनुयायी तथा मित्र **श्री. सी. एन अन्नादुरै** (1909-1969) ने द्रविड़ आन्दोलन को आगे बढ़ाया। अन्ना (बड़ा भाई) काँचीपुरम की एक **तंतवाय** जाति से थे। न्याय दल का नाम बदलकर 'द्रविड़ कड़गम' (द्रविड़ संघ) 1944 में कर दिया गया। सितम्बर 1949 में दल में विभाजन हो गया और अन्ना ने अपने दल का नाम '**द्रविड़ मुनेत्र कड़गम**' (द्रविड़ प्रगतिवादी संघ) रख लिया। अन्ना 1962 में राज्य सभा के लिए चुन लिए गए। 1967 के आम चुनावों में इस दल ने तमिलनाडु में प्रथम द्रमुक सरकार बनाई, जिसमें अन्नादुरै मुख्यमंत्री बने। भारतीय एकता के अन्ना विरुद्ध नहीं थे, परन्तु वह राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता माँगते थे।

एस.एन.डी.पी.—दक्षिण के एक अन्य नेता केरल में थे, जो **एझवा** (एक अस्पृश्य) जाति से थे। श्री **नारायण गुरु** (1854-1928) ने केरल तथा केरल के बाहर कई स्थानों पर **एस.एन.डी.पी.** (श्री नारायण धर्म परिपालन योगम) नाम की एक संस्था तथा उसकी शाखाएँ स्थापित कीं। एझवा वर्ग के उत्थान के लिए श्री नारायण तथा उनके सहयोगियों ने दो बिन्दु का कार्यक्रम बनाया। पहला था कि अपने से नीची

जातियों के प्रति अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करना। नारायण गुरु ने इसके अतिरिक्त कई मन्दिर बनवाए, जो सभी वर्णों के लिए खुले थे। इसी प्रकार उन्होंने विवाह संस्कार, धार्मिक पूजा तथा अन्त्येष्टि आदि के कर्मकाण्डों को सरल बना दिया। गाँधीजी के चतुर्वर्णीय, व्यवस्था में विश्वास रखने के लिए उन्होंने उनकी आलोचना की क्योंकि यह चतुर्वर्णीय व्यवस्था ही जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता को जन्म देने तथा बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। नारायण गुरु के अनुसार जातीय भेद केवल तलीय है और उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विशेष प्रकार के वृक्ष के पत्तों का रस, सार रूप से एक ही होगा। उन्होंने एक नया नारा दिया “मानव के लिए एक धर्म, एक जाति तथा एक ईश्वर।” नैकर और अन्नादुरै के विपरीत नारायण गुरु की प्रतिक्रिया बहुत नकारात्मक नहीं थी।

सत्य शोधक समाज—पश्चिम भारत में **ज्योतिराव गोविन्दराव पूले** (1827-90) ने निम्न जातियों के लिए संघर्ष किया। ज्योतिराव ने पुणे में माली जाति में जन्म लिया। उसके पूर्वज पेशवाओं को पुष्प, मालाएँ इत्यादि उपलब्ध कराया करते थे इसलिए उन्हें फूले कहा जाने लगा था। ज्योतिबा का समस्त दृष्टिकोण ब्राह्मणों के डर की कुछ घटनाओं ने बदल दिया। एक ब्राह्मण ने उन्हें इसलिए फटकारा तथा उनका इसलिए अपमान किया क्योंकि उन्होंने अपने एक ब्राह्मण मित्र की बारात में सम्मिलित होने की धृष्टता की थी। ज्योतिबा का ब्राह्मणों ने इसलिए भी विरोध किया क्योंकि वह स्त्रियों तथा निम्न जातियों के लिए एक पाठशाला

चला रहे थे। ज्योतिबा को ब्राह्मणों के दबाव के कारण पाठशाला बन्द करनी पड़ी। ऊँची जाति के दबाव के कारण उनके पिता **गोविन्द राव** ने ज्योतिबा तथा उनकी पत्नी को वंशानुगत गृह से बाहर निकाल दिया। ज्योतिबा अब यह समझने लगे कि लोग ब्राह्मण धर्म की आड़ लेकर अन्य वर्णों पर अत्याचार करते हैं तथा उन्हें अपना दास बना लेते हैं। दूसरे निम्न जातीय नेताओं के साथ ज्योतिबा ने भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं की कमजोर वर्गों के लोगों के हितों की अनदेखी करने के लिए आलोचना की। उनका कथन था कि कांग्रेस उस समय तक वास्तविक रूप में राष्ट्रीय कहलाने की अधिकारी नहीं है, जब तक वह निम्न तथा पिछड़ी हुयी जातियों के हितों की ओर ध्यान नहीं देती। ज्योतिबा ने 1873 में ‘**सत्य शोधक सभा**’ (सत्य को खोजने वाली समाज) बनाई, जिसका उद्देश्य था कि समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिला सके। उन्होंने सभी वर्णों के अनाथों तथा स्त्रियों के लिए अनेक पाठशालाएँ तथा अनाथालय खोले। उन्हें 1876 में पुणे नगर पालिका का सदस्य चुन लिया गया। ज्योतिबा के प्रकाशनों में धर्म तृतीय रत्न (पुराणों का भंडाफोड़), **इशारा** (एक चेतावनी), **शिवाजी की जवानी** इत्यादि सम्मिलित हैं। 1888 में लोग उन्हें महात्मा कहने लगे थे। आज भी महाराष्ट्र में इन्हें काफी आदर प्राप्त है। समस्त भारत में एक सामाजिक सुधारक के रूप में इन्हें काफी आदर प्राप्त है।

अम्बेडकर—अपनी मृत्यु के पचास वर्ष बाद भी अम्बेडकर भारतीय राजनीति के केन्द्र- बिन्दु बने हुए हैं। निम्न जातियों

में अम्बेडकर भगवान तुल्य हैं। निम्न जातियों के उत्थान के लिए भीमराव अम्बेडकर एक अन्य धर्मयोद्धा थे। भीमराव का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को एक **महार कुल** (एक अस्पृश्य हिन्दू कुल) में **महू** में हुआ था। 1905 में उनका विवाह अपनी जाति की एक कन्या रमाबाई से हो गया था। 1935 को उसकी मृत्यु हो गयी। भीमराव ने 1948 में दूसरा विवाह डॉक्टर शारदा कबीर से किया, जो बम्बई के एक **सारस्वत ब्राह्मण** कुल से थीं। बम्बई के एल्फिंसटन कॉलेज से अम्बेडकर ने स्नातक परीक्षा पास की और फिर उन्होंने अपनी एम.ए. तथा पी.एच.डी. परीक्षाएँ कोलम्बिया (अमरीका) विश्वविद्यालय से पास कीं। 1923 में वह बैरिस्टर बन गए। उन्होंने जुलाई 1924 में बम्बई में एक संस्था ‘**बहिष्कृत हितकारिणी सभा**’ बनाई, जिसका उद्देश्य अस्पृश्य लोगों की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करना था। अम्बेडकर ने आन्दोलन की नीति अपनाई और अछूतों के लिए मन्दिरों में प्रवेश तथा जन-साधारण के कुओं से पानी भरने के नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अम्बेडकर ने 1930 में राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश किया। उन्होंने अछूतों के लिए अलग मताधिकार माँगा। उनको लन्दन में हुयी तीनों गोल मेज सभाओं (1930-32) में अछूतों के प्रतिनिधि के रूप में बुलाया गया। जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने 17 अगस्त, 1932 को साम्प्रदायिक निर्णय दिया, तो उसमें दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन मण्डलों का प्रावधान किया गया। इससे गाँधी जी बहुत दुःखी हुए और उन्होंने इसे हटाने के लिए आमरण उपवास आरम्भ कर दिया। अन्त में एक समझौता, जिसे

प्रायः “पूना समझौता” कहते हैं, किया गया (24 सितम्बर, 1932), जिसमें दलित वर्गों के लिए साधारण वर्ग में ही सीटों का आरक्षण किया गया। अम्बेडकर ने हताश होकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वतंत्रता की माँग का विरोध किया और कहा कि ‘भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य बना रहे ताकि दलित वर्ग के हितों की रक्षा हो सके।’ उन्होंने अप्रैल 1942 में अनुसूचित जातीय संघ का एक अखिल भारतीय दल के रूप में गठन किया। इसके बाद उन्होंने यह घोषणा की कि अनुसूचित जातियाँ हिन्दू धर्म को पूर्ण रूप से त्याग देगी और वह स्वयं अपने बहुत-से अनुयायियों के साथ **बौद्ध** बन गए। जिस संविधान सभा का स्वाधीन भारत के लिए गठन हुआ, उसकी ‘प्रारूप समिति’ (ड्राफ्टिंग कमेटी) के वे अध्यक्ष बनाए गए। अपने इस दायित्व का उन्होंने पूरी निष्ठा और योग्यता से परिपालन किया। उन्होंने संविधान सभा में समय-समय पर अपने जो वक्तव्य और आलोचकों को जो प्रत्युत्तर दिये, उससे उनकी योग्यता और देश-भक्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। अपने इस योगदान के लिए डॉ. अम्बेडकर का नाम स्मरणीय रहेगा। आज अम्बेडकर के नाम का भारत की राजनीति में इतना डंका बजता है कि कोई भी राजनीतिक दल उनके दर्शन के विरोध का साहस नहीं कर सकता।

संदर्भ

- From Untouchable to Dalit-Essays on the Ambedkar Movement by Eleanor Zilliot.
- Political and Incorrect-The Real India, Warts and All by Tavleen Singh.

- Spectres of Mother India - The Global Restructuring of an Empire y Mrinalini Sinha.
- India’s Foreign Policyby Jawaharlal Nehru.
- The Future of India - Politics, Economics and Governance by Bimal Jalan.
- India Since 1947 - The Independent Years by Gopa Sabharwal.
- A Concise History of Modern India by Barbara D. Metcalf, Thomas R. Metcalf.
- India After Gandhi by Ramachandra Guha.
- A New Look at Modern Indian History by B. L. Grover, S Grover.
- The Eighteenth Century in India - Debates in Indian History and Society by Seema Alavi , Eminent Contributors.
- Tracing an India Diaspora by Parvati Raghuram.
- Archaeology after Excavation by D. Mandal, Shereen Ratnagar.
- The Spirit of India by Ramin Jahanbegloo.
- The Men Who Killed Gandhi-Illustrated with Unpublished Documents and Photographs by Manohar Malgonkar.
- Vishnu’s Crowded Temple by Maria Misra.
- The Blindness of Insight by Dilip M Menon.
- Region, Nation, Heartland-Uttar Pradesh in India’s Body Politic by Gyanesh Kudaisya.
- In Spite of the Gods - The Strange Rise of India by Edward Luce.
- India Through the Ages by Bharat Bhushan Gupta.
- Strategic Consequences of India’s Economic Performance by Sanjaya Baru.
- Communal Identity in India-Its Construction and Articulation in the Twentieth Century by Bidyut Chakrabarty.
- Mumbai Vision 2015 - Agenda for Urban Renewal by R Swaminathan , Jaya Goyal.
- Modern Indian History-From 1707 to the Present Day by V. D. Mahajan.
- History of South India: Ancient, Medieval & Modern by PN Chopra , T. K. Ravindran, N. Subrahmanian.
- Cultural History of Modern Indiaby Dilip M. Menon.
- The People versus Emergency : A Saga of Struggle by P. G. sahasrabuddhe , Manik Chandra Vajpayee.

रिसर्च स्कॉलर, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय

1857 से पहले सामाजिक सुधार

गीतांजलि

नरबलि तथा छोटी बच्चियों की हत्या

सरकार का ध्यान 1802 में मानव बलिदान तथा शिशु (कन्या) हत्या की तरफ गया। लॉर्ड वेलेजली ने बैप्टिस्ट मिशनरी, विलियम कैरे द्वारा किए गये शोधकार्य के पश्चात् मानव बलिदान की प्रथा का अंत किया। शिशु हत्या (कन्या) सर्वव्यापी था और यह सिर्फ आदिवासियों में ही नहीं बल्कि राजपूत जातियों में भी था। 1795 के बंगाल रेगुलेशन एक्ट ग्ग के अनुसार इस प्रथा का पालन करने वालों को हत्यारा माना जाता था। इस रेगुलेशन को बाद में भारत के अन्य भागों में प्रभावी किया गया। सरकार ने 1870 में एक अन्य कानून बनाया जिसमें लड़कियों के जन्म का पंजीकरण करना तथा इसका नियमित सर्वेक्षण करना कि, वह बच्ची अभी भी जीवित है, या नहीं, आदि थे। कालांतर में शिशु हत्या समाप्त होने लगी।

सती प्रथा का उन्मूलन

काफी लंबे समय से यह प्रथा भारत में चली आ रही थी। इसमें विधवाओं को अपने पति के साथ अर्थात् पर बैठकर साथ ही जल कर मरना पड़ता था। यह प्रथा सामान्यता ऊंची जाति के हिन्दुओं के बीच थी। मुस्लिम आक्रामक जब भारत आये तो उन्होंने इस प्रथा का विरोध किया और मुगल शासकों ने इसे खत्म करने का प्रयास किया। कई अंग्रेज अधिकारियों ने यद्यपि व्यक्तिगत स्तर पर सती प्रथा को रोकने का प्रयास किया किंतु यह सरकारी नीति नहीं थी। लॉर्ड वेलेजली ने 1803 में यह प्रयास किया कि इस प्रथा का अंत ब्रिटिश शासित क्षेत्रों में कराया जाए लेकिन उसने पहले अपने विचार को सुप्रीम कोर्ट, कलकत्ता के सामने रखा। कोर्ट का उत्तर था कि सरकार को सतर्क रहना चाहिए और धीरे-धीरे इस मामले पर अमल करना चाहिए। कोर्ट का कहना था कि सरकार को

धार्मिक नेताओं से बात करनी चाहिए तथा स्थानीय लोगों को विश्वास में लेना चाहिए।

सरकार इस प्रकार अपनी नीति स्पष्ट नहीं कर सकी। सरकार के व्यवहार से सती प्रथा की घटनाओं में कमी नहीं आई। गवर्नर जनरल एमहर्स्ट का मानना था कि वैधानिक स्तर पर इस प्रथा का उन्मूलन करने का अभी उपयुक्त समय नहीं था। जब विलियम बेंटिक गवर्नर बना तब माहौल बदला हुआ था। बेंटिक को सलाह दी गयी कि जल्द या विलम्ब से, इस प्रथा को समाप्त करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। इस प्रथा को बेंटिक ने जल्द ही समाप्त करने की पेशकश की जबकि राममोहन राय तथा एच.एच. विल्सन ने यह सहमति जताई कि धीरे-धीरे इस प्रथा को समाप्त करने के लिए माहौल बनाना चाहिए अन्यथा लोगों में असंतोष की भावना पैदा होगी। बेंटिक का मानना था कि असंतोष की भावना नहीं होगी और उसने इस प्रथा को जल्द ही समाप्त करने का निर्णय लिया। सती प्रथा को 4 दिसंबर, 1829 को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया और इसके बंगाल प्रेसीडेंसी का ग्टप्प रेग्यूलेशन पास हुआ। इस रेगुलेशन के तहत यह कहा गया कि कोई भी यदि सती को सहायता देगा तो उसे मानव बलिदान का अपराधी माना जाएगा और यदि किसी ने सती प्रथा को सम्पन्न होने में सहायता दी तो उसे मृत्युदंड दिया जाएगा। 2 फरवरी, 1830 में ऐसा प्रस्ताव मद्रास की प्रेसीडेंसी ने पास किया तथा इसी तरह का कदम बंबई प्रेसीडेंसी में भी उठाया गया। इस कदम के खिलाफ बंगाल में आंदोलन शुरू हुआ और बेंटिक को ज्ञापन भी दिया गया। आंदोलनकर्ता प्रिवी काउंसिल में जनवरी 1830 में इस आदेश के खिलाफ गए। प्रिवी काउंसिल में अपील खारिज हो गयी और भारत में कोई भी आंदोलन नहीं हुआ।

ठगी का अंत

ठग ऐसे लोग कहे जाते थे जो लोगों की गर्दन दबा कर जान से मार देते थे और उन्हें लूटते थे। इसलिए ठगों को फाँसीदार भी कहा जाता था। इतिहास में पहली बार इसकी चर्चा 14वीं शताब्दी में आयी है लेकिन यह प्रथम उससे भी पुरानी है। एक फ्रांसिसी यात्री “दी थेबेनॉट” शाहजहाँ के शासन काल में भारत आया था और उसका कहना था कि दिल्ली और आगरा के बीच की सड़क ठगों से भरी पड़ी है। अंग्रेज 18वीं शताब्दी के अंत में इस बात से अवगत हुए।

किंतु इन्होंने 1829 के पहले इसको खिलाफ कोई भी कारगर कदम नहीं उठाया। पूरी उत्तरी भारत में कार्यरत ठगों के एक बहुत बड़े संघ के विषय में विलियम सिलीमैन मालूम हुआ। 1829 में सुधारों के क्रम में यह काम एक खास विभाग को सुपुर्द किया कि वे इस ठगी के बारे में पता करें और इसे खत्म करने का सुझाव दे। सिलीमैन इस काम के लिए नियुक्त हुआ। और 1829 में वह ठगी तथा डकैती उन्मूलन का कमिश्नर नियुक्त हुआ। अक्सर ठगों के गिरोह को छोटे राजाओं और जमींदारों के द्वारा आश्रय प्राप्त होता था। किंतु अंग्रेज ठगी का अंत हर हालत में करना चाहते थे। इन्होंने अपनी पूरी शक्ति के साथ इस सामाजिक बुराई को खत्म किया। लगभग 3000 ठगों को 1831 और 1837 के बीच बंदी बनाया गया जिनमें से 500 ने अपना जीवन अन्य ठगों के बारे में सूचना देकर बचाया। ठगी 1860 में खत्म हो गयी यद्यपि ठगी तथा डकैती उन्मूलन कमिश्नर का ऑफिस 1904 तक बना रहा।

नारियों की मुक्ति

1830 के बाद सैनिक अभ्यास में व्यस्त सरकार का ध्यान सुधार आंदोलनों की ओर गया। हिन्दू समाज में रह रही महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। किंतु इस विषय में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। सरकार नारी शिक्षा की तरफ बिल्कुल भी उत्सुक नहीं थी और कंपनी सरकार ने अंत तक इस क्षेत्र में कुछ विशेष नहीं किया। मुख्यतः लड़कियों से संबंधित विद्यालय इसाई मिशनरियों द्वारा चलाए जाते थे। इसाई मिशनरियों के दबाव तथा पाश्चात्य

उदारवादी विचारों के भारत में पदार्पण के कारण समाज में महिलाओं की स्थिति के विषय में, विशेषकर विधवाओं की स्थिति के विषय में चर्चा आरंभ हुई। यह सुझाव बहुत से भारतीयों ने दिया कि ऐसा कानून बनाया जाए जिसमें लड़की के विवाह की न्यूनतम उम्र तय की जाए और साथ ही हिन्दू विधवाओं को दूसरी शादी करने का अधिकार भी दिया जाए। यद्यपि सरकार इस मामले पर कोई कानून नहीं बनाना चाहती थीं क्योंकि उसका मानना था कि ऐसा करने से हिन्दू उसके खिलाफ हो जाएंगे और उनके धार्मिक मामले में यह दखलअंदाजी होगी। इसी क्रम में ईश्वर चंद्र विद्या सागर ने अपना आंदोलन चलाया और सरकार द्वारा हिन्दू विंडोज री-मैरेज एक्ट ऑफ 1856 को पास कराने में सक्षम रहे। बहुविवाह प्रथा हिन्दू समाज में चली आ रही थी जिसके खिलाफ 1855 और 1857 के बीच लोगों ने सरकार का ध्यान आकर्षित किया। यह सामाजिक बुराई बंगाल के ब्राह्मण जाति में व्याप्त थी जो अपने आपको कुलीन कहते थे। इस दिशा में विवाह का प्रारूप तैयार किया गया किंतु सिपाही विद्रोह शुरू होने के कारण इस पर रोक लग गयी। भारत सरकार से बाद में बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर ने अनुरोध किया कि वह इस पर कानून बनाए लेकिन इसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया गया कि बंगाल के बाहर भी अन्य समुदायों खास कर मुस्लिमों में बहु विवाह की प्रथा व्याप्त है।

संदर्भ

- Encyclopaedia of 1857 Mutiny, Shailendra Sengar.

- The Future of India - Politics, Economics and Governance by Bimal Jalan.
- India After Gandhi by Ramachandra Guha.
- India Since 1947 - The Independent Years by Gopa Sabharwal.
- A Concise History of Modern India by Barbara D. Metcalf, Thomas R. Metcalf.
- A New Look at Modern Indian History by B. L. Grover, S Grover.
- The Eighteenth Century in India - Debates in Indian History and Society by Seema Alavi , Eminent Contributors.
- The Spirit of India by Ramin Jahanbegloo.
- Region, Nation, Heartland-Uttar Pradesh in India's Body Politic by Gyanesh Kudaisya.
- India Through the Ages by Bharat Bhushan Gupta.
- Strategic Consequences of India's Economic Performance by Sanjaya Baru.
- Modern Indian History- From 1707 to the Present Day by V. D. Mahajan.
- Cultural History of Modern India by Dilip M. Menon.

रिसर्च स्कॉलर, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय

Folk Psychology as Mental Simulation

Dr. Shree Bhagwan Roy

The simulation (or, “mental simulation”) theory (ST) is a theory of everyday human psychological competence: that is, of the skills and resources people routinely call on in the anticipation, explanation, and social coordination of behaviour. ST holds that we represent the mental activities and processes of others by mentally simulating them, or generating similar activities and processes in ourselves: thus, for example, anticipating another’s solution to a theoretical or practical problem by solving the problem ourselves (with adjustments for evident disparities, e.g., in skill level). The basic idea is that if the resources our own brain uses to guide our own behaviour can be modified to work as representations of other people, then we have no need to store general information about what makes people tick: We just do the ticking for them. Simulation is thus said to be process-driven rather than theory-driven (Goldman 1989).

What initially sparked philosophical interest in ST was that it seemed to challenge the assumption that a *theory* (a “folk” psychology) underlies psychological competence. Without this assumption, what had been a major issue in the philosophy of mind would be baseless: namely, the debate between psychological realists, who thought folk psychology a fundamentally sound foundation for cognitive science, and eliminativists, who deemed it a fundamentally flawed theory.

Unlike earlier controversies concerning the role of empathetic understanding and historical re-

enactment in the human sciences, the current debate between the simulation theory and the “theory” theory appeals to empirical findings, including experimental results concerning children’s development of psychological competence and recent discoveries in cognitive neuroscience.

What is Meant by “Simulation”?

In recent discussions of everyday “folk” psychology, the term “simulation” has, like the term “theory,” come to be used broadly and in a variety of ways. Simulation is usually equated with role-taking, or imaginatively “putting oneself in the other’s place.” This metaphor is understood to embrace adoption of different spatial and temporal perspectives as well as other shifts in indexically specified situations (e.g., in social role, office, or kinship relations); and further, adoption of alternative character traits and similar exercises of dramatic impersonation. However, one may also conceive simulation as including simple “projection,” without adjustments in imagination; e.g., where there is no need to *put* oneself in the other’s place, as one is, in all relevant respects, already there: e.g., the tornado is approaching not just you or me but us.

Along with this person-level characterization of simulation, simulation is also conceived by most proponents in cognitive-scientific terms. It is assumed that in role-taking, one’s own behaviour control system is employed as a manipulable model of other such systems. (This is not to say that the “person” who is simulating is the model; rather, only that one’s brain can be manipulated to model other persons.) The system is first taken off-line, so that the output is not actual behaviour but only predictions or anticipations of behaviour, and inputs and system parameters are accordingly not limited to those that would regulate one’s own behaviour. Although this sometimes results in vicarious decision-making, more typically it stops at the more modest goal of establishing which options would be attractive (so that one would not be surprised to find the other pursuing one of them) and which unattractive (so that one would be surprised to find the other pursuing any of them).

In cognitive neuroscience, the term “simulation” is used to denote the (usually automatic and unconscious) activation, in response to the observed behaviour of another, of neural mechanisms

associated with the production of like behaviour in oneself.

Stephen Stich and Shaun Nichols, whose critical papers have clarified the issues and helped refine ST, urge that the term “simulation” be dropped in favour of a finer-grained terminology. However, important as precision is in formulating testable hypotheses, there may also be value in a broad, open-ended inquiry that asks how implementations of the top-down imaginative procedures that philosophers and psychologists describe might mesh with the bottom-up mechanisms that neuroscientists have recently discovered (Gallese 2001; Hurley 2004).

Varieties of Simulation Theory

Alvin Goldman and the psychologist Paul Harris conceive simulation differently from Robert Gordon and Jane Heal, the philosophers who, working independently, introduced the theory (Gordon 1986, Heal 1986). (Heal’s term “replication” and Gordon’s “simulation” were generally taken to refer to the same putative process.) According to Goldman (1989) and, less clearly, Harris (1989), to ascribe mental states to others by simulation, one must already be able to ascribe mental states to oneself on the basis of introspection, and thus must already possess the relevant mental state concepts. The introspectionist account would suggest that simulation can only be justified by an argument from analogy. According to a classic version of this argument, I am

conscious in myself of [a] uniform sequence, of which the beginning is modifications of my body, the middle is feelings, the end is outward demeanour. In the case of other human beings I have the evidence of my senses for the first and last links of the series, but not for the intermediate link...by supposing the link to be of the same nature...I bring other human beings...under the same generalizations.... (J.S. Mill, *An Examination of Sir William Hamilton’s Philosophy*. 6th edition. London, 1869)

According to Gordon’s “radical” version of ST (1995), a capacity for simulation is necessary for the very capacity to perceive objects as mind-endowed (and thus for perceiving human beings as persons). Only those who can simulate can understand an ascription of, e.g., belief—that *to S* it is the case that *p*. Even though general psychological information may sometimes be called on in our everyday “mind-reading,” it is information that would not be fully intelligible to beings that were incapable of simulation — perhaps in the way that information about colour would not be fully intelligible to someone incapable of colour sensation or imagery. My representation of a particular other (O) is essentially a stored simulation (stored, perhaps, as a set of modifications of myself). Although the particulars of my simulative representation of O are subject to empirical justification, there is no further inference (e.g., based on analogy) from my simulative representation of O to “what O is really like.”

While no simulation theorist claims that all our everyday explanations and predictions of the actions of other people are based on role-taking, Heal in particular has been a moderating influence, arguing for a hybrid simulation-and-theory account that reserves simulation primarily for items with rationally linked content, such as beliefs, desires, and actions.

The Parsimony Argument

The most important distinguishing feature of folk psychology, according to many theory theorists, is the central and essential role it gives to the semantic content of the states it posits, particularly the propositional or sentential “objects” of propositional attitudes such as beliefs, desires, and intentions. Most theory theorists try to accommodate this feature with the hypothesis that folk psychology comprises laws or principles that quantify over this content, connecting, for example, what *x* believes and what *x* desires to what *x* chooses to do. Moreover, the connections are said generally to mirror the semantic relations that hold among these contents, particularly relations that can be represented abstractly by rules of logic and rational argument such as modus ponens and the practical syllogism. Thus the theory theory posits an internal store of causal laws or principles corresponding to these rules. The following is the sort of principle one might call on to anticipate what a particular person will do, say, upon losing a credit card, given that undesirable consequences would ensue if they did not take action:

If S believes that if p, then (q unless S does x); and S desires that not-q; and S does not believe that if p and S does x, then something r will be the case such that S desires not-r more than S desires that p; etc., etc.; then, ceteris paribus, probably S will do x.

It seems implausible, however, to suppose that we must invoke such principles when we anticipate our own behaviour in future contingent or counterfactual situations. To answer the question, "What would you do if your credit card were missing?" one would more likely use a simulative strategy. This is not to say that such a strategy is foolproof, or that we never employ generalizations in our own case. However, the generalizations we do sometimes employ tend to be not theoretical but behavioural descriptions: e.g., "I always become fatalistic in such situations," where "become fatalistic" and "such situations," though highly interpreted culture-bound descriptions, are not theoretical in any sense amenable to the theory theory: They do not describe the inner workings of a cognitive behaviour control system, and they certainly do not constitute laws corresponding to rules of logic and reason.

Insofar as the store of causal generalizations mirrors the set of rules our own thinking typically conforms to, the simulation theory appears to render it otiose. For whatever rules our own thinking typically conforms to, our thinking continues to conform to them within the context of simulation, unless, of course, adjustments are made to accommodate evident differences. In short, we can use

our own reasoning as a model of the reasoning of beings that reason the way we do. In the light of this alternative, it is argued, the hypothesis that people must be endowed with a special stock of laws corresponding to rules of logic and reason appears unmotivated and unparsimonious.

References

- Adolphs, R. *et al.*, 2000, "A Role for Somatosensory Cortices in the Visual Recognition of Emotion as Revealed by Three-Dimensional Lesion Mapping," *Journal of Neuroscience* 20 (7), 2683-2690.
- Gallese, V., 2001, "The 'shared manifold' hypothesis: from mirror neurons to empathy," *Journal of Consciousness Studies*, 8, 33-50.
- Gallese, V., & Goldman, A., 1998, "Mirror neurons and the simulation theory of mind-reading," *Trends in Cognitive Sciences*, 2, 493-501.
- Goldman, A., 1989, "Interpretation Psychologized," *Mind and Language* 4, 161-185; reprinted in Davies, M. and Stone T., eds., 1995, *Folk Psychology: The Theory of Mind Debate*. Oxford: Blackwell Publishers.
- Gopnik, A. and Wellman, H.M., 1992: "Why the Child's Theory of Mind Really Is a Theory," *Mind and Language* 7, 145-71.
- Gordon, R., 1986, "Folk Psychology as Simulation," *Mind and Language* 1, 158-171; reprinted in Davies, M. and Stone T., eds., 1995, *Folk Psychology: The Theory of Mind Debate*. Oxford: Blackwell Publishers.
- Gordon, R., 1995, "*Simulation Without Introspection or Inference*

From Me to You," in Mental Simulation: Evaluations and Applications, M. Davies & T. Stone (eds.), Oxford: Blackwell.

- Gordon, R., 2004, "Intentional Agents Like Myself," in *Perspectives on Imitation: From Neuroscience to Social Science*, vol. 2, S. Hurley & N. Chater (eds.), Cambridge, MA: MIT Press.
- Harris, P., 1989, *Children and Emotion*, Oxford: Blackwell Publishers.
- Heal, J., 1986, "Replication and Functionalism", in *Language, Mind, and Logic*, J. Butterfield (ed.), Cambridge: Cambridge University Press; reprinted in Davies, M. and Stone T., eds., 1995, *Folk Psychology: The Theory of Mind Debate*. Oxford: Blackwell Publishers.
- Hurley, S., 2004, "The Shared Circuits Hypothesis: A Unified Functional Architecture for Control, Imitation, and Simulation," in *Perspectives on Imitation: From Neuroscience to Social Science*, vol. 1, S. Hurley & N. Chater (eds.), Cambridge, MA: MIT Press.
- Stich, S. & Nichols, S., 1992, "Folk psychology: Simulation or tacit theory?" *Mind and Language* 7, 35-71; reprinted in Davies, M. and Stone T., eds., 1995, *Folk Psychology: The Theory of Mind Debate*. Oxford: Blackwell Publishers.
- Wimmer, H. and J. Perner, 1983, "Beliefs About Beliefs: Representation and Constraining Function of Wrong Beliefs in Young Children's Understanding of Deception," *Cognition* 13, 103-128.

**Lecturer, Deptt. of Psychology
PR College, Sonapur, J. P.
University, Chapra**

Brain Dynamics Underlying the Nonlinear Threshold for Access to Consciousness

Dr. Sunoj Kumar

Introduction

One of the most obvious and yet unexplained properties of conscious perception is the existence of a threshold for conscious access: when a stimulus is flashed and followed by a backward mask, subjects do not report perceiving it until the target-mask interval exceeds a threshold duration. Below-threshold—or “subliminal”—stimuli receive complex perceptual and even semantic processing, but for an unknown reason, these processes remain inaccessible to consciousness. Understanding the neural mechanisms that distinguish such conscious and nonconscious processes remains a crucial issue in cognitive neuroscience. We used high-density recordings of event-related potentials (ERPs) to ask several questions: (1) What sequence of activations is evoked by subliminal masked stimuli? (2) What additional sequence of brain events leads a stimulus to cross the threshold for conscious reportability? (3) At what time does this access to conscious report occur?

Existing models of conscious access differ markedly with respect to the brain areas involved (posterior versus anterior) and the timing of their activation (early versus late). A first category of model views conscious visual perception as a phenomenon localized to posterior brain areas, and whose contents

are determined by the pattern of neuronal activity in early visual and/or occipito-temporal areas. According to these proposals, the threshold for conscious perception during masking should be determined solely within the visual cortex, either within a single area or due to short-range recurrent interactions among posterior occipito-temporal regions¹. As far as timing is concerned, some authors have proposed that conscious perception is already detectable in the ascending, feedforward activation evoked as early as ~100 ms after stimulus presentation. For others, visual consciousness is not associated with feedforward visual activation, but requires a subsequent period of “localized recurrent processing”^[10], still relatively early and confined to posterior occipito-temporal brain systems. Electrophysiological recording in macaque monkeys during masking suggest a peak effect of recurrent interactions in area V1 around 100–140 ms after stimulus presentation, and intracranial human recordings suggest that category-specific ventral occipito-temporal cortices are already strongly activated by 150–200 ms, although extension to more anterior regions and reverberation effects can extend for much longer (290–700 ms). Thus, although predictions concerning timing are less precise, this category of models would predict that subjective reports of conscious perception should correlate with posterior and relatively early brain events.

At odds with this view, a second category of models views conscious access as the formation of a late brain-scale neuronal assembly involving recurrent long-distance interactions among distributed thalamo-cortical regions, particularly the prefrontal cortex and higher cortical association areas. In a detailed neural network simulation, those areas, when linked by reciprocal top-down and bottom-up connections, exhibit a threshold for “global ignition”. When this threshold is exceeded, even a brief external stimulation can simultaneously activate many distant areas and yield a long-lasting pattern of reverberating activity. It is claimed that such a distributed pattern corresponds to a consciously reportable state, because its active contents are broadcast to many specialized processors, including those for verbal or motor report.

When an incoming activation fails to exceed the ignition threshold, it can still briefly propagate through the processors but quickly vanishes, because it is not supported by recurrent self-amplifying loops. This state may correspond to a situation of subliminal processing.

The schematic predictions that may be expected from this “global neuronal workspace” model as a stimulus is made increasingly more visible by lowering its masking strength. First, initial visual activation should be nearly identical for all stimuli, even heavily masked ones, irrespective of whether they are perceived or not. Second, as masking strength decreases, activation should propagate to increasingly deeper levels of processing in occipito-temporal and parietal cortices. Third, when reaching higher cortical areas, particularly the prefrontal cortex, activation should diverge in a nonlinear manner, either quickly building up to a high level (supra-threshold stimulus), or decaying back to baseline (subliminal stimulus). Fourth, the surge of activation to supra-threshold stimuli should occur simultaneously in a global network, including prefrontal, parietal, as well as posterior occipito-temporal regions, thus creating a second, late peak of activation in early visual areas.

To test these predictions, we collected high-density recordings of ERPs during a backward masking paradigm^[2] in which a single brief (16 ms) parafoveal target digit was followed by a mask consisting of letters surrounding

the target location. We varied quasi-continuously the target-mask stimulus onset asynchrony (SOA) so that, with increasing SOA, the same target stimulus crossed the threshold from subliminal processing to conscious perception. We documented this transition behaviourally using objective (forced-choice comparison of the digit to five) and subjective (continuous scale of visibility) measures of conscious access. Both the proportion of “seen trials” and the objective performance increased nonlinearly as a function of SOA, thus tracing a characteristic sigmoidal curve with a well-defined threshold.

Recordings of ERPs evoked by these stimuli then allowed us to examine how brain activity changed around this transition point. By subtracting out the brain activity evoked by the mask only, we isolated the entire sequence of target-evoked ERPs, thus allowing us to visualize both early visual activation and later brain events. To determine which of these components were associated with conscious-level processing, we used two independent criteria. First, we searched for ERPs whose profile of amplitude as a function of SOA traced a nonlinear curve parallel to the proportion of “seen” trials. In other words, we used this nonlinear profile of subjective visibility ratings as a “signature” of conscious processing in the brain (as done in functional MRI (fMRI) by Haynes et al. for metacontrast masking). As a second criterion, we also examined, at a fixed intermediate SOA value, the difference between trials reported as “seen” and trials

reported as “not seen.” The central issue was whether those two criteria (nonlinear signature and difference between seen and not-seen reports) pointed to an early activation localized to occipito-temporal areas or to a late global ignition in prefrontal and parietal areas.

Results

Behavioural Results

We first evaluated the subjects’ objective and subjective perception of masked digits. Illustrates how subjective visibility ratings neatly clustered into two well-defined “seen” and “not-seen” states. When the target was absent, subjects hardly ever gave subjective ratings exceeding 25% of the scale (0.3% of trials). Conversely, at the longest SOA where the target was highly visible, the ratings almost always exceeded 25% of the scale (97.4% of trials). At intermediate SOAs, the distribution of cursor positions reached a minimum around 25%, separating the data into two sets, one peaking at visibility zero (“not-seen” trials), and the other at maximal visibility (“seen” trials), replicating our earlier observations. Thus, the value of 25% visibility was used as a cut-off between seen and not-seen trials.

We then calculated for each SOA and each subject the percentage of seen trials. The percentage of seen trials increased significantly as a function of SOA ($F(5,55) = 154.17, p < 0.001$). The increase was nonlinear and showed a quick transition between 33 and 66 ms from mostly not-seen to mostly seen responses. Indeed, there was a significant difference

($p < 0.01$) between the rate of increase of subjective visibility ratings in the SOA interval from 33 to 66 ms and that in the 16–33 ms and 66–83 ms intervals, indicating a significant nonlinearity. For each subject, the curve relating the percentage of seen trials to SOA was well fitted by a sigmoid. The subjective visibility threshold was defined as the SOA where the sigmoid reached its inflexion point (for mathematical details, see Materials and Methods and). The mean subjective threshold was 43.9 ms (standard deviation [SD]= 10.5 ms).

Similarly, in the objective task, performance in comparing the target with the numeral 5 increased with SOA ($F(5,50) = 82.02$, $p < 0.001$). This performance was at chance level only for the shortest SOA of 16 ms. Again, the rate of increase was larger in the SOA interval from 33 to 66 ms than in the 16–33 ms and 66–83 ms intervals ($p < 0.05$). A sigmoid provided a good fit and allowed us to define an objective visibility threshold for each subject (mean = 40.8 ms; SD = 12.4 ms).

As in our previous work, a strong linear correlation was found between objective and subjective thresholds ($r^2 = 0.747$, slope = 1.03), once a single outlier subject was excluded. This indicated that subjective and objective measures followed a similar nonlinear transition with a single threshold parameter which varied across subjects. To further study the relation between subjective and objective measures of conscious access, we subdivided the subjective visibility scale into four

bins according to the position of the cursor (1st, 2nd, 3rd, and 4th quarters of the scale, with the 1st quarter corresponding to the above “not-seen” category). We then computed the objective performance for the different SOA within each of these four subjective bins. There was a good cross-validation of the objective and subjective measures inasmuch as objective performance was always way above chance at all SOAs whenever trials were classified as “seen” (bins 2, 3, and 4). Conversely, in bin 1 corresponding to not-seen trials, objective performance was at chance level for SOAs 16 and 33 ms ($p = 0.11$ and $p = 0.059$, respectively), but above chance for longer SOAs 50 and 66 ms ($p < 0.001$). Those results indicated that on some trials, subjects could compare accurately the target to the numeral 5 even if they reported that they could not see it. Such above-chance performance in the absence of conscious reportability is reminiscent of “blindsight” and is indicative of subliminal processing, as previously reported in subliminal priming tasks.

In summary, both objective and subjective data followed a sigmoidal curve as a function of SOA, with a similar nonlinear threshold (defined as the inflection point of the sigmoid). We take this parallelism between objective and subjective measures of conscious access as an indication that a major transition in processing occurs around SOA = 50 ms, and this transition affects a broad range of cognitive processes, including those leading to introspective

reports as well as those leading to simple numerical decisions. We are mostly concerned with the neural correlates of this major transition, which is captured by both objective and subjective measures. Note that our definition of the conscious threshold departs from the classical psychological definition, which is based on the SOA at which objective performance first departs from chance. Indeed, a partial dissociation was found at short SOAs, where we observed a proportion of subjectively not-seen trials accompanied by above-chance objective performance. This dissociation is compatible with the notion of a distinct “objective threshold” within the zone associated with an absence of subjective perception. Unfortunately, however, there were too few trials in this “gray zone” between objective and subjective definitions of conscious perception to address the issue of its underlying brain mechanisms. We focused our analysis on the correlates of the subjective threshold and, more precisely, on the issue of which ERP components exhibited a nonlinear curve parallel to the subjective reports. As noted above, behavioural visibility ratings increased suddenly from SOA = 33 ms to SOA = 66 ms, whereas they varied little either from 16–33 ms or from 66–83 ms. This specific shape was used as a litmus test to identify which ERP components correlated with conscious access. As a second criterion, we also examined which ERP components distinguished seen and not-seen subjective reports at the threshold SOA of 50 ms.

Discussion

Summary of Main Results

Our procedure isolated the brain activity evoked by a masked visual stimulus and examined how it was affected by backward masking at variable target-mask SOAs. Although several ERP components were affected by backward masking, two criteria suggested that the P3 component was most tightly associated with subjective perception: (1) its amplitude as a function of SOA exhibited the same sigmoidal shape as the fraction of seen trials; and (2) it showed a significant difference between seen and not-seen trials at a fixed SOA. Source analysis suggested that the underlying cerebral mechanism was a sudden activation of a distributed bilateral fronto-parieto-temporal network starting about 270 ms after stimulus onset. In the preceding period (140–270 ms), the results revealed the progressive build-up, in posterior occipito-temporal and parietal areas, of a nonlinear divergence of activation as a function of SOA, which points to a dynamic nonlinear amplification as the neural correlate of the masking threshold.

Brain Activity below the Conscious Access Threshold

A first important outcome of our experiment is to characterize further the fate of subliminal masked stimuli. Our results confirm that nonreportable visual stimuli can propagate through a series of cortical processing stages. As suggested by several previous behavioural experiments, they indicate that the depth of

processing depends on the target-mask interval (SOA). At the shortest SOA (16 ms), there was a strong reduction in all ERP components (though not reaching significance for the P1a). This observation suggests that masking at such short target-mask interval may already partially occur at a peripheral or subcortical level, thus leaving little target-induced activation except in early occipital cortex. As soon as SOA reached 33 ms or more, however, we observed strong subliminal activation in the contralateral occipito-temporal pathway (particularly the mid-ventral temporal cortex, where the activation corresponding to scalp N1 had the same intensity for all SOAs > 16 ms), with a small spread to ipsilateral temporal and bilateral parietal cortices.

It could be argued that at SOA = 33 ms, the averaged ERPs were contaminated by a non-negligible proportion of seen trials, because the sigmoidal curves for objective and subjective reports had already taken off at this SOA value. However, demonstrated that the results were essentially unchanged when excluding the minority of seen trials and restricting the analysis to not-seen trials at SOA = 33 ms. Thus, early visual processing indexed by the P1a and N1 is essentially unaffected even on trials subjectively rated as invisible.

This conclusion is compatible with previous single-cell recordings during backward masking paradigms, which revealed preserved selective firing in occipital and inferior temporal cortices in response to heavily

masked stimuli. They also corroborate previous human ERP data, demonstrating preservation of P1 and N1 waveforms during backward masking and attentional blink paradigms. Similarly, recent fMRI studies of backward masking paradigm have shown that early visual activity need not be reduced under conditions of stimulus invisibility. Even under conditions of strong metacontrast masking, visual activation is maintained in areas V1 and V2 and contains sufficient information to allow partial stimulus decoding.

By sorting trials using subjective reports of “seen” versus “not seen,” we also examined the cerebral processing of stimuli presented for an even longer target-mask interval (50 ms) and yet still reported as being invisible. Those result indicated that at these lags, an even longer-lasting subliminal activation, extending beyond early visual processing, can be induced. Indeed, all ERP components, including the P3, showed a significant subliminal activation relative to target-absent trials. Nevertheless, although activation amplitudes were initially identical between seen and not seen stimuli before 270 ms, this activation then decreased in amplitude relative to seen trials, and cortical source models indicated that it dropped toward zero within about 500 ms.

We thus conclude that a brief subliminal stimulus can produce a transient activation in many areas, even those associated with the scalp P3 waveform, but that this activation is small and brief. This conclusion fits with several previous observations of anterior brain activation under subliminal

conditions, including frontal eye field activation by masked stimuli in monkeys, anterior negativity evoked by undetected errors, and frontal and cingulate P300 responses evoked by subthreshold visual oddballs. In these reports as in the present data, the subliminal activation was always strongly reduced compared to the supraliminal case. As discussed further below, a minimal threshold level of activation seems to be needed to cause a global and sustained ignition associated with conscious perception.

References

1. Breitmeyer B (2006) Visual masking: Time slices through conscious and unconscious vision New York: Oxford University Press. 384 p.
2. Del Cul A, Dehaene S, Leboyer M (2006) Preserved subliminal processing and impaired conscious access in schizophrenia. *Arch Gen Psychiatry* 63: 1313–1323.
3. Kiefer M (2002) The N400 is modulated by unconsciously perceived masked words: Further evidence for an automatic spreading activation account of N400 priming effects. *Brain Res Cogn Brain Res* 13: 27–39.
4. Naccache L, Gaillard R, Adam C, Hasboun D, Clémenceau S, et al. (2005) A direct intracranial record of emotions evoked by subliminal words. *Proc Natl Acad Sci U S A* 102: 7713–7717.
5. Dehaene S, Naccache L, Le Clec'H G, Koechlin E, Mueller M, et al. (1998) Imaging unconscious semantic priming. *Nature* 395: 597–600.
6. Haynes JD, Rees G (2005) Predicting the orientation of invisible stimuli from activity in human primary visual cortex. *Nat Neurosci* 8: 686–691.
7. Pins D, Ffytche D (2003) The neural correlates of conscious vision. *Cereb Cortex* 13: 461–474.
8. Super H, Spekreijse H, Lamme VA (2001) Two distinct modes of sensory processing observed in monkey primary visual cortex (V1). *Nat Neurosci* 4: 304–310.
9. Lamme VA, Zipser K, Spekreijse H (2002) Masking interrupts figure-ground signals in V1. *J Cogn Neurosci* 14: 1044–1053.
10. Lamme VA (2006) Towards a true neural stance on consciousness. *Trends Cogn Sci* 10: 494–501.
11. Zeki S (2003) The disunity of consciousness. *Trends Cogn Sci* 7: 214–218.
12. Tse PU, Martinez-Conde S, Schlegel AA, Macknik SL (2005) Visibility, visual awareness, and visual masking of simple unattended targets are confined to areas in the occipital cortex beyond human V1/V2. *Proc Natl Acad Sci U S A* 102: 17178–17183.
13. Tong F (2003) Primary visual cortex and visual awareness. *Nat Rev Neurosci* 4: 219–229.
14. Allison T, Puce A, Spencer DD, McCarthy G (1999) Electrophysiological studies of human face perception. I: Potentials generated in occipitotemporal cortex by face and non-face stimuli. *Cereb Cortex* 9: 415–430.
15. Baars BJ (1989) *A cognitive theory of consciousness* Cambridge (Massachusetts): Cambridge University Press. 416 p.
16. Dehaene S, Kerszberg M, Changeux JP (1998) A neuronal model of a global workspace in effortful cognitive tasks. *Proc Natl Acad Sci U S A* 95: 14529–14534.
17. Dehaene S, Naccache L (2001) Towards a cognitive neuroscience of consciousness: Basic evidence and a workspace framework. *Cognition* 79: 1–37.
18. Dehaene S, Naccache L, Cohen L, Bihan DL, Mangin JF, et al. (2001) Cerebral mechanisms of word masking and unconscious repetition priming. *Nat Neurosci* 4: 752–758.
19. Dehaene S, Sergent C, Changeux JP (2003) A neuronal network model linking subjective reports and objective physiological data during conscious perception. *Proc Natl Acad Sci U S A* 100: 8520–8525.
20. Dehaene S, Changeux JP (2005) Ongoing spontaneous activity controls access to consciousness: A neuronal model for inattentive blindness. *PLoS Biol* 3: e141.
21. Dehaene S, Changeux JP, Naccache L, Sackur J, Sergent C (2006) Conscious, preconscious, and subliminal processing: A testable taxonomy. *Trends Cogn Sci* 10: 204–211.
22. Vuilleumier P, Sagiv N, Hazeltine E, Poldrack RA, Swick D, et al. (2001) Neural fate of seen and unseen faces in visuospatial neglect: a combined event-related functional MRI and event-related potential study. *Proc Natl Acad Sci U S A* 98: 3495–3500.
23. Beck DM, Rees G, Frith CD, Lavie N (2001) Neural correlates of change detection and change blindness. *Nature Neuroscience* 4: 645–650.

Timeless Moral Imperatives in Causal Analysis of Social Functioning

Dr. Abha Kumari

The neofunctionalist movement in sociology adopted functionalism as a tradition rather than a method (Alexander 1985). Its general discourse and research programs are mainly concerned with rehabilitating Parsons, further elaborating and proliferating his ideas and conceptual schemes, and, more recently, with a revision and reconstruction of Parsons' intellectual legacy. Its epistemology locates social-scientific thought in many relatively autonomous dimensions—from metaphysical to empirical environments—but without a guiding method. Sociological method is replaced with “methodological and meta-methodological assumptions and techniques” referring primarily to the philosophical alternatives of idealism vs. materialism or positivism, and their possible synthesis (Alexander 1982, 1983). The slight of specifically functionalist methodology is based on a general dismissal of Merton's contribution to it as well as on the fact that Parsons preferred “action theory” as a name for his sociology (Alexander 1985). Yet, the concepts of functions and functional equivalents are still kept alive, including manifest and latent functions, except that now their use comes with disclaimers and quotation marks (see Alexander and Colomy 1990b, pp. 331, 361n1, and

passim). This creates an impression of a need to apologize as if these terms were something to be ashamed of. On the other hand, to my knowledge, the charge that neofunctionalism is “not really functional” so long as it does not address the question of functional imperatives (Turner and Maryanski 1988) has never been answered.

Following Alexander's theoretical logic in sociology, many substantive contributors to neofunctionalist literature show high sensitivity to multidimensional epistemology, but methodological questions of functional analysis are simply ignored. In Stephen Fuchs' contribution to sociology of science featured in the neofunctionalist showcase collection, institutionalized standards of scientific truth in the form of logic and method are replaced with local-situational criteria of academic reputation and power within elitist networks of professional knowledge producers. Method is seen as an otherwise useless embellishment invoked pro forma, for presentation purposes only. In principle, anything goes in this pedestrian vision of science so long as convenient authorities are cited, and reported results are approved by those in position of power at the moment. One can only wonder what makes Fuchs' essentially ethnomethodological writing functionalist other than citations from Luhmann. As for Luhmann, his treatment of functional analysis is hardly relevant here since he defines it epistemologically—as a comparative study of functional equivalents in solving problems of science in general. No sociological specification is offered, the only context being Luhmann's general abstract ideas of systems differentiation.

My task here is to return to sociological functionalism as a method, and to suggest that it has important redeeming values, that sociological structural-functional analysis can be improved and used without shame and equivocation as a solid foundation of fruitful empirical research. A re-examination of Merton's paradigm of functional analysis provides a clue to the difference between instrumental-naturalistic and value-rational functional analysis. Within the latter mode, I highlight the importance of moral functional imperatives as responsible for all social structural change. Coupled with a distinction between action and behaviour, this makes it possible to redefine structural-functional method as a macrosociological method of causal

analysis of moral (dys) functioning, and to find a way to avoid teleological explanations. Systemic conceptual schemes are discussed as relevant for causal explanation of social functioning and development. A connection is established between Parsons' unfulfilled idea of dynamic structural-functional analysis and modern statistical causal modelling. The question of causal order is explored in the context of theories of developmental-evolutionary change with a special reference to neofunctionalist theories of social differentiation.

Functional Analysis: Cutting the Umbilical Cord

Merton prefaced his paradigm of functional analysis with a detailed critique of the ways this method was practised in the social sciences of his day, notably in the cultural anthropology of Radcliffe-Brown and Malinowski. When examining what he called the postulate of indispensability, Merton distinguished between two incompatible positions. On the one hand, there were assertions by social analysts that each of the existing social institutions and social structures in general were irreplaceable for the fulfilment of a variety of social functions, and that such functions could alternate and substitute for one another—hence the notion of functional alternatives, substitutes, and equivalents. Along with that, there were assertions or assumptions of the indispensability of certain crucial social functions—called functional prerequisites or imperatives—whereas the social

structures through which they were fulfilled could vary and change. Merton's subsequent discussion shows, however, that he did not fully appreciate the implications and the power of this distinction.

Unlike cultural anthropology up to the 1950's that studied preliterate societies having no written history and therefore no traceable social development, sociology studies developed societies with their rich historic backgrounds. No one can deny the tremendous institutional and behavioural structural changes that Western societies have undergone throughout their history, especially during the last three centuries. If sociohistoric continuity is not located in ever-changing social structures, then it must be in certain enduring moral values capable of creating and maintaining social bonds. Without assuming such values as imperatives of macrosocial functioning, it is impossible to account for the continuity of Western societies as cohesive units of human self-organization despite their sometimes radical structural changes. If we do assume the existence of timeless moral functional imperatives, then structural changes become necessary adaptations of social institutions and behaviour patterns to better fulfil the moral imperatives of any normal social functioning. Macrosocial functional analysis must postulate such moral imperatives first, demonstrate their persistence across as well as within sociohistoric epochs, and only then examine various and variable institutional, behavioural, and

concomitant spacial and temporal social structures through which the functional imperatives have (or have not) been fulfilled. This can be done by identifying typical phases of social functioning as well as the structural constraints that cause social dysfunctioning. With that, we must take the notion of functional equivalents, substitutes, alternatives to mean alternative structural arrangements fulfilling the same functional imperatives.

There are fundamental reasons why the two methodological alternatives in Merton's postulate of indispensability are not of equal merit, and why social scientists should not falter in choosing the right one in their assumptions. The notion of social functioning and dysfunctioning has referents in the concrete phenomenal reality of everyday successes and problems as reflected in hourly news broadcasts. By contrast, we can speak of social structures only by abstracting from the processes of change in which they are always embedded, whether in diachronic social development or in synchronic social functioning, as it is well demonstrated by recent sociological studies of economic institutions (Granovetter 1985, Zelizer 1985, Zukin and DiMaggio 1990, Fligstein 1996). When social scientists try to impute functions to an element of social structure, they unlawfully hypostatize this abstract analytical idea. The rationale of determining the contributions institutions or behaviour patterns make to society's survival is false. The term function may well be applicable to the natural world of living organisms and species whose

survival may be problematic and a legitimate subject-matter of a detached naturalistic study. By contrast, the idea of all social institutions or behaviour patterns performing some “useful functions” can only serve as an instrument of manipulative or exploitative, i.e., asocial causes. The classic paradox of crime considered “functional” is an extreme and obvious example that belies the general value-neutral logic of seeing all existing social structures as somehow useful. Following this logic, Merton found a number of “latent positive functions” in political machines. What better example of consistent findings of naturalistic functional analysis running against the moral foundations of American democracy?²

The content of moral imperatives may change historically and across cultures, yet they always remain the most essential ingredients of human society and civilization. The notion of moral imperatives may sound idealistic only because of their peculiar existence. Indeed, when we recognize and uphold collective moral ideals as values, and make them a source of inspiration, a guiding light of our lives, when we live lives meaningful in their terms, nothing special happens to us or to the ideals and values themselves. The imperatives and values continue to live within us to the extent that we appropriate them, i.e., make them our second nature prompting us to good deeds of which we may often be simply unaware. This is just normal behaviour. But, as Durkheim suggested, when we forgo them,

when our conduct is guided by egotistic self-interest or individual desires and appetites, we easily become disillusioned, frustrated, and, in extreme cases, depressed and despondent even to the point of suicide. Our failure to adhere to genuine moral ideals and values has grave consequences for them, too. Since moral values, beliefs, and sentiments of which our civilization is composed are realized through the acts of our daily behaviour and through fostering them in our children, they can never be taken for granted.

Before Parsons presented AGIL as four universal functional requisites, he included in such list elements of natural nonhuman environment, human biological substratum, as well as the personality, the social, and the cultural “subsystems of action”. In addition, Parsons spoke about “imperatives of compatibility” among various behavioural and institutional structural elements, such as value-orientations, occupational and kinship roles, economic and power structures. It is perfectly clear that Parsons’ functional imperatives of compatibility had the same meaning as Merton’s structural constraints. This confusion of functional imperatives, or prerequisites, with the structures they operate through was multiplied in a parallel notion of “structural prerequisites” synonymous with imperatives of compatibility. It is ironic that Parsons’ false rationalizations of functional imperatives came as his early insistence on ultimate moral values as central to social order-the true imperatives-began to be

diluted and was eventually completely lost in these categories.

Sociology cannot accept imputation of ad hoc social functions to all given social structures as its method, nor the instrumental logic behind it. None of this means, however, that functional analysis should be abandoned. By incorporating the alternative, by recognizing the reality of moral functional imperatives as responsible for structural change we obtain a specifically social science having its own method different from the methods of the natural sciences. Instead of useful social functions, we can speak of social functioning in the sense of properly working social systems where moral imperatives materialize in appropriately changing social structures. Societies are sustained by timeless moral imperatives, not by immutable social institutions. Macrosocial functioning in this sense can and should be studied with a view of discovering social structural constraints and finding better substitutes for them.

Conclusion

Functionalism is more than a valuable classic tradition in social theory worthy of being continued. The adoption of neofunctionalism rather than neo-Parsonianism as a name for a movement in sociology imposes certain obligations with respect to the methodology of structural-functional analysis. Centred on moral imperatives, structural-functional analysis becomes causal analysis of moral (dys)functioning. This is a powerful method that no macrosociologist can afford to ignore. Equipped

with this method, social science can reconstruct specific structural causes of present social functioning and dysfunctioning in quasi-experimental cross-sectional social research. Significant causal factors of social dysfunctioning can be identified as characteristic behavioural structural constraints for the operation of moral imperatives in particular institutional domains and in their particular (extensive and intensive) spatial and temporal segments. Systemic causal models of synchronic functioning and dysfunctioning social structures can be built and quantitatively estimated taking the reverse of evolutionary-developmental order as a guide. Alternative theories of macrosocial functioning and dysfunctioning can then be tested in field experiments with new or improved social-structural arrangements.

Macrosociology can be advanced if such analysis excludes social action from its frame of reference, whether voluntaristic, strategic, communicative, or collective, and if it is confined to the macrosociology of institutional and behavioural social structures. The notion of teleological functional explanation is a naturalistic misconception. Instead, systemic causal explanations of macrosocial functioning and dysfunctioning are this method's central concern. While microsocial action always appeals to prevailing social norms, and indeed revolves around them, such norms are discovered only in the realm of macrosocial (dys)functioning and underlying social structures with their moral

standards. The idea of functional interdependence must be relegated to the subsidiary task of constructing systemic conceptual schemes serving the needs of causal modelling of macrosocial functioning and dysfunctioning. To conceive macrosocial functioning and dysfunctioning in relational rather than in substantial terms, postulated elements of conceptual schemes must be relevant to timeless moral imperatives, notably, social justice. At issue in structural-functional analysis are procedures of macrosocial functioning and development as fulfilling or not fulfilling moral imperatives that are normative-through the mediation of ideology, labelling, and institutional behaviour-for all social actors. Such analysis presupposes also a continuous emergence of social norms-through creative reinterpretation of meanings, institutionalization, and negotiated order in new social structures of family, cultural, economic, political, regional, generational, socioecological, occupational, and other types of social behaviour overcoming inherited structural constraints.

The idea of opposite causal order in the analysis of social functioning and evolutionary development also applies to visions of social systems in general-as ontological assumptions involved in the instrumental-naturalistic and value-rational modes of structural-functional analysis. Instrumental-naturalistic functionalism originated in biological visions of the world where the functioning of living systems is fully determined by their past phylogenetic evolution. For that reason, living

systems can be subjected to value-neutral conceptualization and instrumental manipulation. This relationship is reversed in human social relations. The fabric of our social world is not a pregiven fact. It consists of norms and values contested and shaped by numerous social groups representing powerful social movements. Our moral imperatives help us make sense of the past and see inherited social structures as falling short of the requirements of the present. In contrast to naturally evolved living systems, human social development is an artifact determined by the ways in which systems of social relations function and dysfunction. This is why both synchronic and diachronic sociological explanations always contain a value element. This is also why modernization theories of social change have been discarded as invalid. As opposed to the contemplative-positivist norm of value-neutrality, good social science guided by structural-functional method is the best means for testing possible forms of social development. A demonstrable method is one way for value-rational social scientists to uphold high standards of objectivity and truth, and avoid being ideological servants rationalizing someone's partisan utopias, plans, or schemes whether well-intentioned or otherwise.

References

- Aberle, D.F., A.K. Cohen, A.K. Davis, M.J. Levy, Jr., F.X. Sutton. 1950. "The Functional Prerequisites of a Society." *Ethics* 60 (Jan):100-111.

- Alexander, Jeffrey C. 1982. *Theoretical Logic in Sociology. Volume One. Positivism, Presuppositions, and Current Controversies.* Berkeley: University of California Press.
- Alexander, Jeffrey C. 1983. *The Modern Reconstruction of Classical Thought: Talcott Parsons.* Berkeley: University of California Press.
- Alexander, Jeffrey C. (ed.) 1985. *Neofunctionalism.* Beverly Hills: Sage.
- Alexander, Jeffrey C. 1998. *Neofunctionalism and After.* London: Blackwell.
- Alexander, Jeffrey C., and Paul Colomy. 1990a. "Neofunctionalism Today: Reconstructing a Theoretical Tradition." Pp. 33-67 in *Frontiers of Social Theory*, edited by George Ritzer. New York: Columbia University Press.
- Dubrovsky, Vitaly. 1999. "Beyond Duality: From Opposition to Constructive Attribution." *Proceedings of the Forty-Second Meeting of the International Society for Systems Sciences.* Louisville, Kentucky.
- Duncan, Otis Dudley. 1975. *Introduction to Structural Equation Models.* New York: Academic Press.
- Durkheim, Emile. [1902-1903]1961. *Moral Education.* New York: Free Press.
- Durkheim, Emile. [1924]1953. *Sociology and Philosophy.* Glencoe: Free Press.
- Emirbayer, Mustafa. 1997. "Manifesto for a Relational Sociology." *American Journal of Sociology* 103(2):281-317.
- Engels, Frederick. [1884]1972. *The Origin of the Family, Private Property, and the State.* New York: International Publishers.
- Fligstein, Neil. 1996. "Markets as Politics." *American Sociological Review* 61:656-673.
- Freedman, David A. 1991. "Statistical Models and Shoe Leather." *Sociological Methodology* 21, pp. 291-313.
- Fuchs, Stephen. 1986. "The Social Organization of Scientific Knowledge." *Sociological Theory* 4(2):126-142.
- Fulbrook, Mary. 1978. "Max Weber's 'Interpretive Sociology': a comparison of conception and practice." *British Journal of Sociology* 29(1):71-82.
- Gans, Herbert. 1973. *More Equality.* New York: Vintage.
- Granovetter, Mark S. 1985. "Economic action and social structure: the problem of embeddedness." *American Journal of Sociology* 91:481-510.
- Goode, William J. 1963. *World Revolution and Family Patterns.* New York: Free Press.
- Heidegger, Martin. 1962. *Being and Time.* New York: Harper & Row.
- Heise, David 1975. *Causal Analysis.* New York: Wiley.
- Hempel, Carl G. 1959. "The Logic of Functional Analysis." Pp. 271-307 in *Symposium on Sociological Theory*, edited by Llewellyn Gross. Harper & Row.
- Joas, Hans. 1996. *The Creativity of Action.* University of Chicago Press.
- Merton, Robert K. 1938. "Social Structure and Anomie." *American Sociological Review* 3.
- Smikun, Emanuel. 1990. "Word and Deed in Weber's Methodology." *Michigan Sociological Review* No. 4.
- Toynbee, Arnold. 1953. *Greek Civilization and Character: The Self-Revelation of Ancient Greek Society.* New York: Mentor.
- Turner, Jonathan H., and Alexandra Maryanski. 1979. *Functionalism.* Menlo Park, CA: Benjamin/Cummings.
- Turner, Jonathan H., and Alexandra Maryanski. 1988. "Is 'Neofunctionalism' Really Functional?" *Sociological Theory* 6:110-121.
- Turner, Stephen P. 1983. "Weber on Action." *American Sociological Review* 48:506-519.
- Weber, Max. [1904]1949. "'Objectivity' in Social Science and Social Policy." Pp. 49-112 in *The Methodology of the Social Sciences*, translated and edited by E. Shils and H. Finch. New York: Free Press.

**Deptt. of Sociology,
Nitishwer Singh College,
Samastpur, Muzaffarpur**

The Relativity of Disruption : E-banking as a Sustaining Innovation in the Banking Industry

Dr. A. R. Shafi

Introduction

Clayton Christensen's Disruptive Innovation Theory (DIT) is one of the most influential theories in the recent academic and management literature. This is reflected not only in his best-selling books "The Innovator's Dilemma" and "The Innovator's Solution", but also in the discussion and follow-up work that his theory created among academics and managers alike.

Christensen suggests a broad definition of the concept of innovation. To him, innovation refers to all changes of "processes by which an organization transforms labour, capital, materials and information into products or services of greater value". Thus, in addition to creating new processes and products, innovation also includes new types of business models.

The DIT recognizes two types of innovation: on the one hand, sustaining innovations generate growth by offering a better performance in existing markets. Usually, regardless of whether they are incremental or radical, these innovations are exploited successfully by the established players in an industry and do not lead to revolutionary changes in an industry's landscape.

On the other hand, compared to existing products and business models, disruptive innovations initially have a lower performance in the traditionally most

important performance criterion (such as functionality, speed, or size).

Even though, in most cases, disruptive innovations are less complex from a technological viewpoint, they are usually brought to the markets successfully by new entrants. Christensen posits that this is due to the behaviour that incumbents and new entrants typically display. Managers in incumbent firms are unwilling to support disruptive innovations because: (1) they usually do not fulfil the needs of the firm's existing and most profitable customers and (2) they offer a much lower profit margin than sustaining innovations do.

As Christensen points out throughout his publications, it is not always easy to apply the categories of disruptive and sustaining innovation in practice: "Even people who deeply understood the theories [of disruptive innovation] struggled to use them in a repeatable and methodical fashion". One reason for these difficulties is the fact that "disruption is a relative term". This means that even though a particular innovation is disruptive to one player in an industry it might be sustaining to another. This implies that firms have to be careful when categorizing innovations, particularly if most companies and the public opinion consider an innovation to be of disruptive nature. For example, throughout the second half of the 1990s, the Internet was believed to be a disruptive innovation to almost all industries while in reality, it turned out to be of sustaining nature in many industries. There, the Internet had a sustaining impact in that it strengthened the position of the established market leaders.

Particularly, in the area of electronic retail banking there has been an ongoing dispute among academics regarding the disruptive nature of the new business models based on the Internet. In their book "The innovator's solution", Christensen and Raynor state that "Internet banking can only be deployed as a sustaining technology relative to the business model of retail banks". Their underlying argument is that it is difficult to "create a business model that would afford disruptive online bank attractive profits at the discount prices required to win business at the low end [of the market]". This view was supported by the failure of numerous pure online ventures such as Bank

One's online subsidiary Wingspan during the collapse of the online e-business bubble in 2001 which put the previous academic research regarding the disruptiveness of e-banking into severe doubt.

However, more recently, there have again been numerous authors who claim that Internet-based Banking might be a disruptive innovation in retail banking after all. Research conducted by Frei, Campbell and Hitt [Campbell and Frei 2004, Campbell 2003, Hitt and Frei 2002] points in this direction, implying that it is possible to develop a viable disruptive e-business model in retail banking. Gary (2004) discusses the case of ING Direct that displays characteristics of a low-end disruption because of cost advantages vis-a-vis physical retail outlets. Other scholars conclude that the failures of pure online ventures were rather consequences of inadequate strategic implementation of an otherwise promising business model. Thus, at this point in time, the question regarding the disruptiveness of E-banking in the retail banking industry remains open—and along with it its future competitive landscape. The objective of this paper is to address this question by conceptually analyzing the case of Nordea Bank (Scandinavia), an incumbent that has over the last decade enjoyed extraordinary success in e-banking. Nordea presents an interesting real-world example because it is an important bricks-and-mortar bank in the Scandinavian region while it is also considered to be one of the most important e-banks in the world [Echikson 2001]. The research employed is a case design [Yin

1984, Eisenhardt 1989, Carlile and Christensen 2005] where the primary unit of analysis was the online organization of Nordea, the largest Scandinavian bank, which is described in more detail in later sections. The time frame of the analysis spans from the inception of computer-based banking services at Nordea in the early 1980s until 2004.

We chose Nordea as a case example because the bank's online operations are highly successful and because the bank has maintained an integrated approach to its online and offline banking operations since it started out. Data for the case study was collected through an extensive personal interview with the head of e-banking at Nordea Bo Harald and telephone interviews with his management staff. These conversations were followed up by e-mail exchanges to collect quantitative data from the internal accounting systems.

This paper is structured as follows. Section 2 provides an overview of the disruptive innovation theory (DIT) and highlights the five strategic dimensions that are associated with it. Section 3 introduces the case of Nordea and describes the e-banking activities of this bank. Section 4 analyzes these activities along the five strategic dimensions of the DIT and addresses the question of whether the Internet has been a sustaining innovation at Nordea. Section 5 summarizes the keys findings of this paper.

The Disruptive Innovation Theory

Before discussing in more detail the case example of Nordea,

this section provides an initial overview of the disruptive innovation theory. The fundamental assumption of DIT is that in most cases, technological progress evolves faster than customers' demand for better performance. This means that technologies that do not fulfil during their early development stages customer's performance requirements continue to evolve and, at one point in time, overshoot the performance that customers can absorb. To illustrate this type of evolution, let us consider for example the PC industry. During the 1980s, desktop PCs were not good enough for many business applications. As a result, private and corporate users frequently upgraded their PC equipment and, in order to succeed, PC manufacturers had to provide higher performance. Nowadays, however, the PC processing power and functionalities have improved beyond the point where most users could utilize them. Using the DIT terminology, PC customers have become *overserved*.

The driving force behind the above development is called *Resource Dependence*.¹ Its theory states that it is actually customers and investors – not managers – who control the allocation of resources in an enterprise. It is so because companies that invest in projects that do not satisfy the needs of their best customers and do not suit the risk structure of their investors over the long run will not receive the necessary funding. This is also due to the fact that companies generally generate most of their profits with their most demanding customers who are willing to pay premium prices

for more sophisticated products. At the same time, profit margins with customers in lower segments are generally much lower. Consequently, innovation efforts tend to revolve around the improvement of products in the high end.

In Christensen's terminology, *sustaining innovations* are those innovations that help established companies to generate higher margins by selling better products to the most demanding customers. Sustaining innovations can both be incremental or radical. While incumbents are not always first to develop a sustaining innovation, they generally succeed in their large-scale commercialization. This is due to the fact that compared to their start-up competitors, incumbents tend to have more financial resources, dispose of a larger customer base and have the processes in place to push the innovation into the market.

In contrast to sustaining innovations, *disruptive innovations* originate in segments that are unattractive for the incumbents; i.e., customers with the lowest demands. The key characteristic of disruptive innovations is that they are located in a different *value-network* than *sustaining innovations*. A Value Network is "the specific context within which a firm identifies and responds to customers' needs, solves problems, procures inputs, reacts to competitors, and strives for profit". They show a lower performance in the dimensions that were valued in the old network, while at the same time offering performance value most important in a different value network. This could either be a lower price (as is the case in

discount grocery retailing), more convenience (as is the case in MP3 Music Players such as Apple's iPod), or more customizability (as is the case in Dell's built-to-order business model).

There are two potential markets for disruptive innovations. First, they can address those customers who are overserved by the functionality of their current provider. In the DIT terminology, this is called a *low-end disruption* and illustrative examples include low-cost airlines, online book resellers (such as Amazon.com) or discount department stores (such as Wal-Mart or Target). Second, a disruptive innovation can address those customers who have hitherto been *non-served*; i.e., unable to use the product. For instance, the online auction place e-bay allowed Internet users to auction off personal belongings to geographically dispersed groups of customers. Previously, this type of auction had been impossible to conduct. In the DIT terminology, this is called a *new-market disruption*. In summary, there are two important factors, which together may lead to disruptive innovations. These are (1) overlapping value networks, and (2) disruptive circumstances:

Overlapping value-networks: Disruptive innovations are located in a different value-network, where other performance criteria are the most important purchasing criteria for customers. However, the value-network of a disruptive innovation has a growing overlap with the traditional value-network [Adner 2002]. This means that even though in the beginning, disruptive innovations only satisfy the low-

end customers of the traditional value-network, they become attractive for more and more customers in the old value-network who ultimately switch over to the new value-network.

Disruptive circumstances: Disruptive innovations only happen in disruptive circumstances. Either customers are overserved by established technologies or they are non-served customers, i.e., "people who lack the ability, wealth, or access to conveniently and easily accomplish an important job for themselves". Under the assumption of the laws of Resource Dependence, increasingly overlapping value-networks in either low-end or new-market disruptive circumstances lead to so-called *asymmetric motivation*: Incumbents have a high incentive to flee into higher-margin segments rather than to fight their customer base in the low-end. Ultimately, their main customer base shrinks to the point where it is too small to sustain the organization and the incumbents therefore fail. The potential for a low-end disruption is high if (1) there is an overlap between the old value-network of the incumbents and the new value-network of the disruptive innovation, (2) if the overlap increases over time, and (3) if a substantial number of customers are over-served. The potential for a new-market disruption is high if (1) there is an overlap between the old value-network of the incumbents and the new-value-network of the disruptive innovation, (2) if the overlap increases over time and (3) if there are non-served customers. A large fraction of the DIT-literature discusses the question how

incumbents can react successfully if they concluded that a specific innovation has disruptive potential. Throughout his publications [e.g. Christensen 1997/2002, Christensen and Raynor 2003, Christensen et al. 2004], Christensen suggests to consider the following strategic dimensions when deciding how to respond to a disruptive innovation: (1) Organizational design, (2) structure of teams, (3) framing of the situation vis-à-vis the employees, (4) the strategy process and (5) the design of the value chain:

Organizational design: In order to exploit a disruptive innovation, incumbents should set up a separate organization. According to the Resource Dependence laws discussed above, the size of this new organization should fit the size of the market in order to enable it to be patient for growth while at the time being impatient for profitability. Furthermore, the new organization should also use separate channels that fit into the value-network of the disruptive innovation: “Disruptive products require disruptive channels”.

Structure of teams: When deciding on the structure of the team that should be engaged to exploit the disruptive innovation, CEO’s should evaluate the fit of the innovation with the organization’s processes. If the innovation involves customary processes, teams coming from lower hierarchies of the organization can be successful. If the processes are entirely new, heavy-weight teams that include senior staff are necessary to push through the new initiatives against organizational resistance.

Framing of the situation vis-a-vis the employees: As an incumbent, in order to receive the resources necessary to develop a disruptive innovation, the situation created by the innovation should first be framed as a threat to the organization. The management team will then feel obliged to allocate substantial resources to the project and employees will follow because both groups are afraid of losing the position in the marketplace. Once a separate organization has been founded, though, the situation should be framed as an opportunity. This is because individuals become more open and creative when they approach a new situation with this mindset. Being open-minded and creative is a central requirement for the emergent, opportunity-seeking strategy development typical for new players.

Strategy process: This implies that in contrast to the planned marketing strategy, which is adequate for sustaining innovations in existing markets, disruptive innovations are best exploited through emergent strategies. This is because new markets, which are not yet defined, cannot be analyzed using traditional market research instruments. Instead, companies trying to market disruptive innovations have to develop strategies “by doing”. This approach also implies that they need the required resources to survive and to learn from early failure.

Design of the value chain: When companies decide on their location in the value chain and their degree of vertical integration, they

should try to be located in sustaining circumstances, i.e., in places of the value chain, where the customer is underserved by the performance of the products offered. Under these circumstances, integrated business models usually have high transaction-cost advantages over modular architectures. In the following section, we present the key elements of Nordea’s e-banking strategy as it has evolved over the last decade. This provides the basis for the subsequent analysis of Nordea’s approach along the different dimensions of the DIT described above.

References

- Adner, R., “When are Technologies Disruptive? A Demand-Based View of the Emergence of Competition,”
- Apigian, C., Ragu-Nathan, B. et al, “Internet Technology: The Strategic Imperative” *Journal of Electronic*
- Bower, J. L., *Managing the Resource Allocation Process*. Homewood, IL: Richard D. Irwin, 1970.
- Campbell, D., “The Cost Structure and Customer Profitability Implications of Electronic Distribution Channels:
- Evidence From Online Banking,” *Harvard Business School Working Paper*, Boston, 2003.
- Campbell, D. and F. Frei, “The Persistence of Customer Profitability: Empirical Evidence and Implications From a
- Financial Service Firm,” *Journal of Service Research*, Vol. 7, Issue 2: 107-123, 2004.

**PG Deptt. of Commerce
J. P. Univesity, Chapra**

An Appraisal of Administrative Accountability in Indian Context

Nalindi Kumari

Abstract

Accountability is the core characteristic of a democratic system. One of the important problems confronting modern states is to identify the ways to ensure administrative accountability. Tension between democratic governance and bureaucratic effectiveness has been central to the study of administration. In contemporary democracies, ensuring accountability of ever-expanding apparatus of public administration without adversely affecting its efficiency and effectiveness has emerged as an onerous task. Earlier, also Alexander Hamilton and Woodrow Wilson had stressed the need of control over public administration. And later, during 1930s and 1940s the much-discussed debate between Carl J. Friedrich and Herman Finer centred round this issue. The most influential contemporary framework for analysing accountability is that developed by Barbara Romzek and Melvin Dubnick. An overview of the genesis of the parliamentary system demonstrates the gradual process by which the legislature asserted its authority. The executive authority as a whole is supposed to be accountable to the legislature, and thus, to the people. Legislature asserts its will through a wide variety of legitimate channels and mechanisms. Parliamentary democracies have the unique feature of fusion between the executive and the legislative branches of the government that had evolved during previous centuries in Britain. This spread to other Commonwealth countries. India also adopted broadly the same scheme.

The supremacy of elected legislature over legislative and financial matters became an essential ingredient of the scheme.

Accountability is the core characteristic of a democratic system. One of the important problems confronting modern states is to identify the ways to ensure administrative accountability. Tension between democratic governance and bureaucratic effectiveness has been central to the study of administration. In contemporary democracies, ensuring accountability of ever-expanding apparatus of public administration without adversely affecting its efficiency and effectiveness has emerged as an onerous task. Earlier, also Alexander Hamilton and Woodrow Wilson had stressed the need of control over public administration. And later, during 1930s and 1940s the much-discussed debate between Carl J. Friedrich and Herman Finer centred round this issue. The most influential contemporary framework for analysing accountability is that developed by Barbara Romzek and Melvin Dubnick.

An overview of the genesis of the parliamentary system demonstrates the gradual process by which the legislature asserted its authority. The executive authority as a whole is supposed to be accountable to the legislature, and thus, to the people. Legislature asserts its will through a wide variety of legitimate channels and mechanisms. Parliamentary democracies have the unique feature of fusion between the executive and the legislative branches of the government that had evolved during previous centuries in Britain. This spread to other Commonwealth countries. India also adopted broadly the same scheme. The supremacy of elected legislature over legislative and financial matters became an essential ingredient of the scheme.

In theory, it is Parliament that makes and unmakes the executive. However, the growth of the party system and its incumbent emphasis on discipline operated through 'whip' mechanism robbed the parliamentary form much of its criticality. The evolved parliamentary norm presupposes any vote against a finance bill as an expression of no-confidence in the ministry. The ministry's continuance depends on the support of the majority of members of the lower house, be it the

House of Commons in Britain or Lok Sabha in India.

India adapted the Westminster model. However with the growth of scope and complexity of government, the difficulty of securing accountability has greatly increased. Increasing realisation about lesser time for scrutiny of legislative and financial business and short sessions brought into sharp focus the need for strengthening the Committee System. In fact, scrutiny of Demands for Grants was considered insufficient right from the 1950s onwards. The Demands of several important ministries were used to be guillotined in view of lack of time. The need for a more detailed pre-voting scrutiny for Grants was highlighted. Further, various legislations had to be referred to joint select committees for consideration. And Parliament did not find time to consider annual reports of various ministries / departments and long term policy statements of the government. With the consolidation of the party system, autonomy of individual members to act as per his/her conscience got eroded over time. The Fifty Second Amendment brought to the Constitution of India in the year 1985, further dwindled the chance of members expressing voice or voting against the party line even on general (non-financial) bills.

Ever-expanding size and role of public administration and shrinking time and attention of parliaments for oversight brought the need of the Committee System to fore. That is 'how and why' the Departmentally Related Standing Committees come into being in India during 1990s. Several

parliamentary democracies like Britain, Canada, Australia, New Zealand and Italy were having parliamentary committees attached to various government departments. In United States of America, there are Congressional committees corresponding to all government departments. These committees wield enormous powers. Thus, success of similar experiments elsewhere led to a beginning in India. In the Eighth Lok Sabha on 18 August 1989, three subject committees were set up. These were on Agriculture; Science and Technology; and Environment and Forests. The successful functioning of these three committees, consensus at various domestic and international forums, and success of similar experiments elsewhere led to the Constitution of 17 Departmentally Related Standing Committees (DRSCs) having jurisdiction over all the Ministries and Departments of the Union Government in 1993. Since 2004, there are 24 committees.

The following questions emerge as to whether Departmentally Related Standing Committees have turned to be a meaningful and effective mechanism for ensuring parliamentary control over India.

It is argued in this paper that having extended the range – depth and breadth – of parliamentary scrutiny, DRSCs constituted a significant improvement in existing mechanisms of parliamentary control over administration in India. It is also argued that DRSCs have the potentiality to make parliamentary control operationally purposive. It further contends that

the DRSCs have device adequate to ensure effective control.

The tension between democratic governance and administrative effectiveness could be resolved. The dilemma of vesting power sufficient to the purposes in view and maintaining adequate control is resolved through the system of Departmentally Related Standing Committees. In fact, the purposive, rational and effective functionalism on the part of Departmentally Related Standing Committees makes parliamentary control viable and real. For Departmentally Related Standing Committees 'accountability' has not remained limited to 'answerability' implying limited, direct and mostly formalistic response to queries, but it encompasses managing diverse expectations. The Departmentally Related Standing Committees regularly oversee how a public administration agency attempts to forecast diverse expectations and to position their agency for proactive as well as reactive responses. The ministries and departments set the goals and targets, ask for money and move for their accomplishments. Numerous DRSC reports indicate how in Committees members leave partisan angle behind and acting objectively pinpoint deficiencies. It adds to public agencies alertness.

After being adopted, the Departmentally Related Standing Committees have succeeded up to a great extent in redressing the imbalance between Parliament and executive. It is true that until 1993, the departmentally related parliamentary standing committees to shadow different government

departments were not in existence in India. In fact, none of the parliamentary democracies made use of such committees until a few decades ago. These were seen as a characteristic of the Congressional system.

The evaluation of Departmentally Related Standing Committees shows that such committees increasingly serve as the main organising centre related to parliamentary oversight of government. Most of the bills are now referred to standing committees in India, which after due deliberation and taking evidence of departmental officials make recommendations. Most of their recommendations are adopted during passage of the bill, though technically they are only of persuasive value.

Going further into the efficacy of Departmentally Related Standing Committees, it may be observed that the realization of committee's potential of providing a number of important values are not automatic. It depends upon various structural and behavioural factors. Structure provides the framework for committee work. It sets the parameter for guiding the behaviour of the members. It also sets the scope and limits of committee influence and provides the ground rule for its work. Two important structural sources from which committees generally gain legitimacy and acquire power are the Constitution and Rules.

However, much of what committees achieve, in making the government behaves, depends not only on their structural strength. It is the behavioural orientation of members that turns out to be

crucially important. In a political system like India one finds a wide divergence between what is statutorily prescribed and the actual behaviour of members. A serious gap between 'rules' and 'roles' is easily noticeable. Though the system of Departmentally Related Standing Committee provides an opportunity for ensuring parliamentary scrutiny and control, the behavioural orientation of members has emerged as crucially important. Two aspects of behavioural orientation – willingness and ability are worth mentioning. So far as equation between willingness and ability of committee members to discharge their responsibilities is concerned, a perfect 'fit' could not be expected. At times, the two may even conflict. It proved difficult to collect concrete measurable data regarding 'ability' and 'willingness'. However at the abstract level, it may be argued that the two are likely to converge, when other factors influencing the decisions of an M.P. remain neutral. In India, a member's role in standing committees does not receive that much publicity. His performance during zero-hour relatively receives much media attention. Constituents at large are remotely concerned / influenced at member's role in standing committees. Theorists also bring the context of culture in assessing the efficacy of Standing Committees. It was argued by them that those countries that have inherited a colonial administrative system are unlikely to find administrators to be deferential to elected politicians. They may not be psychologically prepared to accept MPs* interference. The

electoral volatility of MPs compounds this problem. The general attitude of political parties towards the bureaucracy is also an important variable influencing the perception of standing committee members.

However, Indian bureaucracy at the top that normally interacts with the standing committees, particularly the IAS officers, has over the decades adapted themselves to democratic realities. Not only this, they have moulded themselves so much that epithets like 'committed bureaucracy', 'politicisation of bureaucracy' are used.

How far the 'culture of distrust' among competing political parties that define their role in a mutually exclusive way affects members attitude / behaviour in standing committee is concerned, it may be said that though collaboration in Houses among rival parties seldom materializes. But inter-party collaboration is largely achieved in role performance of standing committee members; minutes of dissent are rarer in DRSC Reports. Committees have commented frequently on the decline in the percentage of grants to a Ministry/ Department. Committees' observations on non-financial issues are equally important.

Further, from the stand point of follow up action, it has been seen that committee reports repeatedly mentioned about un-implementation of previous reports or tardy implementation. Action taken reports have shown that many recommendations were not accepted or implemented by the Government

The scheme of Departmentally Related Standing Committees has surely extended the range (depth) and breadth (scope) of parliamentary scrutiny.

The DRSCs have the potentiality and has made control operationally purposive up to a great extent. But the way power-political aspect, overall dominates parliamentary deliberations; the Departmentally Related Standing Committees Reports have not received adequate attention of the Houses, media, parties and public opinion. A vibrant and robust civil society can confront political/administrative executive on its deficiencies. In course of time it may be hoped that the Departmentally Related Standing Committees would receive adequate support.

The system of Departmentally Related Standing Committees has not devices adequate to ensure control over administration. Their rules assign the functions to these Committees, but prescribe that 'the report of a Standing Committee shall have only "persuasive value" and shall be treated as "considered advice" given by the Committee'.

In fact the reports are tabled in both the Houses; it is the concerned ministry/department that considers observations / recommendations contained in them and submits action taken replies thereon. The Houses do not deliberate over the reports. The absence of discussion on reports in Houses deprives these committees of 'adequacy of devices' for 'effectiveness of control'. So it can be concluded that these committees provide inputs to political executive in policy making that are not binding.

However, the systems of Departmentally Related Standing Committees have extended the range depth and breadth of parliamentary scrutiny. It constitutes a significant improvement over existing mechanism of parliamentary control in India. It is suggested that in order to make parliamentary control operationally more purposive and providing adequate devices to ensure effective control.

First of all there is an urgent need to check indifference in administration. To make the administrative system responsive to the committees' demands for constructive change, it is suggested that the unanimous report of the Committees must be treated as binding on the government. And only the Houses, through resolutions moved by the minister and ratified by both the Houses after due deliberation and reply of the minister, could grant exception. For this, concerned rules would have to be amended after achieving broad consensus across party spectrum.

Second, at the least, the two Houses could set aside time to specifically discuss the pace of implementation of the committees' recommendations. During these discussions, ministers could inform the Houses of the steps taken in their respective ministries, to give effect to the recommendations made by the Committees.

Third, the secretarial and research assistance available to the committees needs to be strengthened. Specialists from the concerned fields could be associated with the Committees in an advisory capacity. It may be

hoped that implementation of above suggestions would go a long way in strengthening the DRSC system. And fourthly, the pattern of open Committee meetings prevalent in Britain, Australia and Canada may also be adopted later on. The existing system of *in camera* committee meetings has certain benefits. It provides a relaxed and informal atmosphere. The nature of committee proceedings is confidential. So implementation of the first three suggestions is imperative and the fourth may wait⁴. Thus the scheme of Departmentally Related Standing Committees has a good beginning. Their functioning during the past decade amply demonstrates their positive role in strengthening the parliamentary oversight and control mechanism.

References

1. Carl Joachim Friedrich, "Public Policy and the Nature of Administrative Responsibility", in C.J Friedrich and Edward S. Mason, (EDS.), *Public Policy*, 1940(Cambridge: Harvard University Press, 1940), pp. 3-24.
2. Barbara S. Romzek and Melvin J. Dubnick "Accountability in the Public Sector: Lessons from the Challenger Tragedy", *Public Administration Review* 47 (1987), pp.227-238.
3. Nalindi Kumari, "Parliamentary Control Over Administration in India with reference to the role of DRSCs", Unpublished Ph. D. dissertation, BRA Bihar University, Muzaffarpur, 2006.

Research Scholar, Political Science, Babasaheb Bhimrao Ambedkar Bihar University, Muzaffarpur

Open Source Democracy or Media Trial for Politics

Dr. Raghwendra Kishor

The emergence of the interactive mediaspace may offer a new model for cooperation. Although it may have disappointed many in the technology industry, the rise of interactive media, the birth of a new medium, the battle to control it and the downfall of the first victorious camp, taught us a lot about the relationship of ideas to the media through which they are disseminated. Those who witnessed, or better, have participated in the development of the interactive mediaspace have a very new understanding of the way that cultural narratives are developed, monopolised and challenged. And this knowledge extends, by allegory and experience, to areas far beyond digital culture, to the broader challenges of our time.

As the world confronts the impact of globalism, newly revitalised threats of fundamentalism, and the emergence of seemingly irreconcilable value systems, it is incumbent upon us to generate a new reason to believe that living interdependently is not only possible, but preferable to the competitive individualism, ethnocentrism, nationalism and particularism that have characterised so much of late 20th century thinking and culture.

The values engendered by our fledgling networked culture may, in fact, help a world struggling with the impact of globalism, the lure of fundamentalism and the clash of conflicting value systems. Thanks to the actual and allegorical role of interactive technologies in our work and lives, we may now have the ability to understand many social and political constructs in very new contexts. We may now be able to launch the kinds of conversations that change the relationship of individuals, parties, creeds and nations to one another and to the world at large. These interactive communication technologies could even help us to understand autonomy as a collective phenomenon, a

shared state that emerges spontaneously and quite naturally when people are allowed to participate actively in their mutual self-interest.

The emergence of the internet as a self-organising community, its subsequent co-option by business interests, the resulting collapse of the dot.com pyramid and the more recent self-conscious revival of interactive media's most participatory forums, serve as a case study in the politics of renaissance. The battle for control over new and little understood communication technologies has rendered transparent many of the agendas implicit in our political and cultural narratives. Meanwhile, the technologies themselves empower individuals to take part in the creation of new narratives. Thus, in an era when crass perversions of populism, and exaggerated calls for national security, threaten the very premises of representational democracy and free discourse, interactive technologies offer us a ray of hope for a renewed spirit of genuine civic engagement.

The very survival of democracy as a functional reality may be dependent upon our acceptance, as individuals, of adult roles in conceiving and stewarding the shape and direction of society. And we may get our best rehearsal for these roles online.

In short, the interactive mediaspace offers a new way of understanding civilisation itself, and a new set of good reasons for engaging with civic reality more fully in the face of what are often perceived (or taught) to be the many risks and compromises associated with cooperative behaviour. Sadly, thanks to the proliferation of traditional top-down media and propaganda, both marketers and politicians have succeeded in their efforts to turn neighbour against neighbour, city against city, and nation against nation. While such strategies sell more products, earn more votes and inspire a sense of exclusive salvation (we can't share, participate, or heaven forbid collaborate with people whom we've been taught not to trust) they imperil what is left of civil society. They threaten the last small hope for averting millions of deaths in the next set of faith-justified oil wars.

As the mainstream mediaspace, particularly in the United States, becomes increasingly centralised and

profit-driven, its ability to offer a multiplicity of perspectives on affairs of global importance is diminished. In America, broadcasting the Iraq war meant selling the Iraq war. Each of the media conglomerates broadcast the American regime's carefully concocted narrative, so much so that by the time the war actually began a Knight Ridder poll found half of Americans believed that Iraqis had participated directly as hijackers on 9 September 2001. The further embedded among coalition troops that mainstream reporters were, the further embedded in the language and priorities of the Pentagon they became. Dispatches regularly referred to the deaths of Iraqi soldiers as the 'softening of enemy positions', bombing strikes as 'targets of opportunity', and civilian deaths as the now-laughable 'collateral damage'. This was the propagandist motive for embedding reporters in the first place: when journalists' lives are dependent on the success of the troops with whom they are travelling, their coverage becomes skewed.

But this did not stop many of the journalists from creating their own weblogs, or blogs: internet diaries through which they could share their more candid responses to the bigger questions of the war. Journalists' personal entries provided a much broader range of opinions on both the strategies and motivations of all sides in the conflict than were available, particularly to Americans, on broadcast and cable television.

For an even wider assortment of perspectives, internet users were

free to engage directly with the so-called enemy, as in the case of a blog called Dear Raed, written by what most internet experts came to regard as a real person living in Baghdad, voicing his opposition to the war. This daily journal of high aspirations for peace and a better life in Baghdad became one of the most read sources of information and opinion about the war on the web.

Clearly, the success of sites like Dear Raed stem from our increasingly complex society's need for a multiplicity of points of view on our most pressing issues, particularly when confronted by a mainstream mediaspace that appears to be converging on single, corporate and government approved agenda. These alternative information sources are being given more attention and credence than they might actually deserve, but this is only because they are the only ready source of oppositional, or even independent thinking available. Those who choose to compose and disseminate alternative value systems may be working against the current and increasingly concretised mythologies of market, church and state, but they ultimately hold the keys to the rebirth of all three institutions in an entirely new context.

The communications revolution may not have brought with it either salvation for the world's stock exchanges or the technological infrastructure for a new global resource distribution system. Though one possible direction for the implementation of new media technology may be exhausted, its other myriad

potentials beckon us once again. While it may not provide us with a template for sure-fire business and marketing solutions, the rise of interactive media does provide us with the beginnings of new metaphors for cooperation, new faith in the power of networked activity and new evidence of our ability to participate actively in the authorship of our collective destiny.

From Moses to modems: demystifying the storytelling and taking control

We are living in a world of stories. We can't help but use narratives to understand the events that occur around us. The unpredictability of nature, emotions, social interactions and power relationships led human beings from prehistoric times to develop narratives that described the patterns underlying the movements of these forces. Although we like to believe that primitive people actually believed the myths they created about everything, from the weather to the afterlife, a growing camp of religious historians are concluding that early religions were understood much more metaphorically than we understand religion today. As Karen Armstrong explains in *A History of God*¹, and countless other religious historians and philosophers from Maimonides to Freud have begged us to understand, the ancients didn't believe that the wind or rain were gods. They invented characters whose personalities reflected the properties of these elements. The

characters and their stories served more as ways of remembering that it would be cold for four months before spring returns than as genuinely accepted explanations for nature's changes. The people were actively, and quite self-consciously, anthropomorphizing the forces of nature.

As different people and groups competed for authority, narratives began to be used to gain advantage. Stories were no longer being used simply to predict the patterns of nature, but to describe and influence the courses of politics, economics and power. In such a world, stories compete solely on the basis of their ability to win believers; to be understood as real. When the Pharaoh or King is treated as if he were a god, his subjects are actively participating in the conceit. But he still needed to prove his potency in real ways, and at regular intervals, in order to ensure their continued participation. However, if the ruler could somehow get his followers to accept the story of his divine authority as historical fact, then he need prove nothing. The story justifies itself and is accepted as a reality.

In a sense, early civilisation was really just the process through which older, weaker people used stories to keep younger, stronger people from vying for their power. By the time the young were old enough to know what was going on, they were too invested in the system, or too physically weak themselves, to risk exposing the stories as myths. More positively, these stories provided enough societal continuity for some developments that spanned

generations to take root. The Old Testament, for example, is basically the repeated story of how younger sons attempt to outwit their fathers for an inherited birth right. Of course, this is simply allegory for the Israelites' supplanting of the first-born civilisation, Egypt. But even those who understood the story as metaphor rather than historical fact continued to pass it on for the ethical tradition it contained: one of a people attempting to enact social justice rather than simply receive it.

Storytelling: communication and media

Since Biblical times we have been living in a world where the stories we use to describe and predict our reality have been presented as truth and mistaken for fact. These narratives, and their tellers, compete for believers in two ways: through the content of the stories and through the medium or tools through which the stories are told. The content of a story might be considered the what, where the technology through which the story is transmitted can be considered the how. In moments when new technologies of storytelling develop, the competitive value of the medium can be more influential than the value of the message.

Exclusive access to the how of storytelling lets a storyteller monopolise the what. In ancient times, people were captivated by the epic storyteller as much for his ability to remember thousands of lines of text as for the actual content of the Iliad or Odyssey. Likewise, a television program or commercial holds us in its spell as

much through the magic of broadcasting technology as its script. Whoever has power to get inside that magic box has the power to write the story we end up believing.

We don't call the stuff on television 'programming' for nothing. The people making television are not programming our TV sets or their evening schedules; they are programming us. We use the dial to select which program we are going to receive and then we submit to it. This is not so dangerous in itself; but the less understanding and control we have over exactly what is fed to us through the tube, the more vulnerable we are to the whims of our programmers.

For most of us, what goes on in the television set is magic. Before the age of VCRs and camcorders it was even more so. The creation and broadcast of a television program was a magic act. Whoever has his image in that box must be special. Back in the 1960s, Walter Cronkite used to end his newscast with the assertion: "and that's the way it is". It was his ability to appear in the magic box that gave him the tremendous authority necessary to lay claim to the absolute truth.

I have always recoiled when this rhetorical advantage is exploited by those who have the power to monopolise a medium. Consider, for example, a scene in the third Star Wars movie, Return of the Jedi. Luke and Hans Solo have landed on an alien moon and are taken prisoner by a tribe of little furry creatures called Ewoks. In an effort to win their liberation, Luke's two robots tell the Ewoks the story

of their heroes' struggle against the dark forces of the Empire. C3PO, the golden android, relates the tale while little R2D2 projects holographic images of battling spaceships. The Ewoks are dazzled by R2's special effects and engrossed in C3PO's tale: the how and the what. They are so moved by the story that they not only release their prisoners but fight a violent war on their behalf! What if the Empire's villainous protector, Darth Vader, had arrived on the alien moon first and told his side of the story, complete with his own special effects?

Television programming communicates through stories and it influences us through its seemingly magical capabilities. The programmer creates a character we like and with whom we can identify. As a series of plot developments bring that character into some kind of danger, we follow him and within us a sense of tension arises. This is what Aristotle called the rising arc of dramatic action. The

storyteller brings the character, and his audience, into as much danger as we can tolerate before inventing a solution, the rescue, allowing us all to breathe a big sigh of relief. Back in Aristotle's day, this solution was called *Deus ex machina* (God from the machine). One of the Greek gods would literally descend on a mechanism from the rafters and save the day. In an Arnold Schwarzenegger movie, the miraculous solution might take the form of a new, super-powered laser gun. In a commercial, the solution is, of course, the product being advertised.

TV commercials have honed this storytelling technique into the perfect 30-second package. A man is at work when his wife calls to tell him she's crashed the car. The boss comes in to tell him he just lost a big account, his bank statement shows he's in the red and his secretary quits. Now his head hurts. We've followed the poor guy all the way up Aristotle's arc of rising tension. We can feel the

character's pain. What can he do? He opens the top desk drawer and finds his bottle of Brand A Pain Reliever and swallows the pills. He swallows the pills while an awe-inspiring hi-tech animation demonstrates the way the pill passes through his body. He, and us, are released from our torture.

In this passive and mysterious medium, when we are brought into a state of vicarious tension, we are more likely to swallow whichever pill and accept whatever solution that the storyteller offers.

References

1. Karen Armstrong, *A History of God*, (London: Vintage, 1999)
2. *First Monday, The High-Tech Gift Economy*, Richard Barbrook., 1998.
3. Douglas Rushkoff, *Cyberia: Life in the Trenches of Hyperspace*, (Flamingo, 1994).
4. *Wired Magazine*, Jul 1997.

New Release

The World of Chemistry

By Dr. Sapna Kumari

Chemistry is the science concerned with the composition, structure, and properties of matter, as well as the changes it undergoes during chemical reactions. It is a physical science for studies of various atoms, molecules, crystals and other aggregates of matter whether in isolation or combination, which incorporates the concepts of energy and entropy in relation to the spontaneity of chemical processes. Modern chemistry evolved out of alchemy following the chemical revolution.

Social Security

Dr. Vidyapati Gautam

Social security primarily refers to a social insurance program providing social protection, or protection against socially recognized conditions, including poverty, old age, disability, unemployment and others. Social security may refer to:

- **Social insurance**, where people receive benefits or services in recognition of contributions to an insurance scheme. These services typically include provision for retirement pensions, disability insurance, survivor benefits and unemployment insurance.
- **Income maintenance**—mainly the distribution of cash in the event of interruption of employment, including retirement, disability and unemployment
- **Services** provided by administrations responsible for social security. In different countries this may include medical care, aspects of social work and even industrial relations.
- More rarely, the term is also used to refer to **basic security**, a term roughly equivalent to access to basic necessities—things such as food, clothing, shelter, education and medical care.

Social Insurance

Actuaries define social insurance as a government-sponsored insurance program that is defined by statute, serves a defined population, and is funded through premiums or taxes paid by or on behalf of participants. Participation is either compulsory or the program is heavily enough subsidized that most eligible individuals choose to participate.

In the U.S., programs that meet this definition include Social Security, Medicare, the PBGC program, the railroad retirement program and state-sponsored unemployment insurance programs.

Income Maintenance

This policy is usually applied through various programs designed to provide a population with income at times when they are unable to care for

themselves. Income maintenance is based in a combination of five main types of program:

- **Social insurance**, considered above
- **Means-tested** benefits. This is financial assistance provided for those who are unable to cover basic needs, such as food, clothing and housing, due to poverty or lack of income because of unemployment, sickness, disability, or caring for children. While assistance is often in the form of financial payments, those eligible for social welfare can usually access health and educational services free of charge. The amount of support is enough to cover basic needs and eligibility is often subject to a comprehensive and complex assessment of an applicant's social and financial situation. See also, Income Support.
- **Non-contributory** benefits. Several countries have special schemes, administered with no requirement for contributions and no means test, for people in certain categories of need—for example, veterans of armed forces, people with disabilities and very old people.
- **Discretionary** benefits. Some schemes are based on the discretion of an official, such as a social worker.
- **Universal** or categorical benefits, also known as **demogrants**. These are non-contributory benefits given for whole sections of the population without a test of means or need, such as family allowances or the public pension in New Zealand (known as New Zealand Superannuation). See also, Alaska Permanent Fund Dividend.

Social Protection

Social protection refers to a set of benefits available (or not available) from the state, market, civil society and households, or through a combination of these agencies, to the individual/households to reduce multi-dimensional deprivation. This multi-dimensional deprivation could be affecting less active poor persons (e.g. the elderly, disabled) and active poor persons (e.g. unemployed). This broad framework makes this concept more acceptable in developing countries than the concept of social security. Social

security is more applicable in the conditions, where large numbers of citizens depend on the formal economy for their livelihood. Through a defined contribution, this social security may be managed. But, in the context of wide spread informal economy, formal social security arrangements are almost absent for the vast majority of the working population. Besides, in developing countries, the state's capacity to reach the vast majority of the poor people may be limited because of its limited resources. In such a context, multiple agencies that could provide for social protection is important for policy consideration. The framework of social protection is thus capable of holding the state responsible to provide for the poorest sections by regulating non-state agencies.

Employees' Provident Fund Organisation of India

The Employees' Provident Fund Organisation (EPFO) of India is a state sponsored compulsory contributory pension and insurance scheme. It is one of the largest social security organisations in the world in terms of members and volume of financial transactions undertaken.

Mission

“Our mission is to extend the reach and the quality of publicly managed old-age income security programs through consistent and ever-improving standards of compliance and benefit delivery in a manner that wins the approval and confidence of Indians in our methods, fairness, honesty and integrity, thereby contributing to

the economic and social well-being of Indians.”

Legal Basis

Established in 1952 consequent to the enactment of the Employees' Provident Funds and Miscellaneous Provisions Act, 1952. The Organisation is administered by a Central Board of Trustees, comprising of representatives of the Government of India, provincial governments, employers and employees. The Board is chaired by the Union Labour Minister of India. The Chief Executive of the EPFO, the Central Provident Fund Commissioner, reports to the Union Labour Minister through the Permanent Secretary in the ministry. The head office of the Organisation is in New Delhi.

The Constitution of India under “Directive Principles of State Policy” provides that the State shall within the limits of its economic capacity make effective provision for securing the right to work, to education and to public assistance in cases of unemployment, old-age, sickness & disablement and undeserved want. The EPF & MP Act, 1952 was enacted by Parliament and came into force with effect from 14th March, 1952 as part of a series of legislative interventions made in this direction. Presently, the following three schemes are in operation under the Act:

1. Employees' Provident Fund Scheme, 1952
2. Employees' Deposit Linked Insurance Scheme, 1976
3. Employees' Pension Scheme, 1995 (replacing the Employees' Family Pension Scheme, 1971)

Size and Contributions

The total financial corpus managed by the EPFO is in excess of Rs. 2000 billion (\$500 billion) and there are a total of about 40 million contributing and non contributing members in about 450,000 covered establishments. Membership is compulsory for employees in establishments coming under the purview of the statute. As per provisions in force almost any establishment in India is required to have a registration with the basic criterion being employment of 20 or more persons. Contribution is at present 12% employee's share and the employer's share totalling 13.61% of the wages of the employees. Among the many benefits offered in addition to the compulsory Provident Fund (where the present rate of interest is 8.5%) are service Pension on retirement, death or disablement and a lumpsum insurance payout in case of death of the member, to his nominee/family.

Structure

The EPFO has the dual role of being the service provider to the members as well as the enforcement agency to oversee the implementation of the EPF & MP Act throughout the country. To this end the Commissioners of the Organisation are vested with vast powers under the statute conferring quasi-judicial authority for search and seizure of records, assessment of financial liability on the employer, levy of damages, attachment and auction of a defaulter's property, prosecution and arrest and detention in civil prison. Administratively, the Organisation is Organised into 4 zones at Delhi, Bombay, Calcutta

and Madras each of which is headed by an Additional Central Provident Fund Commissioner. The zones are divided into Regions headed by Regional PF Commissioners which are further sub-divided into Sub-Regions headed by junior grade Regional PF Commissioners or Assistant Commissioners. Most of the districts in the country have small district offices where an Enforcement Officer is stationed to inspect the local establishments and attend to member/ employer grievances.

The total manpower of the EPFO is at present almost 20000 including all levels. The Commissioner cadre numbering 650 are recruited directly, competitively, through the Union Public Service Commission of India as well as through promotion from lower ranks. Subordinate Officers (Enforcement Officers/Accounts Officers) are also recruited directly in addition to promotion from the staff cadre of social security assistants.

Challenges facing the Organisation

Corruption by the Enforcement officers has been a serious problem facing the organisation, since joining the scheme is compulsory and the subscription rate being high, many of the smaller companies avoid joining the scheme. The organisation, having legal powers to prosecute such companies, and make ad-hoc assessments and recover past arrears including interest and penalty, many of the field official connive with such companies for consideration. At times, less informed Companies

are threatened by such officials. However, there is some check on this malpractice, since mandatory and routine inspections are now avoided and there is lot of restriction on inspection by field staff. However, one rule/instruction for employers that helps corrupt EPF officials and scares honest employers into making illegal payments to them is that they (employers) must “enrol all categories of employees including the employees engaged by or through contractors and also piece rated, hourly rated employees”. This is interpreted differently by different people and, according to one interpretation, all people from gardeners working one hour a week, newspaper delivery boys and construction workers employed for a short time to bus drivers and conductors employed by schools and other organisations through bus contractors can come under its purview. Semi-literate, part-time workers do not want this facility as they find it difficult to get back their contribution while small-time contractors refuse to pay their part of the contribution. The duty of filling in the forms and submitting the contribution of such employees of contractors rests with the employer having 20 or more employees which makes compliance difficult and leads to underhand payments to corrupt officials of the department.

The interest rate being offered to subscribers is still very high and the investment of the corpus of fund by the organisation is not fetching such interest, resulting in drawal from Surplus. This is a major concern for Government and the Organisation. The trustees,

represented by the association of subscribers, have strong political affiliations, and do not act like professional trustees, but like interest groups to get maximum interest for those whom they represent. A Pension Scheme, introduced by the Organisation, could also face major fund problems, since the return on investment does not match the offer of pension outgo.

It would appear that the constraint of having to pay higher interest rate on deposit and higher pension as compared to return on investment could be limiting the departments interest to cover more establishments into the fold, and increase the wage ceiling of Rs 6,500 per month (around US \$163 per month) for mandatory subscription.

References

- “Social Insurance,” Actuarial Standard of Practice No. 32, Actuarial Standards Board, January 1998
- ‘Reforming European Pension Systems’ (Arun Muralidhar and Serge Allegrezza (Eds.)), Amsterdam, NL and West Lafayette, Indiana, USA: Dutch University Press, Rozenberg Publishers and Purdue University Press
- Modigliani, Franco. Rethinking pension reform / Franco Modigliani, Arun Muralidhar. Cambridge, UK ; New York : Cambridge University Press, 2004.
- Muralidhar, Arun S. Innovations in pension fund management / Arun S. Muralidhar. Stanford, Calif. ; [Great Britain] : Stanford Economics + Finance, c2001.
- ‘The Three Pillars of Wisdom? A Reader on Globalization, World Bank Pension Models and Welfare Society’ (Arno Tausch, Editor). Nova Science Hauppauge, New York, 2003

Labour Policy : Does India Face a Wage Problem?

Dr. Pushpa Raj Gautam

Introduction: Organised sector in India employs about 1/10th of total workforce to produce 2/5th of net domestic output.¹ About 2/3rd of the unorganised sector workers are in rural India, engaged mainly in agriculture. The remaining 1/3rd are employed in urban informal sector, mostly working in industry and services. Proportion of rural workforce has declined by about 10 percentage points during the last two decades or so (from about 70 per cent of total workforce). There has also been a marginal decline in the share of the organised sector. Thus, the distribution of employment in the economy is in moving in favour of the urban informal sector.

Over the last two decades, real wages in agriculture across the country have, by and large, gone up, perhaps in tune with the rising land productivity. However, the number of days of employment has probably not increased – as evident from the rise in rural unemployment rates (in the 1990s). Thus, the current levels of earnings of rural labour are far below the minimum subsistence levels of income.

Wages in urban informal sector are probably marginally higher than in rural areas – as suggested in the dual economy models – but, much lower than in the organised sector.

However, urban informal sector has better access to education and health care facilities compared to the rural sector. With improved access to electricity, transport and communication, there is a growing (input and product) market based relationships between the organised and urban informal sectors. This has led to lowering of entry barriers in many labour intensive

manufacturing and services, giving rise to some opportunities for acquisition of skills, and for limited vertical mobility.

Organised sector employment is largely for educated and skilled (white and blue collared) workers; selected by nation/region/industry/trade-wide competitive examinations. Organised sector's output comes from industry and services. Private corporate sector accounts for about a third of the organised sector output, the rest coming from public sector, predominantly from financial, public and social services. What is the central problem facing the labour policy in India? Wages are “too low” in the unorganised sector, and “too high” in the organised. Unorganised workers suffers from below subsistence level of wages, and abysmal working conditions with practically no income or social security due to unemployment and underemployment. But the organised workers are said to enjoy rising wages, improving working conditions and above all, most secure jobs anywhere in the developing world.

This tiny, yet powerful, segment is said to hold the economy to ransom by its growing economic and political clout. The alleged rigidity in this segment is widely believed to be holding up much of policy reforms to encourage greater inflow of foreign capital, and growth in export of labour intensive manufactures (as has happened in much of Asia).

Therefore, the central problem is, how to provide a minimal social and income security for the unorganised workers, and how to induce greater flexibility in the organised sector. This note will focus on the rigidity hypothesis. Rigidity in the labour market in the organised sector:

It is widely held that wages in the organised sector are not mainly determined by market conditions but by the institutional arrangement of wage settlement. Pay Commission for the central government employees decides every ten years, wages and benefits on some normative considerations. Apparently, this settlement hardly takes into account productivity, ability to pay and such other economic factors. Once the pay commission's award is decided, it is said to become the norm for wage settlements in the rest of the organised sector.

While this may be acceptable for public sector in general (which reportedly face a soft budget

constraint), it puts traded goods sector like registered manufacturing in jeopardy, where wages are said have risen disproportionately leading to substitution of capital for labour, thus hurting the growth in employment and labour intensive exports. Evidence commonly cited to support this view is that manufacturing employment stagnated in the 1980s when wages rose very rapidly (variedly between 3-6%), but employment growth was positive in the 1990s, when there was wage moderation.

The rigidity hypothesis is widely contested on factual grounds, mostly using information on registered manufacturing.

1. There is no evidence of nominal or real wage rigidity.
2. Unit wage costs have been steadily going down since around the mid-1970s. This is true of public sector manufacturing as well.
3. Evidence on the adverse effects of job security legislation on labour demand is increasingly contested.
4. No evidence that workers oppose productivity linked wage agreements. Much of wage bargaining takes place on nominal terms, with focus on absolute levels of earnings.
5. No evidence to suggest job reservation for employees' children, except (on compassionate grounds) in cases where an employee dies while working. Only jobs that are suitable for son or daughter's educational qualification are offered.

6. Decline in the strength of trade unions by all standard measures.

7. Lockouts are more wide spread than strikes over the last two decades.

8. A steady shift in manufacturing employment into smaller sized factories within the organised sector, and decline in the share of registered manufacturing and the rise in informal sector employment – thus weakening workers' bargaining power.

9. In the 1980s, the annual growth rate in wages per manday (wages/hour worked) was far less (1/per cent) than that in per capital income (3/per cent). It is hard to believe that wages rose disproportionately. Employment growth in the 1990s was driven by the investment boom rather than wage moderation, as there was no association between wage growth and employment across 16 2-digit industry groups.

10. Finally, over the last quarter century, the ratio of wages to cost of capital (wagerental ratio) has steadily declined, suggesting relative cheapening of labour vis-à-vis capital.

The above evidence, however, does not rule out problems with organised labour in specific locations and industries due to local and historical factors.

Limitation of rigidity view:

How does one reconcile the above evidence with the rigidity hypothesis? The widely held view

is largely based on what is observed of the public sector employees in central government, and in utilities and services, while the evidence is mostly with respect to the registered manufacturing. In other words, the problem seems to lie in treating the organised labour as a homogenous one. Registered manufacturing, though part of the organised sector, is perhaps governed by a different set of market and regulatory forces, compared to the government employees and the monopolized (and centralized) public services.

In manufacturing sector there has been a gradual increase in product and labour market competition. For instance, for a variety of reasons, as discussed above, employment has been over the last five decades diffusing into smaller sized factories (plants), and into urban informal sector, thus restraining the organised workers from securing a larger share of output. Similarly, growing competition in product market has restricted firms' ability to share rents with their "privileged" workers, beyond what can perhaps be justified on efficiency wage considerations. From these arguments, one is not suggesting that industrial labour market is perfectly flexible (freedom to hire and fire!). However, evidence does suggest that there seems to be reasonable flexibility to enable an employer to adjust his labour use to meet the varying and uncertain business environment. In other words, the alleged rigidities seem reasonably flexible (to paraphrase Ronald Dore's term used to describe the Japanese labour market in the 1970s).

Thus, if our reasoning is correct, then there is a need to separate out the labour policy issues in public sector from that of industry in general. Answers to the problems such as lack of sufficient dynamism in industrial sector and its modest export performance needs to be found elsewhere, and perhaps not in the labour market. How do we, then, understand the labour policy in public sector? The answer probably lies in politics, and not strictly in economics. In a closed economy with competitive politics, public sector employment was an important part of the patronage and “vote bank” politics. But as the economic conditions have changed within and outside, the pre-existing implicit arrangements of rent sharing are threatened, or broken down. In the changed circumstances, if public sector employees are asked to face competitive market conditions, while other constituents of the ruling coalition (domestic capitalist class, bureaucrats and politicians) continue to enjoy the old “privileges”, then friction is bound to arise, calling for a revision of the implicit agreement.

Need for a new compact?

In the earlier consensus, the state protected private sector, provided infrastructure and long-

term capital at subsidised rates and helped in bargaining with foreign capital to secure proprietary technology. Private sector, in turn, offered job security to its workers when skilled and urbanised workforce was in short supply. Workers were paid a wage premium and offered access to modern facilities for providing stable source of industrial labour, and a growing market for industrial goods.

In the new consensus that needs to be forged, state would have to continue to provide infrastructure and capital for private investment. In return, private capital would have to agree to protect income as that ensures workers’ learning and skill formation (which has positive externality), and strive to make full use of the skilled workforce, which is also a growing source of domestic demand. Workers, in turn, would have to agree to income security and acquisition of multiple skills that are needed in a competitive world with rapidly changing technology.

References

- Bhalotra, Sonia R (1998): “The Puzzle of Jobless Growth in Indian Manufacturing”, *Oxford Bulletin of Economics and Statistics*, Vol. 60, No. 1.

- Dutta Roy, Sudipta (2002): “Job Security Regulation and Worker Turnover: A Study of the Indian Manufacturing Sector”, *Indian Economic Review*, Vol. 37, No. 1.
- Goldar, Biswanath (2000): “Employment Growth in Organised Manufacturing in India”, *Economic and Political Weekly*, Vol. 35, No. 14, April 1.
- Ghose, Ajit K (1994): “Employment in Organised Manufacturing in India”, *Indian Journal of Labour Economics*, Vol. 37, No. 2, April-June.
- Nagaraj, R (2000): “Organised Manufacturing Employment”, *Economic and Political Weekly*, Vol. 35, No. 38, September 16.
- “Wages and Employment in Manufacturing Industries: Trends, Hypothesis and Evidence”, *Economic and Political Weekly*, Vol. 29, No. 4, January 22.
- Peter R Fallon and Robert E B Lucas (1993): ‘Job Security Regulations and the Dynamic Demand for Industrial Labour in India and Zimbabwe’, *Journal of Development Economics*, Vol. 40.

New Release

The Hero of Changing World Barack Obama

By Ravi Kant Dubey

Literary Pursuits of Mulk Raj Anand

Dr. Ruchi Malaviya

To deliver a judgment on the literary works of a literary person, is not merely to assess as how much pleasure his writings extend to his readers, rather more important is to evaluate whether his works, in totality, give an objective portrayal of the environmental milieu, in which he has written. If a literary person has stimulated the ushering process of multi-dimensional change by his direct participation in socio-economic movements, he, then, crests himself among those a few whom society never forgets at all. Among those Indian writers who optioned to write in English Mulk Raj Anand appears to be standing first in the first row of progressive writers. His earnest humanism, revolting attitude against all sorts of exploitation, unintermittent zeal to fight against casteism, communalism and untouchability, combined with his political commitment to fight for a socialist socio-economic, order, have placed him as revolutionary. On 3rd October, 1968 he wrote to G.S. Balaram Gupta "... the 21st century is to be born, We must understand each other's humanness and cultivate the arts through which we may achieve the universal basis for no war, against stupidity, malice aforethought and meanness of mind."¹ The extract is an example, *Par-excellence* to conceive the pains he has for humanity as a whole. His apprehension of a further global war aggrieved him much but he saw hopes in the new socio-economic order established in Russia after the victory of the great October revolution. He finds his concept of humanism, world without war, prosperity of all human beings etc. personified in the declaration of the Russian Socialist government. He affirms avowedly his humanism in his *Apology for Heroism* as, "I believe in man" and that "I believe that the deepest human personality, that the two should be mutually inclusive"².

Anand cognizes this world in a process of constant change, from lower to higher and simple to complex—a concept which is integral to Anand's views of art and artist role. An art and an artist both, being devoid of revolutionary roles, are devoid from society in which they live and for which they write. In his explanation to the revolutionary roles of art and artists Anand, unreservedly speaks of that when a work of art is created. Ostensibly, the artist imaginatively extracts the significant aspects of a given experience from all that he knows about it; and expresses them in certain polychromatic images track formed through the desire in his mind. In so far, then, as an art work results from the reflection in the mind of the artist of all the aspects of his experience, it is fundamentally related to life, only improving on it, or rather intensifying it through the "creative myths" so as to change life in the deeper centres of other people's experience and thus in an integral way.³

However, Anand's concept of humanism has never been an endowment of a philanthropic type assertion which seeks to ameliorate human misery, hardship and all sorts of inconveniences without altering the existing production relation, which inflicts on underdogs varied socio-economic constraints through its exploitative production relation and mechanism. Rather what Anand stands for is a continued process of change guided under the scientific concept of historical materialism. Notwithstanding that Anand owes his firmest allegiance to science, industrialization for a prosperous India, but he finds that all opportunities that could have materialized the conditions for prosperous India have been enmeshed by the colonial rulers, who have made an unholy alliance with feudalism to protect their vilest interests. Consequently, for Anand to make India prosperous what was utmost required was political freedom from the subjugatory yoke of colonialism and imperialism.

In many novels and short stories Anand has shown his allegiance to freedom movement of which he was an activist. But his concept of freedom does not confine only to the freedom from foreign rule either from direct political or neo-colonial forms but also from every manifestations-economic and socio-

religious evils like economic exploitation of labouring masses, casteism, communalism, untouchability, feudalism etc. He deals with freedom movement in many of his stories like “On the Border”, “The Interview”, “The Informers” etc. In one of his story we find the pathetic condition of the Pathan lady Karima, whose husband, an arch follower of Pathan leader Khan Abdul Gaffar Khan, has been sentenced to jail for a longer years. The British aeroplanes bombed her village, and when she comes to know about it, she, rushes hurriedly to her village, to see her child who was alone in the hut. She finds her child burnt and her cry at the loss in cry of freedom fighters; ‘Oh Allah! where are you?’

And then she stood, dazed by the fearful impenetrable curtain of fire that ridged her path, her body aching with the sting of the terrible, all pervading heat, her head wheeling with the weakness that the breathing of volumes of odorous smoke had created. She looked down at her child and saw that he was fainting.⁴ His another work ‘The Terrorist’ is a portrayal of heroic deeds of one freedom fighter, who has tamed within himself a dauntless courage. The hero Bir Singh, a man of the Punjab origin, has a firm conviction that to die for freedom does not mean the end of life.

To Mulk Raj Anand, death in action, death for such noble cause as fighting for the honour of the mother land, that was glorious death. This aspiration of Anand encouraged him to have physical participation in freedom struggle owing to which he was sent to jail.

It was this zeal for freedom that Guru Govind Singh and several other achieved martyrdom by fighting against foreign rule.⁵ Although Anand’s approaches to life and death are scientific, he does not believe in unparishability of soul and its rebirth yet he uses this Hindu religious concept to explain the brave commitments of freedom fighters who believe that to die fighting for freedom gets a greater rebirth. Mulk Raj Anand has used symbols and through them has narrated the rousing feelings among freedom fighters, viz. the red colour of the curtains in the Assembly Hall remind the blood of freedom fighters which arouses a feeling among Indians to take revenge. His gaze fell on the red plush of the curtains on the tall doors of the chambers with the hated symbol of the British Crown embroidered on them in gold. Those symbols are the colour of blood; blood when it has dried; he said with malice born with revenge, which seemed to find a morbid delight in the mysticism of blood, in the pure joy of violence, destruction and annihilation.⁶

Anand’s anti-imperialist vows have their fullest expression in his depiction of tortures given to the freedom fighters, particularly to the communists, who were confined to jail for their only fault that they were fighting to get India free from colonial Yoke. In ‘The Interview’ he refers a freedom fighter, Ajit Kumar Sen confined in Faridpur jail and says; there were some among them who were tied to slabs of ice and paralysed? Mulk Raj Anand has a deep sense of imperialist intrigue applied to break the morale of freedom fighters. In “The Informer” the protagonist

Gopal, who passes on adverse information about his comrades with whom he lives in jail, later on repents heavily on his anti-national action when associates are sentenced to 10 years servitude. He begs their forgiveness for betraying them. Anand has explained how big hearts those freedom fighters, against whom Gopal passes on adverse information, have. When Gopal requested them to forgive him they lift him hastily in their arms and say to him that there was nothing to forgive.

For Mulk Raj Anand, his fight for freedom is a two fronts fight; first being the fight against colonial rulers, who have enslaved India and are responsible for all sorts of India’s degeneration, economic political, ethical and social, and the second being his fight against internal evils like feudal relics, casteism, Communalism, unpleasant customs and rituals like untouchability etc. which, as Anand gets them are major barriers in the way of fighting colonialism out and restructuring of India as a modern state. His novel *Untouchable*, published in 1935 provides the most comprehensive outlook on the problem of untouchability. Anand can rightfully claim uniqueness for introducing “into creative narrative ... whole new peoples who have seldom entered the realm of literature in India”. He is much “conscious of the need to help raise the untouchables, the peasants, the serfs, the coolies and the other suppressed members of society, to human dignity and self-awareness.”⁸

Anand’s *Untouchable* has a political significance, as it was written in a period when

untouchables had emerged as a potent political force and Gandhi was strenuously striving to win them over for a joint venture against imperialist rule in India. Mulk Raj Anand, at that very juncture, realized the necessity of such a writing and he went to Sabarmati Ashram, lived there for a time being and drafted the novel, with the theme based on his practical experiences. The very theme, the novel *Untouchable* enshrines, could have been explained only by an Indian and specially by an Indian who observed from outside. No European, could have created the character of Bakha because he would not have known enough about the trouble. Similarly, no untouchable could have written it because he would have been involved indignation and self-pity. But Anand stands in the ideal position... he has just the right mixture of insight and detachment, and the fact that he has come to fiction through philosophy has given him depth.⁹ His own sources and experiences that enthused him to give a shape to his this novel have been expressed as : “all my novels and shorter fictions arose from a long confession of nearly two thousands pages, which I wrote from the compulsion of a morbid obsession with myself and the people who possessed me, deep in my conscience. This body-soul search in my autobiographical narratives was narrated to the young daughter of professor of philosophy, sometimes out of the verge communicate the trouble of my bad conscience, and mostly from the burning and melting inevitable to the young poets’ for

vivification. As no one would publish the enormous narrative I took sort of the characters or rather the characters compelled me to put them down, in shorter, more compact, but still formless novels.¹⁰

In *Untouchable* Bakha, the protagonist, is not merely a suppressed *Bangi* boy to whom Anand has shown sympathy and tenderness, rather he is also a recreation of a severe conflict in Anand’s mind, the conflict between the Europeanised India and his guilty conscience and the tension between the ancient caste system, its tyranny and modern egalitarian ideas, the emerging sense of equality.

In summing up, the greatest significance of Anand’s literary works lies in their sense to create an environment, free from foreign subjugation and simultaneously free from all social, economic and cultural-religious evils that bind men and society into conflicting condition. Exploitation of nation by colonial and neo-colonial mode gives birth to war, and socio-economic conflict, owing to inequality at variant levels, creates social tension. These are the evils which Anand wanted to eradicate, and for that sake, he made strenuous efforts through out his life. His physical participation in India’s struggle for freedom in the decade of 1920’s, his physical participation in the Spanish Civil War and his pains taking labour with Sazzad Zahir in the organization of Progressive Writers’ Association (PWA) in the middle of 1930’s are lessons for writers that close door writings do contribute to society but on limited scale, a true literature is that one

which has its on direct participation by the contributor in the actions for social change oriented to lead the society from lower to higher stage. Mulk Raj Anand is an ideal figure with whose credential there are attached both imagination for social literature and experience to give that literature experience based expression. This is exactly what distinguishes Anand from his other contemporary writers.

References

1. G.S. Balarama Gupta, *Mulk Raj Anand : A Study of his Fictions in Humanistic perspective*, (Bareilly, 1974), p.12.
2. Mulk Raj Anand, *Apology for Heroism*, (Bombay, 1957), pp. 88-121.
3. Ibid.
4. Mulk Raj Anand, “On the Border”, *The Barber’s Trade Union and other stories*, 1944, p. 47.
5. Mulk Raj Anand “The Terrorist”, *Ibid*, pp. 15-26.
6. *Ibid*, p. 126.
7. Mulk Raj Anand, “The Interview”, *The Barber’s Trade Union*, *op. cit*, pp. 137-39.
8. Mulk Raj Anand, *Apology for Heroism*, Bombay, 1957. Pp. 79-93.
9. E.N.Forster, “Preface”, Mulk Raj Anand, *Untouchable* Bombay, M.D. p-IV.
10. Mulk Raj Anand, “The story of my Experience with a white lie”, in *Critical Essay on In tan Writing in English* (Ed), M.K. Nayak at Dharwar, 1968, p. 17.

Lecturer, English
Department, S.S. Khanna
Girls Degree College,
Allahabad

Indian Police in the 21st Century : Need for Change

Dr. Amitabh Agrawal

An attempt has been made in this research article to briefly analyze the challenges for the Indian Police in the 21st century.

The challenges are multiplying every year in the social, economic and cultural context in fast emerging India.

The major problems include:-

- (i) IT Revolution
- (ii) A hostile Pakistan on terrorist Plank
- (iii) Rise of extremism in general
- (iv) Population explosion
- (v) Growth of the middle class

While the people in India have great expectations from the Police the Indian Police presents a very helpless image of bad policing.

A major challenge before the police since the time of Independence has been to:-

- (a) Achieve openness and transparency in its functioning
- (b) Show greater professionalism in its conduct and operations
- (c) Eschew rude and abusive behaviour
- (d) Exercise restraint in the use of force, and
- (e) Be impartial and fair in their daily conduct. This challenge is even bigger today, when egalitarian spirit of the times has sharpened the people's awareness of their rights.

Need for Organizational Reform

The insecure police leadership, busy in saving its own jobs, is mostly content with effecting cosmetic

changes without addressing the basic organizational problems, which have substantially diminished the quality of policing. Seven major ills could be Listed here and it is a major challenge for the police leadership to overcome these weaknesses:

- The police leadership is mostly concerned with short term results and ignores the long term goals. "Firefighting" continues to be the standard technique and ad-hocism is the norm. Most of the decisions at senior command levels are taken with a view to solving immediate problems.
- The internal administration in the police is weak. Matters, which can be decided by discussion across the table or through brief, purposeful meetings by senior officers on the files, remain pending for long due to red-tape. Files move at the will of the clerical staff; and few decisions are taken until the dealing clerk, superintendent, AIG, DIG and IG/Addl. DGP have recorded their notes for the benefit of the DCGP.
- There is no regular practice or mechanism of frequent review of the pace and quality of implementation of decisions. This is the main cause of neglect of personnel and administrative matters, adversely affecting the welfare of the policemen.
- There is one way communication in the police hierarchy, i.e., handing down of orders, with little interaction between the ranks. Artificial distance exists between the senior and junior officers and between officers and men. This denies senior officers access to many good suggestions which the field staff possess by virtue of their daily brush with numerous practical problems.
- The police organization is like closed clubs where new ideas are seldom discussed and innovation hardly fostered except, sometimes, by individual officers. Very few Police establishments have well stocked libraries on professional subjects. The habit of reading professional Literature is scarce among police officers. As a result, the police have been very slow in accepting bold and new concepts, techniques and technologies for performing their daily tasks. For example, computers in the

Mumbai police stations are gathering dusts (according to a news item in the Indian Express, dated August 2000, which remains unrefuted). Generally, computers with a police all over India are woefully underutilized.

- There is considerable of manpower and other resources in the police. For instance, the orderly system, where educated young policemen work as domestic help in the officers' homes, is an anachronism and causes enormous wastage of trained manpower.
- Training in the police are very weak. Police training institutions in the states, mostly headed by disgruntled and demotivated officers who only buy their time to manage a better posting, need dedicated commandants, who have good knowledge of modern methods and techniques of training. The police leadership is to be blamed; as provision of good instructors and training aids is within its administrative competence and financial capacity.

Social Responsibility of Police

Policemen largely focus on crime control and maintenance of order. Few of them appreciate that, by virtue of its pivotal role in human affairs, the police is a powerful agent for social reform and justice. That the police in modern India has been assigned a major duty to foster a civilized, disciplined; just

an equitable society is clear from the enormous range of legislation enacted by the government to eradicate social and economic evils like sexual exploitation of women, dowry deaths, gender bias, bonded and child labour, usury, casteism, untouchability and communal practices intended to insult another person's religion or **religious beliefs. Therefore, the police are duty bound to enlarge to execute the social service content of its charter of duties.**

Overpopulation

This phenomenon is severely straining the economic resources of the country and is causing widespread social dislocation. There is a flooding of rootless, unemployed people into urban centers due to depleting employment avenues in the country side; relentless urban sprawl, and growth of ghettos and slums in cities.

Rise of The Middle Class

The growing affluence of the middle class and its ostentatious consumerism are fomenting major problems for the police.

IT Revolution

The internet has reached homes and work places across international borders facilitating international operations of criminals. This has fostered cyber-crime including bank frauds, cyber gambling, pornography, cyber-stalking, corruption of digital data.

In India, however, cyber-crime is largely an unexplored frontier for the police, which is neither claimed, nor equipped; nor sensitized to deal with it. Coping with this crime is going to be a major challenge.

Fundamentalism

The upsurge of this form of religio-socio-political movement has triggered the rise of militancy and terrorism in the country. This was gruesome evidence in Punjab and has soaked Jammu and Kashmir in appalling violence and blood-shed. With Pakistan's abiding interest in grabbing Kashmir and its recent nuclear sabre/rattling. We may now identify some major reforms:

- (i) Attitudinal reforms
- (ii) Organizational Reforms
- (iii) Developing a spirit of public service
- (iv) Improving image and physical fitness
- (v) Better professional knowledge and technical skills
- (vi) Use of modern technologies and equipments.

In conclusion it could be said: If it does not shape up then exciting and new challenges will overwhelm the Indian police. The primary responsibility for police reforms lies with the police leadership in India.

References

1. Women Police in India/Om Raj Singh Vishnoi. 1999.
2. Women in Police Profession : An Empirical Case of Delhi Police/Alka Sahoo. Delhi, Academic Excellence, 2008.
3. Raj to Swaraj : Changing Contours of Police Sudhir Kumar Jha.

**Lecturer in Political Science,
College of Commerce, Magadh
University, Patna**

SEZ : A Controversy Which Still Lingers

Dr. Chandrama Singh

Abstract

The polemic started between the proponents and the opponents of SEZ, has not yet been closed and each of them still advances its arguments to justify itself. While the proponents speak of the benefits by SEZ to the economy, they seldom speak of the losses incurred on the economy in forms of unemployment, loss in production etc. caused due to acquisition of land, but its opponents examine the entire growth in forms of profit and loss. However, an objective assessment demands that the SEZ scenario be assessed on basis of the profit it extends and the losses it incurred to the economy. This paper is an attempt to explain the controversy and to assess what benefits or losses the country receives wherever a SEZ is being built.

Key words: 1. SEZ, 2. EXIM, 3. GDP.

The Controversy

A Polemic, started with the announcement by India of its SEZ policy in April, 2000, has still been lingering among common Indians and with the passes of times it has been becoming more and more severe than the past. Its adherents, generally, bring on fore their arguments that for a developing country like India, which acutely suffers from regional developmental imbalances, scarcity of capital and world level infrastructural amenities, its untapped commercial resources can best be utilized by establishing "Special Economic Zones. Today, the concept, the Special Economic Zone enshrines itself, has been manifested variously such as Free Trade Zone (FTZ), Export Processing Zones (EPZ), Free Zones (FZs), Industrial

Estates, Free Port, Urban Enterprises Zones and others. SEZ, according to its proponents, offers numerous lucrative conditions and privileges to attract foreign capital, creates employment opportunities, boosts new technology and infrastructure, which can have been of much beneficial for a developing country like India for scoring rapid economic growth. Citing the examples of various countries which have opted this course for amelioration of their pressing economic constraints the pro-SEZ elements give information that nearly 3000 SEZ have been operating today in 120 countries, which account for over 600 billion US dollar in export and about 50 million jobs^[1].

To deny the reliability of the data, cited above, will be a mistaken approach to the fact, but equally mistaken will also be the negation of the realities that the length and breadth of India a severe anti-SEZ protest movement has been unfurled which is testimony to the fact that there are endowed in its basic precept certain anti-people vows which bring the masses to oppose the establishment of SEZ. In each part of India, wherever there was made attempt to establish SEZ the protest against it received a colossal height, ultimately resulted into clashes between the protesters and police, the latter either repressed the agitation ruthlessly or retreated back after its failure to crush the masses^[2].

All these episodes, taking places in India, are evidences of the fact that there are certain embarrassing factors which compel the masses to agitate against this economic steps. In the agitationists views the economic injuries incurred on the people are greater than the benefits it extends to the masses.

Now, let us have a glance upon the concept of SEZ and its loss-profit account from the view points of national and common people's interests.

The Concept

In its real etymological sense the concept of what has been termed as "The Special Economic Zone" (SEZ) connotes a geographical area, a region that has a liberal tax and regulations environment relative to the rest of the country's economy.

India's SEZ policy has its specific connotations which came on fore in April, 2000 when its SEZ policy was announced as part of export-import (EXIM) policy of India and it was said that the policy, thus executed, can over power the shortcomings caused due to absence of world class infrastructure, unstable

fiscal regime, multiplicity of control and clearances. Notwithstanding that SEZ in India started its functioning from 1st November, 2000 under the provision of Foreign Trade Policy but a SEZ Bill appeared in the Indian Parliament much later, and a SEZ Act” as passed by the Indian Parliament in May, 2005. After having the assent of the president of India, on 23rd June, 2005 it became a full-fledged Act. The main objectives of the Act, as have been enumerated in the Act, are said to have been generation of additional economic activities, promotion of export of goods and services, enhancement of employment opportunities, development of infrastructural facilities etc. with all these objectives the SEZ Act came into force on 10th February, 2006.

The objectives, as the Act enunciated were to be achieved, for a much lucrative incentives to the investors, which pose questions to every saner mind to calculate the losses incurred to the state exchequer and the people who were thrown out of their means of livelihood due to the acquisition of land for SEZ erection programme. The SEZ Act of India has envisioned large scale private sector participation in planning, development and management of SEZ in India. A zone can either be proposed by government or private sector but the privileges, thus accrued, will make no difference at all-meaning thereby that even the proposal has been sponsored by government the participators will have to enjoy all the privileges at that condition also.

Secondly, tax incentives by the law have been provided to both,

the developers and operating units. Developers have privileges of 10 years corporate incomes tax holiday on all income derived by them from the zone, exception from custom, duty, central excise service tax, central sales tax on local taxes for all imputes for zone construction and reimbursement of central sales tax paid on purchase from domestic tariff areas. The operating unity have been graced with more lucrative privileges than the developers as in cases of operating units there have been laid down provisions for complete tax reprieve in the first five years and 50 percent in the next five years on profit from export. In addition, 50 percent taxes on export-profit of the operating units can be set aside for reinvestment. Operating units are also exempted from custom duties on their export and import, central excise on goods from the domestic tariff areas and services and central sales taxes.

SEZ can be established in any art of the country on unused land but how far the sponsorers are abide by this provision of law and how much interested the govern really is to get the provision obeyed are debatable questions. The Act provisions for 65 percent of land in the zone **to be utilized** for the purposes other than production, including housing and recreation.

The minimum land required for various type of Sezes has been decided as being different e.g. a minimum area of 1,000 hectare of land **is** required for multi-product zones but for IT and biotechnology and jewellery the minimum limit has been fixed on 10 hectare.

Obviously, the strong protest from labour against the Act is not only that it did insert within its provision to relax labour laws but much cunningly there has also been laid down in the Act that the State Governments can declare the zones as public utility which will put, to a great extent, restriction on trade union activities of labour—the most unscrupulous action on the part of government against the constitutional democratic provisions and fundamental rights to protest and agitate peacefully for redressal of legitimate grievances. No provision in the Act has been made at all to restrict lay offs by units, illegal termination of employees from their services and to implement other labour legislations which a management is supposed to obey in **production-process**^[3].

The Myth and Reality

In an internet news brochure^[4] an estimation of benefit, that India has received or has to receive, has been given whereby it has been calculated that Sezs have helped in increasing the volume of international trade in India. The estimation forecasts that it will contribute to India’s GDP by 2 per cent and 30 lakhs new jobs will be created. A huge amount of foreign investment has been made not only in export trade but also in infrastructure and commerce. It has introduced new technology in India. The value of export from the functioning of SEZ during the year 2006-07 has increased to Rs. 34,787 crores from Rs. 22,840 crores in 2005-06. The brochure makes a remark : The overwhelming response to the SEZ scheme is evident from the flow of investment and creation of

additional employment in the country. This has tremendous responses from Indians and foreign investors for establishing Sez^[5].

Now, let us examine the validity of the facts, cited above, by the explanation of certain instances of SEZ. In 2007 the Andhra Pradesh government, by its notification, made a declaration for acquisition of 2000 acres of land for Kakinara Sez, project. The total villages affected were 15. Nearly 75 percent of land was acquired by the government. In the radius of 8 kms. the land was cultivated by peasants for paddy and sugarcane cropping bounded by coconut trees. The acquisition was done by flouting the Sez Act which provisions to take 'unused land'^[6]. From 'amongst all the fifteen villages a single village, Shrirampuram was inhabited by 3000 people, mostly peasants and small artisans who were fully thrown out of their livelihood without providing them any alternatives. The compensation, fixed to be paid to land holders' was eight times lesser than market rate. When the villagers collectively opposed this unjust action of government nearly 1,200 police forces and revenue officials came to the villages to compel the peasants to vacate land. But the agitation was so powerful that the officials and police forces were compelled to retreat back. The same incident was repeated in Navi Mumbai and Greater Noida. Those who speak of heavy response to SEZ never pay any heed to people's opposition everywhere where SEZ is established.

What about employment opportunities of which much

loudly is spoken by pro-SEZ element? The export oriented industries, which are established in SEZ, are, generally, of electronic, IT software and vaccines made of biotechnology etc. which, generally, demand a few number of skilled and technical personnel's. Its example is Pant Nagar Tata Truck Plant expanded in 1000 acre land, and employing a few number of skilled persons and the rest, who are unskilled and engaged in packing, sanitation works etc. work as contractual labours and earn less than Rs. 75 per day, without having any security of labour laws. In Tamil Nadu the industries erected on the cost of thousand crores employ only 18,000 workers and the rest one lakh and 15, thousand labours work under contractors^[7]. This is the general employment scenario in SEZ scheme. But those who speak of employment generation through SEZ never count unemployment created by the acquisition of land, the peasants, agricultural labourers and village artisans whose employment was tagged with the acquired land and, now, they have been thrown out of their employment.

Another aspect of the question is to have a comparison between the addition by SEZ to GDP and losses incurred to government exchequer due to tax incentives to units working under SEZs. The National Institute of Public Finance and Policy, New Delhi, has calculated the benefits and losses occurring to India and infers that fiscal cost can be particularly burdensome for India, with general government expenditure in the range of 27.5 per cent of GDP and deficits of about 6.5 percent of GDP^[8]. The

opinions are that if new investments are stimulated they may result in revenue gains. If, however, they result in already planned investment making to SEZs there would be a potential loss of tax revenue that would have been paid if those investments had outside the SEZs as originally, planned. In the estimation, done by the National Institute for Public Finance and Policy, New Delhi, the potential foregone revenue from corporate income tax alone would be Rs. 41 billion per year or about 0.7 per cent of 2004-05 GDP. In addition, the estimation has calculated Rs. 92 billion or about 0.3 per cent of 2004-05 GDP in one time revenue losses from excise and custom exemption for SEZ construction.

In a survey of developing countries, of which India is also a component, there has been found that tax incentives usually, leads to large revenue losses and small gains in investment^[9]. The arch adherents of globalization, who are adamant to sell the entire public sector units to corporate sector, in fact, are much desirous to create in India a political system of plutocracy under which all economic and political benefits would be enjoyed by a microscopic minority who are at the cresting height of the economy. These pro-imperialist forces do not care that such incentives can lead to a diversion of investment, by which already planned investment is dislocated by SEZ creation^[10]. Such tax treatment creates leakages and incentives for transfer pricing and efforts to limit such leakages may complicate the over all tax system.¹¹

Even in developed countries general tax holidays are, generally,

rare and those tax incentives which produce a positive impacts on investment are well targeted. But India does not make any distinction between these two types of investment and allows every establishment in SEZ to have a general tax holiday.

The Indian Experiences

Under the SEZ Act of India no provision has been laid down to protect the interest of peasants rather what all have been laid down are full freedoms to the companies to invest foreign capital without any control on it of RBI, no restriction would be upon 500 million loans from foreign banks and no restriction would be upon drainage out of profit earned on foreign capital. This benefit these companies will have on small and medium industries too. In the name of export of domestically produced goods and national and international trade what all has been provided is a system to contract, which brings perennially the worst effect on our domestic industries.

Highly non-conceivable is the fact that there is nearly 68 million hectare of barren and fallow land available in India but the Sez building is not optioned to those lands, and cultivable land of peasants is being acquired. In most of the cases SEZs have been built up on those lands which are fertile, nearer to towns and have amenities for water, roads and other infrastructure.

Its proponents cite the report of the Indian Ministry of Commerce and Industries which has boasted that export from SEZs grew by 52 percent between 2005-

06 and 2006-07 raising their shares in total goods export from 4 per cent to 6 per cent. The Ministry also claims that in future the export would further increase by 200 percent in 2007-08, reacting approximately 11 percent of total export in goods. However, its objective assessment can only be made under counterfactual comparison e.g. what would have happened in absence of SEZ. Factually, such questions are difficult to be answered. Still there are certain facts which require to be kept in mind when the cost benefit, analysis of SEZ is done. In an extreme case, where the new production in SEZ is either a diversion of existing production or an expansion of business that would have taken place any way without SEZ incentives, the net benefit of the SEZs scheme would be zero. The only effect of such allowance to SEZs would be transfer of income from govern to private corporate sector. This is what exactly has been happening in India.

In India SEZs, infect, are official tools to grab land from peasants for making money. The protest again SEZ in Nandigram and Singur created a political turmoil and similar protests were seen from millions of people from the states of Haryana, Orissa, Maharashtra and other places for not allowing the government to acquire land for SEZs. Large scale protest against displacement of peasants from their land, the main source of their subsistence, has been supported by many politicians, political parties, NGOs and social workers, but by flouting the protest government of India

has been inclined to serve the narrow interests of corporate sector without having any care whether it will add to the poverty of masses. To protect the interests of the broader masses of India, the peasants, agricultural labourers and numerous self-help groups of artisans and craftsmen, who conduct their business on agro-based commodities, the efforts of government to establish SEZs must be defeated. To defeat this joint endeavour of government and corporate sector is to protect Indian agricultural sector against complete ruin.

References

1. Kishore Rao, "Special Economic Zones: Global Experience, and best practices", paper presented at Economic Zones : Learning from Global Experience, Available on [http://www.fiasnet/ifcext/bias.nsf/content/FIAS.Resources-conferences-Ecozones India, 29 April \(2008\).](http://www.fiasnet/ifcext/bias.nsf/content/FIAS.Resources-conferences-Ecozones India, 29 April (2008).)
2. Examples of such clashes between police and anti-sez protestors are many but the examples of Kakinara in Madhya Pradesh, Greater Noida, Navi Mumbai, Singur etc. are the unique examples of protest against Sez.
3. SEZ Act of India, 23rd June, 2005 can be consulted for greater details.
4. Internet News brochure SEZs-Politics vis-a-vis Economics.
5. Ibid.
6. SEZ Act, op.cit.
7. Hindu, 22 August, 2008.
8. 2006-07 budget
9. Anwar Shah (ed.), Fiscal Incentive for Investment and innovation, (New York, Oxford University Press, 1995).
10. Robert Halvorsen, "Fiscal Incentives for investment in Thailand". In Anwar Shah (ed.) op.cit., (1995).
11. Tseng Wanda and Harm Zebregs", Foreign Direct Investment in China, some Lessons for other countries" IMI Policy discussion paper, 02/3, (2002).

**Professor & Dean, Faculty
of Commerce, Patna
University, Patna**

Child Development Theory

Rita Kumari

Child development refers to the biological and psychological changes that occur in human beings between birth and the end of adolescence, as the individual progresses from dependency to increasing autonomy. Because these developmental changes may be strongly influenced by genetic factors and events during prenatal life, genetics and prenatal development are usually included as part of the study of child development. Related terms include “developmental psychology”, referring to development throughout the lifespan and “pediatrics”, the branch of medicine relating to the care of children. Developmental change may occur as a result of genetically-controlled processes known as maturation, or as a result of environmental factors and learning, but most commonly involves an interaction between the two.

Age-related development terms are: newborn (ages 0–1 month); infant (ages 1 month – 1 year); toddler (ages 1–3 years); preschooler (ages 4–6 years); school-aged child (ages 6–13 years); adolescent (ages 13–20).^[1] However, organizations like Zero to Three and the World Association for Infant Mental Health use the term infant as a broad category, including children from birth to age 3, a logical decision considering that the Latin derivation of the word infant refers to those who have no speech, The optimal development of children is considered vital to society and so it is important to understand the social, cognitive, emotional, and educational development of children. Increased research and interest in this field has resulted in new theories and strategies, with specific regard to practice that promotes development within the school system. In addition there are also some theories that seek to describe a sequence of states that comprise child development.

Theories

Ecological Systems Theory

Also called “Development in Context” or “Human Ecology” theory, Ecological Systems Theory, originally formulated by Urie Bronfenbrenner specifies four types of nested environmental systems, with bi-directional influences within and between the systems. The four systems are Microsystem, Mesosystem, Exosystem, and Macrosystem. Each system contains roles, norms and rules that can powerfully shape development. Since its publication in 1979, Bronfenbrenner’s major statement of this theory, *The Ecology of Human Development* ^[2] has had widespread influence on the way psychologists and others approach the study of human beings and their environments. As a result of this influential conceptualization of development, these environments — from the family to economic and political structures — have come to be viewed as part of the life course from childhood through adulthood.^[3]

Piaget

Piaget was a French speaking Swiss theorist who posited that children learn through actively constructing knowledge through hands-on experience.^[4] He suggested that the adult’s role in helping the child learn was to provide appropriate materials for the child to interact and construct. He would use Socratic questioning to get the children to reflect on what they were doing. He would try to get them to see contradictions in their explanations. He also developed stages of development. His approach can be seen in how the curriculum is sequenced in schools, and in the pedagogy of preschool centers across the United States.

Vygotsky

Vygotsky was a theorist whose ideas emerged in the last few decades from behind what was known as the Iron Curtain, in the former Soviet Union. He posited that children learn through hands-on experience, as Piaget suggested. However, unlike Piaget, he claimed that timely and sensitive intervention by adults when a child is on the edge of learning a new task (called the Zone of Proximal Development) could help children learn new tasks. This technique is called “scaffolding,” because it builds upon knowledge children already have with new knowledge that adults

can help the child learn.^[5] An example of this might be when a parent “helps” an infant clap or roll his hands to the pat-a-cake rhyme, until he can clap and roll his hands himself.^{[6][7]}

Vygotsky was strongly focused on the role of culture in determining the child’s pattern of development.^[5] He argued that “Every function in the child’s cultural development appears twice: first, on the social level, and later, on the individual level; first, between people (interpsychological) and then inside the child (intrapsychological). This applies equally to voluntary attention, to logical memory, and to the formation of concepts. All the higher functions originate as actual relationships between individuals.”^[5]

Many theorists posit stage theories, but Vygotsky did not support stages at all, asserting instead that development was a process.^[7]

Attachment Theory

Attachment theory, originating in the work of John Bowlby and developed by Mary Ainsworth, is a psychological, evolutionary and ethological theory that provides a descriptive and explanatory framework for understanding interpersonal relationships between human beings. Attachment theorists consider the human infant to have a need for a secure relationship with adult caregivers, without which normal social and emotional development will not occur.

Erik Erikson

theories to create what is known as the “psychosocial” stages

of human development, which span from birth to death, and focuses on “tasks” at each stage that must be accomplished to successfully navigate life’s challenges.^[4]

Other Theories

John B. Watson’s behaviorism theory forms the foundation of the behavioural model of development.^[8] He wrote extensively on child development and conducted research (see Little Albert experiment). Watson was instrumental in the modification of William James’ stream of consciousness approach to construct a stream of behaviour theory.^[9] Watson also helped bring a natural science perspective to child psychology by introducing objective research methods based on observable and measurable behaviour. Following Watson’s lead, B.F. Skinner further extended this model to cover operant conditioning and verbal behaviour.

In accordance with his view of a basic human motivation being the sexual drive, Sigmund Freud developed a psychosexual theory of human development from infancy onward, divided into five stages. Each stage centred around the gratification of the libido within a particular area, or erogenous zone, of the body. He also argued that as humans develop, they become fixated on different and specific objects through their stages of development. Each stage contains conflict which requires resolution to enable the child to develop.^[10]

The use of dynamical systems theory as a framework for the consideration of development

began in the early 1990s and has continued into the present century.^[11] Dynamic systems theory stresses nonlinear connections (e.g., between earlier and later social assertiveness) and the capacity of a system to reorganize as a phase shift that is stage-like in nature. Another useful concept for developmentalists is the attractor state, a condition (such as teething or stranger anxiety) that helps to determine apparently unrelated behaviours as well as related ones. Dynamic systems theory has been applied extensively to the study of motor development; the theory also has strong associations with some of Bowlby’s views about attachment systems. Dynamic systems theory also relates to the concept of the transactional process,^[12] a mutually interactive process in which children and parents simultaneously influence each other, producing developmental change in both over time.

The Core Knowledge Perspective is an evolutionary theory in child development that proposes “infants begin life with innate, special-purpose knowledge systems referred to as core domains of thought”^[13] There are five core domains of thought, each of which is crucial for survival, which simultaneously prepare us to develop key aspects of early cognition; they are: physical, numerical, linguistic, psychological, and biological.

References

1. Kail RE (2006). *Children and Their Development* (4 ed.). Prentice Hall.

2. Bronfenbrenner, U. (1979). *The Ecology of Human Development: Experiments by Nature and Design*. Cambridge, MA: Harvard University Press.
3. Smith PK, Cowie H and Blades M. *Understanding Children's Development*. Basic psychology (4 ed.). Oxford, England: Blackwell.
4. Wood SE, Wood CE and Boyd D (2006). *Mastering the world of psychology* (2 ed.). Allyn & Bacon.
5. *Mind in Society: The development of higher psychological processes* (Translation by Michael Cole). Cambridge, MA: Harvard University Press. 1978 (Published originally in Russian in 1930).
6. *Thought and Language*. Cambridge, MA: MIT Press. 1962.
7. *Cultural, Communication, and Cognition: Vygotskian Perspectives*. Cambridge University Press. 1985.
8. Watson, J.B. (1926). What the nursery has to say about instincts. In C. Murchison (Eds.) *Psychologies of 1925*. Worcester, MA: Clark University Press.
9. White, S.H. (1968). The learning maturation controversy: Hall to Hull. *Merrill-Palmer Quarterly*, 14, 187-196.
10. Lemma A (2007), "Psychodynamic Therapy: The Freudian Approach", in Dryden W, *Handbook of Individual Therapy* (5 ed.), Sage publications
11. Aslin, R. (1993). "Commentary: The Strange Attractiveness of Dynamic Systems to Development." In L. Smith, E. Thelen (Eds.), *A Dynamic Systems Approach: Applications*. Cambridge, MA: MIT Press.
12. Sameroff, A. (1983). "Factors in predicting successful parenting." In Sasserath, V. (Ed.), *Minimizing High-Risk Parenting*. Skilman, NJ: Johnson & Johnson.
13. Berk, Laura E. (2009). *Child Development*. 8th ed. United States of America: Pearson Education, Inc.

New Release

Right to Information Law and Practice

By Upendra Kumar Singh

In recent years, there has been an almost unstoppable global trend towards recognition of the right to information by countries, intergovernmental organisations, civil society and the people. The right to information has been recognised as a fundamental human right, which upholds the inherent dignity of all human beings. The right to information forms the crucial underpinning of participatory democracy-it is essential to ensure accountability and good governance. The greater the access of the citizen to information, the greater the responsiveness of government to community needs. Alternatively, the greater the restrictions that are placed on access, the greater the feelings of 'powerlessness' and 'alienation'. Without information, people cannot adequately exercise their rights as citizens or make informed choices.